दृष्टि का विषय

(वस्तु–व्यवस्था सहित)

**जो जीव, राग–द्वेषरूप परिणमा होने पर भी,
मात्र शुद्धात्मा में (द्रव्यात्मा में=स्वभाव में) ही
'मैंपना' (एकत्व) करता है और उसका ही
अनुभव करता है, वही जीव सम्यग्दृष्टि है
अर्थात् यही सम्यग्दर्शन की विधि है।**

लेखक – **C.A. जयेश मोहनलाल शेठ**
(बोरीवली) B.Com., F.C.A.

दृष्टि का विषय

(वस्तु–व्यवस्था सहित)

– अर्पण –
– उपकारी बन्धुओं को –
श्री नेमिषभाई शान्तिलाल शाह और श्री हितेनभाई अनन्तराय शेठ को,
पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी का साहित्य और दिगम्बर ग्रन्थ उपलब्ध कराने के उपलक्ष में
तथा हमारे सर्व कार्यों में सर्व प्रकार से सहायता करनेवाले श्री रश्मिनभाई मोहनलाल शेठ
को

> ‘‘जो जीव राग–द्वेषरूप परिणमित हुआ होने पर भी मात्र शुद्धात्मा में ही
> (द्रव्यात्मा में ही=स्वभाव में ही) ‘मैंपना’ (एकत्व) करता है और
> उसका ही अनुभव करता है, वही जीव सम्यग्दृष्टि है
> अर्थात् यही सम्यग्दर्शन की विधि है।’’

– लेखक –
सी.ए. जयेश मोहनलाल शेठ (बोरीवली),
बी.काम., एफ.सी.ए.

प्रकाशक : शैलेश पूनमचन्द शाह

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ
*	प्रस्तावना (पं. देवेन्द्रकुमारजी जैन)	V
१	लेखक के हृदयोद्गार	१
२	पूर्वभूमिका	५
३	सम्यग्दर्शन	८
४	द्रव्य-गुण व्यवस्था	१०
५	द्रव्य-पर्याय व्यवस्था	१४
६	उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप व्यवस्था	१७
७	दृष्टि भेद से भेद	१८
८	पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध की वस्तुव्यवस्था दर्शाती गाथाएँ	२०
९	सम्यग्दर्शन का स्वरूप	४९
१०	सम्यग्दर्शन का विषय अर्थात् दृष्टि का विषय	५३
११	दृष्टि का विषय दर्शाती गाथाएँ	५६
१२	आत्मज्ञानरूप स्वात्मानुभूति परोक्ष या प्रत्यक्ष	६१
१३	स्वात्मानुभूति आत्मा के किस प्रदेश में?	६२
१४	इन्द्रियज्ञान ज्ञान नहीं?	६३
१५	पर्याय परमपारिणामिकभाव की ही बनी हुई है	६६
१६	स्वभावपर्याय और विभावपर्याय	७०
१७	नव तत्त्व की सच्ची श्रद्धा का स्वरूप	७१
१८	सम्यग्दर्शन का लक्षण	७६
१९	सम्यग्दृष्टि को भोग बन्ध का कारण नहीं	७८
२०	निमित्त-उपादान की स्पष्टता	८०
२१	उपयोग और लब्धिरूप सम्यग्दर्शन	८१
२२	स्वानुभूति रहित श्रद्धा	८२
२३	सम्यग्दृष्टि जीव का निर्विचिकित्सा गुण	८४
२४	सम्यग्दर्शन के लिये योग्यता	८५
२५	शुभोपयोग निर्जरा का कारण नहीं	८६
२६	सम्यग्दर्शन बिना द्रव्य चारित्र	८८
२७	स्वपर विषय का उपयोग करनेवाला भी आत्मज्ञानी होता है	८९
२८	प्रवचनसार-अनुसार सम्यग्दर्शन का विषय	९१

२९ नियमसार–अनुसार सम्यग्दर्शन का विषय ९३
३० ध्यान के विषय में... ... ... ९६
३१ साधक को सलाह... ... ... ९९
३२ नियमसार के अनुसार सम्यग्दर्शन और ध्यान का विषय... ... ... १०५
३३ पंचास्तिकाय संग्रह की गाथायें १२५
३४ अष्टपाहुड़ की गाथायें १२६
३५ सम्यग्दर्शन और मोक्षमार्ग १२९
३६ समयसार अनुसार सम्यग्दर्शन का विषय १३१
३७ समयसार के अधिकारों का विहंगावलोकन १५०
३८ समयसार के परिशिष्ट में से अनेकान्त का स्वरूप १६७
३९ बारह भावना १७३
४० नित्य चिन्तन कणिकाएँ १७५
४१ रात्रि भोजन के सम्बन्ध में १८२
४२ समाधिमरण चिन्तन १८३

© CA. **जयेश मोहनलाल शेठ** **मूल्य : अमूल्य**

पहली आवृत्ति – गुजराती, वि.स. २०७० (फरवरी २०१४) **प्रति** : १,०००
दुसरी आवृत्ति – गुजराती, वि.स. २०७१ (मे २०१५) **प्रति** : ३,०००
तृतीय आवृत्ति – गुजराती, वि.स. २०७१ (मे २०१५) **प्रति** : २,०००
पहली आवृत्ति – हिन्दी, वि.स. २०७१ (मे २०१५) **प्रति** : ५,०००
दुसरी आवृत्ति – हिन्दी, वि.स. २०७१ (मे २०१५) **प्रति** : २,०००
तृतीय आवृत्ति – हिन्दी, वि.स. २०७१ (जून २०१५) **प्रति** : ५,०००
चतुर्थ आवृत्ति – हिन्दी, वि.स. २०७१ (जून २०१५) **प्रति** : ५,०००
पंचम आवृत्ति – हिन्दी, वि.स. २०७१ (अगस्त २०१५) **प्रति** : २,०००

सम्पर्क और प्राप्तिस्थान

शैलेष पूनमचन्द शाह – 402, पारिजात, स्वामी समर्थ मार्ग, (हनुमान क्रॉस रोड 2),
छत्रपति शिवाजी स्कूल के सामने, विले पार्ले (ईस्ट), मुम्बई–400057। email : spshah1959@gmail.com
फोन : 26133048, मोबा.: 9892436799 / 7303281334
जयकला नलिन गाँधी – सी–502, एडवेंट नील रेसीडेंसी
पूर्ण प्रज्ञा हाईस्कूल के पीछे, भरुचा रोड, भाटलादेवी मन्दिर के सामने, दहिसर (ईस्ट) मुम्बई–400068
फोन : 28952530, मोबा.: 9833677447/9821952530

टाईप सैटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़।
मुद्रक : **आनन्द लिमये,** इण्डिया प्रिंटिंग वर्क्स, वडाला, मुम्बई–400031। email : anandlimaye55@gmail.com

– अनुमोदक –

जयकला नलिन गाँधी परिवार

प्रस्तावना

इस अनादि संसार में अनन्त जीव निज आत्मस्वरूप की पहिचान एवं अनुभूति के अभाव में अनादि से जन्म-मरण करते हुए अनन्त दु:खी हो रहे हैं। जीवों के अनन्त दु:खों का एकमात्र कारण परद्रव्यों एवं परभावों में एकत्वबुद्धिरूप मिथ्यात्व भाव ही है। इसी तथ्य को आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने इस शब्दों में व्यक्त किया है—

'इस भवतरु का मूल इक जानहू मिथ्याभाव'

(मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७, मंगलाचरण)

अनादिकालीन इस विपरीतमान्यतारूप मिथ्यात्वभाव की पुष्टि कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र के निमित्त से होती है और जीव अपनी विपरीतमान्यता को अत्यन्त दृढ़ कर लेता है। इस कारण संसार-परिभ्रमण के अभाव के मार्ग से अत्यन्त दूर हो जाता है। यह मिथ्यात्व ही है जिसके कारण जीव निगोद जैसी हीनतम दशा को प्राप्त होकर अत्यन्त दु:खी होता है। यही कारण है कि सम्पूर्ण जिनागम में मिथ्यात्व—मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र को एक स्वर में पाप संज्ञा दी गयी है। करणानुयोग में तो मिथ्यादृष्टि जीव को 'पापजीव' कहकर सम्बोधित किया गया है।

इस मिथ्यादर्शनरूप परिणाम के रहते हुए कदाचित् यह जीव नौवें ग्रैवेयक जानेयोग्य महाशुभपरिणाम भी कर ले, तो भी संसार-परिभ्रमण का अभाव नहीं होता और न अनन्त कष्टों का ही अन्त होता है। इसीलिए कहा है कि—

मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायौ
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायौ। *(छहढाला, चौथी ढाल)*

पण्डित टोडरमलजी ने तो अपनी लोकप्रिय कृति मोक्षमार्गप्रकाशक में मिथ्यात्व को सप्त व्यसनादि से बड़ा पाप कहा है। उनका कथन इस प्रकार है—

'जिनधर्म में यह तो आम्नाय है कि पहले बड़ा पाप छुड़ाकर फिर छोटा पाप छुड़ाया है; इसलिए इस मिथ्यात्व को सप्त व्यसनादिक से बड़ा पाप जानकर पहले छुड़ाया है। इसलिए जो पाप के फल से डरते हैं; अपने आत्मा को दु:खसमुद्र में नहीं डुबाना चाहते, वे जीव इस मिथ्यात्व को अवश्य छोड़ो।' *(छठवाँ अध्याय)*

इसका कारण यह है कि सप्त व्यसनरूप पाप चारित्रिक पाप है, जिसके फल में सातवें नरक तक की स्थिति तो हो सकती है, किन्तु सम्यग्दर्शन के लिये अनिवार्य योग्यतारूप संज्ञी पञ्चेन्द्रियपना इत्यादि का अभाव नहीं होता; अत: कोई-कोई जीव सप्तम नरक की भीषण प्रतिकूलता में भी स्वरूपलक्ष्य करके सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेते हैं। जबकि मिथ्यादर्शन के फलस्वरूप प्राप्त निगोददशा में तो वह योग्यता दीर्घकाल तक अभावरूप हो जाती है।

दूसरा कारण यह भी है कि हिंसादि या सप्त व्यसनादि पाप धारावाहीरूप से कोई जीव नहीं कर सकता; साथ ही उस पापी जीव को यदाकदा अपने दुष्कृत्य का पश्चाताप भी होता रहता है एवं ऐसे पापी को जगत के जीव भी हेयदृष्टि से देखते हैं। जबकि मिथ्यादर्शनादिरूप महापाप परिणाम धारावाहीरूप से प्रवर्तमान रहते हैं; इन पापों की विद्यमानता रहने पर भी, बाह्य व्रत, तपादि करके वह जीव स्वयं को तो धर्मात्मा मानता ही है; जगत में अन्य जीव भी उसे धर्मात्मा की संज्ञा से सम्बोधन करते हैं, फलस्वरूप उसे 'मैं कोई पाप कर रहा हूँ' यह विचार ही उसे उद्भवित नहीं होता।

यही कारण है कि वीतरागी परमात्मा की दिव्यध्वनि से लेकर समस्त भावलिंगी सन्तों एवं ज्ञानी-धर्मात्माओं की परम्परा में सर्व प्रथम मिथ्यादर्शन का अभाव करके सम्यग्दर्शन अंगीकार करने का उपदेश निष्कारण करुणा से प्रवाहित हुआ है।

सम्यग्दर्शन की उत्कृष्टता का वर्णन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने अष्टपाहुड़ में **दंसण मूलो धम्मो** (दर्शनपाहुड, गाथा-२) कहकर सम्यग्दर्शन को धर्म का मूल कहा है। इसी प्रकार **रत्नकरण्ड श्रावकाचार गाथा ३१** में कहा है कि—

दर्शनं ज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते।।३१।।

अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा अधिक है; इस कारण सम्यग्दर्शन, मोक्षमार्ग में कर्णधार कहलाता है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि—

जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परवड्ढी।
तह जिणदंसणभट्ठा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति।।१०।।

जिस प्रकार बीज के बिना वृक्ष की उत्पत्ति स्थिति, वृद्धि और फलोत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार सम्यक्त्व के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति स्थिति, वृद्धि और फलोत्पत्ति नहीं हो सकती।

आचार्य योगीन्द्र देव ने भी कहा है कि—

दंसणभूमिह बाहिरा जिय वयरुक्ख ण होंति।

अर्थात् हे जीव! इस सम्यग्दर्शन भूमि के बिना व्रतरूप वृक्ष नहीं होता। इसलिए प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिए। *(योगीन्द्रदेव कृत श्रावकाचार)*

सम्यग्दर्शन की उत्कृष्टता का वर्णन करते हुए आचार्य समन्तभद्रदेव तो मोही मुनि से निर्मोही गृहस्थ को भी श्रेष्ठ कहते हैं। उनका यह कथन इस प्रकार है—

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः।।३३।। *(रत्नकरण्ड श्रावकाचार)*

अर्थात् दर्शनमोहरहित गृहस्थ मोक्षमार्ग में स्थित है किन्तु दर्शनमोहसहित मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि, मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है। इसीलिए मिथ्यादृष्टि मुनि की अपेक्षा मिथ्यात्वरहित गृहस्थ श्रेष्ठ है।

आचार्यदेव तो यहा तक कहते हैं कि —

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्।।३४।। *(रत्नकरण्ड श्रावकाचार)*

अर्थात् तीन काल और तीन लोक में देहधारी जीवों को सम्यक्त्व के समान कोई अन्य श्रेष्ठरूप-उपकारक नहीं है और मिथ्यात्व के समान अन्य कोई अकल्याणकार-अनुपकारक नहीं है।

इसी प्रकार का भाव पण्डित दौलतरामजी ने अपनी सुविख्यात कृति **छहढाला** में व्यक्त किया है —

मोक्षमहल की परथम सीढी, या बिन ज्ञान चरित्रा।
सम्यक्ता न लहै, सो दर्शन धारो भव्य पवित्रा।। (ढाल ३-१७)

तीन लोक तिहुंकाल मांहि नहिं, दर्शन सौ सुखकारी।
सकल धरम को मूल यही, इस बिन करनी दुखकारी।। (३-१६)

सम्यग्दर्शन की महत्ता बतलाते हुए आचार्य कुन्दकुन्ददेव तो यहाँ तक कहते हैं कि —

किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले।
सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं।।८८।।

ते धण्णा सुकयत्था ते सुरा ते वि पंडिया मणुया।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं।।८९।। **(मोक्षपाहुड़)**

अर्थात् आचार्य कहते हैं कि बहुत कहने से क्या साध्य है? जो नरप्रधान अतीत काल में सिद्ध हुए हैं और आगामी काल में सिद्ध होंगे वह सम्यक्त्व का माहात्म्य जानो।

जिन पुरुषों ने मुक्ति को करनेवाले सम्यक्त्व को स्वप्नावस्था में भी मलिन नहीं किया, अतीचार नहीं लगाया वे पुरुष धन्य हैं, वे ही मनुष्य हैं, वे ही भले कृतार्थ हैं, वे ही शूरवीर हैं, वे ही पंडित है।

मुक्तिमार्ग में सम्यग्दर्शन की महत्वपूर्ण भूमिका की चर्चा करते हुए आत्महित-अभिलाषी जीवों को सर्व प्रथम इसे अंगीकार करने के उपदेश भी जिनागम में यत्र-तत्र देखे जा सकते हैं। आचार्य अमृतचन्द्रदेव **पुरुषार्थसिद्धि उपाय** में कहते हैं कि —

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च।।२१।।

अर्थात् इन तीनों में प्रथम समस्त प्रकार सावधानतापूर्वक यत्न से सम्यग्दर्शन को भले प्रकार अंगीकार करना चाहिए क्योंकि उसके होने पर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है।

इस गाथा की टीका करते हुए आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी तो यहाँ तक कहते हैं कि—

तत्र आदौ अखिलयत्नेन सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयम्। इन तीनों में प्रथम ही समस्त उपायों से, जिस प्रकार भी बन सके वैसे, सम्यग्दर्शन अंगीकार करना चाहिए। इसके प्राप्त होने पर अवश्य ही मोक्षपद प्राप्त होता है। और इसके बिना सर्वथा मोक्ष नहीं होता। यह स्वरूप की प्राप्ति का अद्वितीय कारण है। अत: इसके अंगीकार करने में किंचित् मात्र भी प्रमाद नहीं करना। **मृत्यु का वरण करके भी इसे प्राप्त करने का प्रयत्न अवश्य करना। बहुत कहाँ तक कहें? इस जीव के भला होने का उपाय सम्यग्दर्शन समान अन्य कोई नहीं। इसलिए उसे अवश्य अंगीकार करना।**

सम्यग्दर्शन के बिना संयम की उत्पत्ति ही सम्भव नहीं है-इस अभिप्राय का पोषक, धवला टीकाकार आचार्य वीरसेनस्वामी का निम्न अभिप्राय माननीय है—

मिथ्यादृष्टयोऽपि केचित्संयता दृश्यन्त इति चेन्न, सम्यक्त्वमन्तरेण संयमानुपपत्ते:।

शंका–कितने ही मिथ्यादृष्टि जीव संयत देखे जाते हैं?

समाधान–नहीं, क्योंकि, सम्यग्दर्शन के बिना संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

(षट्खण्डागम पुस्तक-१, खण्ड-१, भाग-१, पृष्ठ ३८०)

सम्यग्दर्शन से रहित जीव भले ही व्रत-तप से संयुक्त हो तथापि वह पापी है; इस प्रकार का निम्न उल्लेख भी द्रष्टव्य है—

... व्रत समिति का पालन भले ही करे, तथापि स्व-पर का ज्ञान न होने से वह पापी ही है.... सिद्धान्त में मिथ्यात्व को ही पाप कहा है, जब तक मिथ्यात्व रहता है तब तक शुभाशुभ सर्व क्रियाओं को अध्यात्म में परमार्थत: पाप ही कहा जाता है। *(समयसार कलश १३७ का भावार्थ)*

सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में आचार्य सकलकीर्ति द्वारा रचित **प्रश्नोत्तर श्रावकाचार** के निम्न कथन भी मननीय है—

❖ व्रत-चारित्ररहित तथा विशेष ज्ञानरहित अकेला सम्यक्त्व भी अच्छा है-प्रशंसनीय है, परन्तु मिथ्यात्वरूपी जहर से बिगड़े हुए व्रत-ज्ञानादि, वे अच्छे नहीं हैं।

❖ सम्यक्त्वरहित जीव वास्तव में पशु समान है; जन्मान्ध की तरह वह धर्म-अधर्म को नहीं जानता है।

❖ दु:खों से भरपूर नरक में भी सम्यक्त्वसहित जीव शोभता है; उससे रहित जीव, देवलोक में भी शोभता नहीं है, क्योंकि वह नरक का जीव तो सारभूत सम्यक्त्व के माहात्म्य के कारण वहाँ से निकलकर लोकालोक प्रकाशक तीर्थनाथ होगा और मिथ्यात्व के कारण भोग में तन्मय उस देव का जीव, आर्तध्यान से मरकर स्थावरयोनि में जायेगा।

❖ तीन काल और तीन लोक में सम्यक्त्व के समान धर्म दूसरा कोई नहीं; जगत में वह जीव परमहितकर है।

❖ सम्यक्त्व के अतिरिक्त दूसरा जीव का कोई मित्र नहीं है, दूसरा कोई धर्म नहीं है, दूसरा कोई सार नहीं है, दूसरा कोई हित नहीं है, दूसरा कोई पिता-माता आदि स्वजन नहीं और दूसरा कोई सुख नहीं। मित्र-धर्म-सार-हित-स्वजन-सुख, यह सब सम्यक्त्व में समाहित है।

❖ सम्यक्त्व से अलंकृत देह भी देवों द्वारा पूज्य है परन्तु सम्यक्त्वरहित त्यागी भी पद-पद पर निन्दनीय है।

❖ एक बार सम्यक्त्व को अन्तर्मुहूर्तमात्र भी ग्रहण करके, कदाचित् जीव उसे छोड़ भी दे तो भी निश्चित् वह अल्प काल में (पुन: सम्यक्त्वादि ग्रहण करके) मुक्ति प्राप्त करेगा।

❖ जिस भव्य को सम्यक्त्व है, उसके हाथ में चिन्तामणि है, उसके घर में कल्पवृक्ष और कामधेनु है।

❖ जावे जीव, हिंसा छोड़कर, वन में जाकर अकेला बसता है और सर्दी-गर्मी सहन करता है परन्तु यदि सम्यग्दर्शनरहित है तो वन के वृक्ष जैसा है।

❖ सम्यक्त्व के बल से जो कर्म सहज में नष्ट होते हैं, वे कर्म सम्यक्त्व के बिना घोर तप से भी नष्ट नहीं होते।

❖ मुनि के व्रतसहित, सर्वसंगरहित, देवों से पूज्य ऐसा निर्ग्रन्थ जिनरूप भी सम्यग्दर्शन के बिना शोभा नहीं देता। (वह तो प्राणरहित सुन्दर शरीर जैसा है)।

❖ जैसे प्राणरहित शरीर को मृतक कहा जाता है; उसी प्रकार दृष्टिहीन जीव को चलता मृतक कहा जाता है।

❖ अधिक क्या कहना? जगत में जितने सुख हैं, वे सब सर्वोत्कृष्टरूप से सम्यग्दृष्टि को प्राप्त होते हैं।

❖ **एतत् समयसर्वस्वम् एतत् सिद्धान्तजीवितम्।**
एतत् मोक्षगते: बीजं सम्यक्त्वं विद्धि तत्त्वत:।।

विधिपूर्वक उपासित किया गया यह सम्यक्त्व, वह समय का सर्वस्व है-सर्व शास्त्रों का सार है, वह सिद्धान्त का जीवन है-प्राण है और वही मोक्षगति का बीज है।

सम्यक्त्व है वह सार है, है समय का सर्वस्व वह।
सिद्धान्त का जीवन वही और मोक्ष का है बीज वह।
विधि जानकर बहुमान से आराधना सम्यक्त्व को।
सर्व सौख्य ऐसे पाओगे आश्चर्य होगा जगत को।।

❖ अहो! यह सम्यग्दर्शन है, वह मोक्षफल देनेवाला सच्चा कल्पवृक्ष है। जिनवर-वचन की श्रद्धा

उसका मूल है; तत्त्वश्रद्धा उसकी शाखा है। समस्त गुण की उज्ज्वलता रूप जल सिंचन द्वारा जो वर्धमान है, चारित्र जिसकी शाखायें हैं; सर्व समिति, वे उसके पत्र-पुष्प हैं और मोक्षसुखरूपी फल द्वारा जो फल-फूल रहा है-ऐसा सम्यग्दर्शन सर्वोत्तम कल्पवृक्ष है। अहो जीवों! उसका सेवन करो। (उसकी मधुर छाया लेनेवाला भी महाभाग्यवान है)। ***(श्री प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, सर्ग-११ की चयनित गाथायें)***

जिनागम में सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट को ही भ्रष्ट माना गया है एवं उसे मुक्ति के लिये अयोग्य कहा गया है। आचार्य कुन्दकुन्द का यह कथन इस सम्बन्ध में अनुप्रेक्षणीय है —

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।.....

अर्थात् जो पुरुष दर्शन से भ्रष्ट हैं वे भ्रष्ट हैं; जो दर्शन से भ्रष्ट हैं उनको निर्वाण नहीं होता।....

(अष्टपाहुड-दर्शनपाहुड, गाथा-४)

सम्यग्दृष्टि जीव का दुर्गति गमन नहीं होता तथा अशुभभाव के काल में आगामी भव सम्बन्धी आयु का बन्ध नहीं होता यह भी सम्यक्त्व का आश्चर्यकारी प्रभाव जानना चाहिए।

(योगसार, ८८; छहढाला, तीसरी ढाल; धवला आदि)

सम्यग्दर्शन की महिमा का वर्णन करते हुए ऐसे धर्मात्मा को देवों द्वारा प्रशंसनीय/पूजनीय बतलानेवाले कथन भी जिनागम में उपलब्ध होते हैं। ***(छहढाला, रत्नकरण्ड श्रावकाचार)***

इस प्रकार सम्पूर्ण जिनागम में मिथ्यात्व की भयंकरता और सम्यग्दर्शन की उत्कृष्टता के अनेकों प्रमाण मौजूद हैं, जिन्हें यहाँ विस्तार भय से नहीं दिया जा रहा है। जिज्ञासु पाठकों को इस सम्बन्ध में आत्महित के लक्ष्य से जिनागम का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने का विनम्र अनुरोध है।

ज्ञानी धर्मात्माओं की इसी परम्परा में वर्तमान शताब्दी में आध्यात्मिक सन्त पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के पैंतालीस वर्षों तक इस विषय पर अनवरत प्रवचनधारा बहाकर यह विषय अत्यन्त चर्चित कर दिया है।

पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा उद्घाटित वीतरागी सन्तों के हार्द को समझकर कई जीव आत्महित के सुखदमार्ग को प्राप्त हुए, तो कई जीव उस मार्ग को प्राप्त करने हेतु प्रयासरत भी हो रहे हैं, किन्तु उनके व्याख्यानों एवं प्रतिपादन की अपेक्षाओं को सर्वांगीणरूप से न समझ पाने के कारण एवं अपने दुराग्रहों को सुरक्षित रखने के व्यामोह से अनेक लोग उनके वचनों को तोड़-मरोड़कर अथवा आधे-अधूरे प्रस्तुत कर अपने अज्ञान की सुरक्षा के लिये कवच की तरह प्रयोग कर रहे हैं। यह भी एक विडम्बना ही है कि जो मार्ग आत्महित का पथप्रदर्शक है, उसी को अज्ञानी अपने अज्ञान की पुष्टि में निमित्त बना लेता है।

जैसे कि - द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप वस्तु में सम्यग्दर्शन के प्रयोजन से पर्याय को गौण करके त्रिकाली द्रव्यस्वभाव में मैंपना कराया जाता है, वहाँ द्रव्य और पर्याय को दो भिन्न पदार्थों की तरह समझ लेना पदार्थ विपर्यास है एवं द्रव्यपर्यायस्वरूप भेदाभेदात्मक अथवा नित्य-अनित्यात्मक वस्तु में मैंपना भी स्पष्टरूप से मिथ्यादर्शन है। तात्पर्य यह है कि प्रमाण के द्वारा गृहीत नित्य-अनित्यात्मक अथवा भेदाभेदात्मक वस्तु में

सम्यग्दर्शनरूप प्रयोजन की सिद्धि के लिये अनित्य पर्याय अथवा भेदभावों को गौण करते ही शुद्धद्रव्यार्थिकनय अथवा परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत परमपारिणामिक भावस्वरूप वस्तु में मैंपना होकर सम्यग्दर्शन की उपलब्धि हो जाती है। अत: द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप वस्तुस्वभाव की समीचीन समझपूर्वक प्रयोजन की सिद्धि ही निरापद मार्ग है।

इन्हीं उपर्युक्त कारणों से व्यथित होकर मुम्बई निवासी भाईश्री जयेशभाई ने 'दृष्टि का विषय' नामक पुस्तक आगम के आलोक में प्रस्तुत कर प्रशंसनीय कार्य किया है। यहाँ इस प्रस्तावना में 'दृष्टि के विषय' के सन्दर्भ में विचारणीय बिन्दुओं पर चर्चा की जा रही है।

यद्यपि दृष्टि शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है, तथापि यहाँ दृष्टि अर्थात् सम्यग्दर्शन एवं उसका विषय अर्थात् सम्यग्दर्शन का विषय/सम्यग्दर्शन का अर्थ 'मैंपना' अथवा 'अहं' होता है। अत: किसमें अहं या मैंपने को सम्यग्दर्शन कहते हैं-यही दृष्टि का विषय है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने तो एक ही गाथा में सम्यग्दर्शन के विषय का सारभूत स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—

सम्यक् सदुर्शन ज्ञान तप समभाव सम्यक् आचरण।
सब आतमा की अवस्थाएँ आतमा ही है शरण।।३।।

(अष्टपाहुड़, मोक्षपाहुड़, गाथा १०५ का हिन्दी पद्यानुवाद)

इस गाथा में वर्णित 'आत्मा ही शरण' यह है दृष्टि का विषयभूत त्रैकालिक ध्रुवतत्त्व, जिसके आश्रय/मैंपना से रत्नत्रय की प्राप्ति होती है।

अब यहाँ प्रस्तुत पुस्तक में वर्णित विभिन्न बिन्दुओं पर संक्षिप्त चर्चा अपेक्षित है जो निम्नानुसार है—

सम्यग्दर्शन के लिये आवश्यक क्या?

सम्यग्दर्शन एवं उसकी महिमा के परिज्ञान के पश्चात् यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होनेयोग्य है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये क्या आवश्यक है?

इसका समाधान करते हुए लेखक ने कहा है कि सम्यग्दर्शन के लिये अनिवार्य है भेदज्ञान। आत्मा और पुद्गल तथा पुद्गल के लक्ष्य से उत्पन्न विकारी भावों से भेदज्ञान सम्यग्दर्शन के लिये जितना अनिवार्य है; उतनी द्रव्य-गुण-पर्याय की समझ नहीं। हाँ, इतना अवश्य है कि यदि द्रव्य-गुण-पर्याय के सम्बन्ध में विपरीत अवधारणा है तो निश्चित् ही वह सम्यग्दर्शन के लिए अवरोधक कारण है। वरना स्व-पर की भिन्नतारूप भेदज्ञान से भी सम्यग्दर्शनरूपी कार्य हो सकता है।

इसी बात को आचार्यदेव ने **समयसार** में इस प्रकार कहा है—

'भेदविज्ञान जिसका मूल है-ऐसी अनुभूति उत्पन्न होगी, तब आत्मा प्रतिबुद्ध होगा।'

(समयसार, गाथा १९ टीका)

तत्पश्चात् अप्रतिबुद्ध को समझाने के उद्देश्य से लिखी गयी २३-२५ गाथाओं में इसी भेदविज्ञान की चर्चा की है, जो मूलतः पठनीय है।

आचार्य पूज्यपादस्वामी तो कहते हैं कि—

जीव जुदा पुद्गल जुदा यही तत्त्व का सार।
अन्य कुछ व्याख्यान सब याही का विस्तार।।५०।। *(इष्टोपदेश)*

तात्पर्य यह है कि यदि द्रव्य-गुण-पर्याय की विस्तृत समझ न हो; एवं उस सन्दर्भ में अभिप्राय की विपरीतता न हो तो स्व-पर भेदविज्ञान करके भी सम्यग्दर्शन प्राप्त किया जा सकता है।

वर्तमान स्वाध्यायी वर्ग में द्रव्य-गुण-पर्याय के सम्बन्ध में प्रचलित अनेक भ्रान्तियों के प्रक्षालन का सफल प्रयास लेखक द्वारा जिनागम के परिप्रेक्ष्य में (१) द्रव्य-गुण व्यवस्था (२) द्रव्य-पर्याय व्यवस्था (३) उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप व्यवस्था नामक प्रकरण में किया गया है, जिसका सारभूत तात्पर्य लेखक के ही शब्दों में इस प्रकार है—

एक अखण्ड द्रव्य में रही हुई अनन्त विशेषताओं को उस द्रव्य के अनन्तानन्त गुणों के रूप में वर्णन किया है, बतलाया है। उन सर्व विशेषताओं के समूह को द्रव्य (वस्तु) रूप से बतलाया है। वह वस्तु (द्रव्य) तो अभेद-एक ही है परन्तु उसकी विशेषताओं को दर्शाने के लिये ही उसमें गुणभेद किये हैं, अन्यथा वहाँ कोई क्षेत्रभेदरूप गुणभेद है ही नहीं... इसलिए उसे कथंचित् भेद-अभेदरूप बतलाया है... वहाँ वस्तु में कोई वास्तविक भेद नहीं है इस अपेक्षा से अभेद ही कहा जाता है। अभेदनय को ही कार्यकारी बतलाया है और भेदनय मात्र वस्तु का स्वरूप समझाने के लिये कहा गया भेदरूप व्यवहारमात्र ही है, क्योंकि निश्चय से वस्तु अभेद है। तथा

गुणों के समूहरूप अभेद द्रव्य का जो वर्तमान है अर्थात् उसकी जो वर्तमान अवस्था है (परिणमन है) उसे ही उस द्रव्य की पर्याय कहा जाता है। और उस अभेद पर्याय में ही विशेषताओं की अपेक्षा से अर्थात् गुणों की अपेक्षा से उसमें (अभेद पर्याय में) ही भेद करके उसे गुणों की पर्याय कहा जाता है। इस कारण कहा जा सकता है कि जितना क्षेत्र द्रव्य का है, वह और उतना ही क्षेत्र गुणों का है तथा वह और उतना ही क्षेत्र पर्याय का है, इसीलिए द्रव्य-पर्याय को व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध कहा जाता है।

जिनागम में उपलब्ध पर्याय के प्रदेशभेद सम्बन्धी कथन पर लेखक ने स्वयं प्रश्नोत्तर उठाकर जो स्पष्टीकरण किया है, वह इस प्रकार है।

यहाँ किसी को प्रश्न होता हो कि तो द्रव्य और पर्याय के प्रदेश भिन्न हैं-ऐसा किस प्रकार कहा जा सकता है।

उत्तर - भेद विवक्षा में जब एक अभेद-अखण्ड द्रव्य में भेद उत्पन्न करके समझाया जाता

है, तब द्रव्य और पर्याय, ऐसे वस्तु के 'दो भावों' को स्वचतुष्टय की अपेक्षा से ऐसा कहा जा सकता है कि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं परन्तु वास्तव में वहाँ कुछ भिन्नता ही नहीं है।

इस प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय की अर्थात् वस्तु व्यवस्था की सही समझ अनिवार्य है।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप एवं विषय :—

वर्तमान मुमुक्षुवर्ग में यह विषय 'दृष्टि का विषय' के रूप में बहुचर्चित है। पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी की सातिशय वाणी में इस महान सत्य का उद्घाटन इस पंचम काल की आश्चर्यकारी घटना है; इसमें निश्चित ही कोई सन्देह नहीं है; तथापि यह भी कम आश्चर्य नहीं है कि गुरुदेवश्री के द्वारा अत्यन्त स्पष्टरूप से एवं जिनागम के आलोक में स्वानुभवपूर्वक प्रतिपादित इस विषय के प्रति भ्रान्त धारणायें भी कम नहीं है। पूर्व में कथित द्रव्य-गुण-पर्याय आदि विषयों में द्रव्य-पर्याय अथवा द्रव्य-गुण रूप दो भावों को दो भाग समझ लेने की भूल एवं गौणता को सर्वथा अभाव समझ लेने की महान भूल का भयंकर परिणाम यह हुआ कि दृष्टि के विषय की उपरोक्त-अभिप्राय पूर्वक की समझ एवं चर्चा-वार्ता से दृष्टि का विषय दृष्टि में आया ही नहीं। इसलिए लेखक ने जिनागम के आलोक में इस विषय का जो स्पष्टीकरण किया, उसे आत्महित के लक्ष्य से विचारणीय है।

उक्त सम्पूर्ण विषय का सारभूत तात्पर्य इस प्रकार है—

भेदज्ञान से (प्रज्ञाछैनी से) अर्थात् जीव और पुद्गल के बीच भेदज्ञान से अर्थात् जीव के लक्षण से जीव को ग्रहण करना और पुद्गल के लक्षण से पुद्गल को और फिर उनमें प्रज्ञारूपी छैनी से भेदज्ञान करने से शुद्धात्मा प्रगट होता है, वह इस प्रकार की प्रथम तो प्रगट में आत्मा के लक्षण से अर्थात् ज्ञानरूप देखने-जानने के लक्षण से आत्मा को ग्रहण करते ही पुद्गलमात्र के साथ भेदज्ञान हो जाता है और फिर उससे आगे बढ़ने पर जीव के जो चार भाव हैं अर्थात् उदयभाव, उपशमभाव, क्षयोपशमभाव, और क्षायिकभाव-ये चार भाव कर्म की अपेक्षा से कहे हैं और कर्म पुद्गलरूप ही होते हैं इसलिए इन चार भावों को भी पुद्गल के खाते में डालकर, प्रज्ञारूपी बुद्धि से अर्थात् इन चार भावों को जीव में से 'गौण' करते ही जो जीव भाव शेष रहता है, उसे ही परमपारिणामिकभाव शुद्धात्मा... स्वभावभाव सहज ज्ञानरूपी साम्राज्य, शुद्ध चैतन्यभाव... कारण समयसार, कारण परमात्मा, नित्यशुद्ध निरंजन ज्ञानस्वरूप, दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमता ऐसा चैतन्य सामान्यरूप, चैतन्य अनुविधायी परिणामरूप, सहज गुणमणि की खान, सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय), इत्यादि अनेक नामों से पहचाना जाता है और उसके अनुभव से ही निश्चय सम्यग्दर्शन कहा जाता है... भेदज्ञान की विधि ऐसी है कि जिसमें जीव के चार भावों को गौण किया और जो शुद्धात्म जीवत्व हाजिर हुआ इस अपेक्षा से उसे कोई 'पर्यायरहित द्रव्य वह दृष्टि का विषय है' ऐसा भी कहते हैं अर्थात् द्रव्य में से कुछ निकालने का ही नहीं है, मात्र विभावभावों को ही गौण करना है और इसी अपेक्षा से कोई कहते हैं कि वर्तमान पर्याय के

अतिरिक्त पूरा द्रव्य वह दृष्टि का विषय है–कथन कोई भी हो परन्तु व्यवस्था तो यहाँ बतलायी तद्नुसार है अर्थात् गौण करने की और मुख्य करने की ही है।

शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय है वही उपादेयरूप शुद्धात्मा है और वही सम्यग्दर्शन का विषय है। इसीलिए अर्थात् भेदज्ञान कराने और शुद्धात्मा का अनुभव कराने के लिए ही नियमसार और समयसार जैसे आध्यात्मिक शास्त्रों में उसी की महिमा गायी है... उन शास्त्रों में प्रमाण के विषयरूप आत्मा से जितने भाव पुद्गलाश्रित हैं अर्थात् जितने भाव कर्माश्रित (कर्म की अपेक्षा रखनेवाले) हैं इन भावों को परभावरूप से वर्णन किया है अर्थात् उन्हें स्वांगरूप भावों के रूप में वर्णन किया है कि जो भाव हेय हैं अर्थात् 'मैंपना' करनेयोग्य नहीं हैं।

सम्यक्त्व–पूर्व की भावभूमि —

यद्यपि सम्यग्दर्शन आत्मा की शुद्धात्मानुभूतिपूर्वक की प्रतीतिरूप शुद्धदशा है, जिसके लिये अनिवार्यरूप भूमिका तत्त्वविचार एवं भेदज्ञान है; तथापि जिस जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की अभिलाषा है, भावना है, उसके राग की दिशा भी कोई अलग प्रकार की होती है। भले ही अभी सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हुई है, तथापि सम्यक्त्व–प्राप्ति की भावभूमि में समागत जीव को, सम्यग्दर्शन के लिये अनुकूल निमित्तरूप वीतरागी देव–शास्त्र–गुरु के साथ–साथ देशनालब्धि प्रदाता ज्ञानी धर्मात्मा के प्रति भी परमात्मातुल्य अर्पणता का परिणाम उद्भवित होता है; वही परिणाम सम्यग्दर्शन होने पर उनकी समीचीन पहिचान पूर्वक सम्यक् अथवा व्यवहार सम्यग्दर्शन नाम प्राप्त करता है।

इसी प्रकार मद्य, माँस, मधु का सेवन एवं रात्रिभोजन जैसे तीव्र राग की गृद्धता के परिणाम भी उस भूमिका में सम्भव नहीं है। यद्यपि व्रतरूप रात्रिभोजनादि (कृत–कारित–अनुमोदना एवं मन–वचन–कायरूप नवकोटि से त्यागरूप) व्रत प्रतिमा एवं रात्रिभुक्ति त्याग प्रतिमा में होता है; तथापि जैन कुलाचार के रूप में भी जिनका सेवन निषिद्ध है–ऐसा त्याग तो सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिये उत्कण्ठित जीव को हो ही जाता है, क्योंकि उसकी भावभूमि इतनी कोमल न हो तो कठोर भावभूमि में तत्त्वविचार ही सम्भव नहीं है। एवं तत्त्वविचार के बिना सम्यग्दर्शन को अवकाश कहाँ?

इस सम्बन्ध में यह तर्क उठाया जाता है कि महावीर भगवान के जीव को शेर की पर्याय में माँस भक्षण करते हुए एवं अंजन चोर जैसे पापी को भी सम्यग्दर्शन हो गया था, तब हम पर ही ये प्रतिबन्ध क्यों?

इसका सीधा समाधान यह है कि भाई! शेर की पर्याय में सम्यग्दर्शन से पूर्व उस जीव की विशुद्धता की धारा का परिज्ञान करना अत्यन्त आवश्यक है, जब उसने दो मुनिराजों को आकाशमार्ग से अपनी ओर आते देखा तो टकटकी लागकर उनकी ओर देखता रहा, वहीं से उसके परिणामों में विशुद्धता की धारा प्रारम्भ हुई, साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि मुनिराजों के उपदेश एवं अपने स्वसन्मुख पुरुषार्थ से सम्यग्दर्शन जैसी लोकोत्तर उपलब्धि हो जाने के पश्चात् उस सिंह के जीव ने आजीवन भोजन का परित्याग कर दिया क्योंकि सिंह जैसी

पर्याय में माँसाहार ही उसका खाद्य होता है। इस ओर हमारा ध्यान क्यों नहीं जाता?

इसी तरह अंजन चोर को अपने जीवन में प्रथम बार ही तत्त्वज्ञान की उपलब्धि का अवसर प्राप्त हुआ और उसने तत्क्षण उसका सदुपयोग करके स्वलक्ष्यी पुरुषार्थ से कल्पतरु सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लिया। हम तो तत्त्वज्ञान का श्रवण-मनन-अध्ययन-चिन्तवन करनेवाले होकर भी अंजन चोर के उदाहरण को अपनी स्वच्छन्दता के लिये कवच के रूप में प्रयोग कर रहे हैं। हमें अंजन चोर के अप्रतिहत पुरुषार्थ की महिमा आने के बजाय उसके जीवन से यह ग्रहण करने का भाव आवे कि अंजन चोर जैसा व्यक्ति भी जब सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है तो हम भी पूरे जीवन अनीति, अन्याय एवं अनाचार जैसे दुर्गुणों से लिप्त रहकर अन्त में सम्यक्त्व प्राप्त कर लेंगे तो यह हमारा दिवास्वप्न ही समझना चाहिए, क्योंकि हमने अनाचारों को जिनवाणी के छल से पोषण किया है जो हमारी मानसिक स्थिति को चित्रित करता है – ऐसी कुटिल भावभूमि में जब तत्त्वविचार का भी अवसर नहीं है तब सम्यक्त्व की प्राप्ति तो कहाँ सम्भव है।

सम्यक्त्व के लिये अनिवार्य भावविशुद्धि की चर्चा भी प्रस्तुत पुस्तक में की गयी है। जिसे सभी साधर्मीजनों को जीवन में अपनाने योग्य है।

वर्तमान दिगम्बर जैन मुमुक्षु समाज में प्रचलित इस दृष्टि के विषय से सम्बन्धित पर्याप्त प्रमेय आत्मार्थीजनों को इस पुस्तक में सहजरूप से उपलब्ध हो रहा है जिसे एकमात्र आत्महित की दृष्टि से बारम्बार विचार करके आत्मकल्याण के मार्ग में आगे बढ़ना चाहिए।

इस महत्वपूर्ण कृति का लेखन, वर्तमान में प्रचलित अनेक भ्रामक धारणाओं के सम्यक् निराकरण की पवित्र भावना से, जिनागम के आलोक में श्रीमान् जयेशभाई सेठ, मुम्बई ने किया है; जो उनके अन्तरंग में व्याप्त जिनशासन की भक्ति को उजागर करता है। यदि आत्मार्थीजन इसे आत्महित की दृष्टि से अध्ययन करेंगे तो उन्हें अनेक समाधान सहज ही इस एक कृति में प्राप्त हो जाएँगे। निश्चित ही श्री जयेशभाई की यह खोजपूर्ण कृति मुमुक्षु जगत के लिए एक ऐसा उपहार है, जिसके आलोक में परमपूज्य वीतरागी सन्तों एवं पूज्य गुरुदेवश्री के हृदय का मर्म समझा जा सकता है। प्रत्येक आत्मार्थी इसका अध्ययन कर अवश्य लाभ ले-ऐसा विनम्र अनुरोध है।

इस भावपूर्ण लेखन के लिये भाईश्री जयेशभाई सेठ, मुम्बई प्रशंसा के पात्र हैं एवं इस कार्य में महत्त्वपूर्ण योगदान के लिये भाईश्री शैलेषभाई के योगदान को भी नहीं नकारा जा सकता। इन्हीं के सत्प्रयत्नों से यह प्रमेय आप तक पहुँच रहा है। इस पुस्तक में प्रस्तावना के लिये उक्त दोनों साधर्मियों ने मुझे अवसर प्रदान किया इस कारण मुझे भी इस विषय पर गहराई से अध्ययन-मनन एवं चिन्तवन का अवसर सहज ही उपलब्ध हुआ तदर्थ आभारी हूँ।

सभी साधर्मी इस पुस्तक का भरपूर लाभ लेंगे – इसी भावना के साथ।

बिजौलियां **देवेन्द्रकुमार जैन**
जिला भीलवाड़ा (राज०)

नमस्कार सूत्र–अर्थसहित

णमो अरिहंताणं–त्रिकालवर्ती तीर्थंकर प्रमुख अरिहन्त भगवन्तों को समय–समय की वन्दना होओ!

णमो सिद्धाणं–त्रिकालवर्ती सिद्ध भगवन्तों को समय–समय की वन्दना होओ!

णमो आयरियाणं–त्रिकालवर्ती गणधर प्रमुख आचार्य भगवन्तों को समय–समय की वन्दना होओ!

णमो उवज्झायाणं–त्रिकालवर्ती उपाध्याय भगवन्तों को समय–समय की वन्दना होओ!

णमो लोए सव्व साहूणं–त्रिकालीवर्ती साधु भगवन्तों को समय–समय की वन्दना होओ!

एसो पंच नम्मोकरो–यह पंच नमस्कार मन्त्र,

सव्व पाप पणासणो–सब पापों का नाश करनेवाला है

मंगलाणं च सव्वेसिं–सर्व मङ्गलों में

पढमं हवई मंगलं–उत्कृष्ट मङ्गल है।

◆

पंच परमेष्ठी वंदन श्लोक

अरहन्तों भगवन्त इन्द्रमहिता:, सिद्धाश्च सिद्धिश्चिता:
आचार्या, जिनशासनोन्नतकिरा:, पूज्या उपाध्यायका।
श्री सिद्धांत सुपाठका मुनिवरा, रत्नत्रयाराधका:
पंचैते परमेष्ठिन प्रतिदिनं:, कुर्वन्तु नो मंगलम्।

◆

।। ॐ श्री महावीराय नमः।।

१

लेखक के हृदयोद्गार

पंच परमेष्ठी भगवन्तों को नमस्कार करके, शास्त्र और स्वानुभूति के आधार से 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' सम्यग्दर्शन-जो कि मोक्षमार्ग का द्वार है, उसका विषय (दृष्टि का विषय) अर्थात् किसकी भावना भाने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, वह अर्थात् सम्यग्दर्शन के लिये चिन्तवन-मनन का विषय और उसके स्पष्टीकरण के लिये द्रव्य-गुण-पर्यायमय सत्रूप वस्तु, जो कि उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप भी है, वह और ध्यान, जो कि केवलज्ञान, केवलदर्शन और मुक्ति का कारण है; उसके विषय में विशेष स्पष्टीकरणसहित समझाने का प्रयास हमने इस पुस्तक में किया है। इस काल में द्रव्यानुयोग, जैनधर्म में गौण हो गये निश्चयनय का महत्त्व और दृष्टि के विषय जैसे सूक्ष्म विषय पर प्रकाश डालनेवाले पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का सर्वजनों पर बहुत बड़ा उपकार है।

मुझे छोटी उम्र से ही सत्य की शोध थी और उसके लिए सर्व दर्शन का अभ्यास किया और अन्त में जैनदर्शन के अभ्यास के पश्चात् १९९९ में ३८ वर्ष की उम्र में मुझे सत्य की प्राप्ति हुई, अर्थात् उसका अनुभव/साक्षात्कार हुआ। तत्पश्चात जैन शास्त्रों का पुनः-पुनः स्वाध्याय करने पर अनेक बार सत्य का अर्थात् शुद्धात्मा का अनुभव हुआ, जिसकी विधि इस पुस्तक में शास्त्रों के आधारसहित सर्वजनों के लाभार्थ प्रदान करने का प्रयास किया है।

प्रत्येक जैन सम्प्रदाय में सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में तो अनेक पुस्तकें हैं, जिनमें सम्यग्दर्शन के प्रकार, सम्यग्दर्शन के भेद, पाँच लब्धिया, सम्यग्दर्शन के पाँच लक्षण, सम्यग्दर्शन के आठ अंग, सम्यग्दर्शन के पच्चीस मल-इत्यादि विषयों पर विस्तार से वर्णन है, परन्तु उनमें सम्यग्दर्शन के विषय सम्बन्धी चर्चा बहुत ही कम देखने में आती है; इसलिए हमने उस पर प्रस्तुत पुस्तक में थोड़ा प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

हम किसी भी मत-पंथ में नहीं है; हम मात्र आत्मा में हैं, अर्थात् मात्र आत्मधर्म में ही हैं; इसलिए यहाँ हमने किसी भी मत-पंथ का मण्डन अथवा खण्डन न करके मात्र जो आत्मार्थ उपयोगी है, वही देने की कोशिश की है; इसलिए सर्वजनों को उसे उसी अपेक्षा से समझना-ऐसी हमारी विनती है।

हमने इस पुस्तक में जो भी बतलाया है, वह शास्त्र के आधार से और अनुभव कर बतलाया है, तथापि किसी को हमारी बात तरंगरूप लगती हो, तो वे इस पुस्तक में बतलाये

हुए विषय को किसी भी शास्त्र के साथ मिलानकर देखो अथवा स्वयं अनुभव करके प्रमाण करके देखो–इन दो के अतिरिक्त अन्य कोई परीक्षण की विधि नहीं है। कोई अपनी धारणा को अनुकूल न होने से हमें तरंग माने, तो उसमें हमारा कुछ नुकसान नहीं है क्योंकि उससे हमारे आनन्द की मस्ती में कुछ भी हीनता आनेवाली नहीं है, परन्तु नुकसान तो मात्र तरंग माननेवाले का ही होनेवाला है। फिर भी आपको ऐसा लगता हो कि आपने धार रखा है, वही सच्चा है तो आपको हम कहते हैं कि – आप अपनी धारणा–अनुसार आत्मानुभूति कर लो! तो बहुत अच्छा; और यदि आप अपनी धारणा–अनुसार वर्षों तक प्रयत्न करने के बाद भी, भावभासन (तत्त्व का निर्णय) तक भी नहीं पहुँचे हो और तत्त्व की चर्चा तथा वाद–विवाद ही करते रहे हों, तो आप, इस पुस्तक में हमने दर्शाये हुए विषय पर अवश्य विचार करना; यदि आप विचार करोगे तो तत्त्व का निर्णय तो अचूक ही होगा–ऐसा हमें विश्वास है; इसलिए इस पुस्तक में जो विषय बतलाया है, उस पर सबको विचार करने के लिए हमारी विनती है। हम किसी वाद–विवाद में नहीं पड़ना चाहते; इसलिए जिसे यह बात समझ में न आये अथवा न रुचे, वे हमें माफ करें। 'मिच्छामि दुक्कडं।'

इस काल में जैन समाज दो भागों में विभाजित हो गया है; जिसमें से एक विभाग ऐसा है कि जो मात्र व्यवहारनय को ही मान्य करता है और मात्र उसे ही प्राधान्य देता है तथा मात्र उससे ही मोक्ष मानता है। जबकि दूसरा विभाग ऐसा है कि जो मात्र निश्चयनय को ही मान्य करता है और मात्र उसे ही प्राधान्य देता है तथा मात्र उससे ही मोक्ष मानता है, परन्तु वास्तविक मोक्षमार्ग निश्चय–व्यवहार की योग्य संधि में ही है, कि जो बात कोई विरले ही जानते हैं। जैसा कि पुरुषार्थसिद्धि–उपाय गाथा ८ में भी कहा है कि 'जो जीव व्यवहारनय और निश्चयनय को वस्तुस्वरूप द्वारा यथार्थरूप से जानकर मध्यस्थ होता है, अर्थात् निश्चयनय और व्यवहारनय के पक्षपातरहित होता है, वही शिष्य उपदेश के सम्पूर्ण फल को प्राप्त करता है। (अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करता है।)'

जबकि साम्प्रत काल में (वर्तमान काल में) बहुभाग जैन समाज व्यवहारनय को ही प्राधान्य देता है और निश्चयनय की घोर अवगणना करता है अथवा विरोध करता है, जिससे वह समाज जाने–अनजाने भी एकान्त मतरूप परिणमित होता है जिसे भगवान ने पाखण्डी का मत बतलाया है और जैन समाज का दूसरा वर्ग जो कि निश्चयनय को ही प्राधान्य देता है और व्यवहारनय की घोर अवगणना करता है अथवा विरोध करता है, वह समाज भी जाने–अनजाने एकान्त मतरूप परिणमता है, जिसे भी भगवान ने पाखण्डी का मत ही बतलाया है। हमने इस

पुस्तक में निश्चयव्यवहार की योग्य सन्धि समझाने का प्रामाणिक प्रयत्न किया है, जिसे सर्व जैन समाज योग्य रीति से समझकर आराधन करे तो जैनधर्म में आमूल क्रान्ति आ सकती है और अभी जो एकान्त प्ररूपणाएँ चलती हैं, जो कि पाखण्ड मतरूप है वे रुक सकती हैं।

मात्र व्यवहारनय को ही मान्य करके, उसे ही प्रधानता देता एक उदाहरण है – सम्यग्दर्शन का स्वरूप; मात्र व्यवहारनय को ही मान्य करनेवाले बहुभाग जैन ऐसा मानते हैं कि सम्यग्दर्शन अर्थात् सात/नौ तत्त्वों की (स्वानुभूतिरहित) श्रद्धा अथवा सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की (स्वानुभूतिरहित) श्रद्धा। सम्यग्दर्शन की यह व्याख्या व्यवहारनय के पक्ष की है परन्तु निश्चयनय के मत से जो एक को अर्थात् आत्मा को जानता है, वही सर्व को अर्थात् सात/नौ तत्त्वों तथा सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को जानता है क्योंकि एक आत्मा को जानते ही वह जीव सच्चे देवतत्त्व का अंशत: अनुभव करता है और इसीलिए वह सच्चे देव को अन्तर से पहिचानता है तथा सच्चे देव को जानते ही अर्थात् (स्वानुभूतिसहित की) श्रद्धा होते ही वह जीव वैसा देव बनने के मार्ग में गतिशील सच्चे गुरु को भी अन्तर से पहिचानता है और साथ ही साथ वह जीव वैसा देव बनने का मार्ग बतानेवाले सच्चे शास्त्र को भी पहिचानता है।

निश्चय सम्यग्दर्शन की सच्ची व्याख्या ऐसी होने पर भी व्यवहारनय के पक्षवालों को सम्यग्दर्शन की ऐसी सच्ची व्याख्या मान्य नहीं होती अथवा वे ऐसी व्याख्या का ही विरोध करते हैं और इसलिए वे सम्यग्दर्शन अर्थात् सात/नौ तत्त्वों की कही जाती (स्वात्मानुभूतिरहित) श्रद्धा अथवा सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की कही जाती (स्वात्मानुभूतिरहित) श्रद्धा इतना ही मानते होने से उन्हें 'स्वात्मानुभूतिरहित की श्रद्धा' और 'स्वात्मानुभूतिसहित की श्रद्धा' के बीच के अन्तर की खबर ही नहीं होती अथवा खबर करना ही नहीं चाहते; इसलिए वे सम्यग्दर्शन, जो कि धर्म की नींव है उसके विषय में ही अनजान रहकर सम्पूर्ण जिन्दगी क्रिया-धर्म उत्तम रीति से करने पर भी संसार का अन्त करनेवाला धर्म प्राप्त नहीं करते। जो करुणा उत्पन्न करावे ऐसी बात है।

इसी प्रकार जो मात्र निश्चयनय को ही मान्य करके उसे ही प्रधानता देते हैं, वे मात्र ज्ञान की शुष्क (कोरी) बातों में ही रह जाते हैं और आत्मा की योग्यता के विषय में अथवा मात्र नींवरूप सदाचार के विषय की भी घोर उपेक्षा करके, वे भी संसार का अन्त करनेवाले धर्म से तो दूर ही रहते हैं और तदुपरान्त ऐसे लोगों को प्राय: स्वच्छन्दता के कारण अर्थात् पुण्य को एकान्तत: हेय मानने के कारण पुण्य का भी अभाव होने से भव का भी ठिकाना नहीं रहता, जो बात भी अधिक करुणा उपजावे, वैसी ही है।

इसी प्रकार जैन समाज में एक छोटा वर्ग ऐसा भी है कि जिन्होंने वस्तु व्यवस्था को ही विकृत कर दिया है; वे द्रव्य और पर्याय को इस हद तक अलग मानते हैं मानों वे दो अलग द्रव्य

ही हों! वे एक अभेदद्रव्य में उपजा (कल्पना) करके बतलाये हुए गुण-पर्याय को भी भिन्न समझते हैं अर्थात् द्रव्य का सम्यक् स्वरूप समझाने को द्रव्य को अपेक्षा से गुण और पर्याय से भिन्न बतलाया है, उसे वे वास्तविक भिन्न समझते हैं; द्रव्य और पर्याय को दो भाव न मानकर वे उसे दो भागरूप मानने तक की प्ररूपणा करते हैं और आगे उसमें भी सामान्य-विशेष ऐसे दो भाग की कल्पना करते हैं। इस प्रकार वस्तु व्यवस्था की ही विकृत रीति से प्ररूपणा करके वे भी संसार का अन्त करनेवाले धर्म से तो दूर ही रहते हैं और तदुपरान्त ऐसे लोगों को भी प्राय: स्वच्छन्दता के कारण पुण्य का अभाव होने के कारण भव का ठिकाना नहीं रहता, जो बात भी अत्यन्त करुणा उत्पन्न करे, वैसी ही है।

अभी जैन समाज में प्रवर्तमान तत्त्व की ऐसी गैर समझ को दूर करने के लिए हम हमारे आत्मा की अनुभूतिपूर्वक के विचार, शास्त्र के आधार सहित इस पुस्तक में प्रस्तुत करते हैं, जिसका विचार-चिन्तन-मनन आप खुले मन से और 'अच्छा वही मेरा' और 'सच्चा वही मेरा' ऐसा अभिगम अपनाकर करोगे तो अवश्य आप भी तत्त्व की प्रतीति नि:सन्देह कर सकोगे। ऐसा हमें विश्वास है। यहाँ हमारे लिये जो हमने 'हम' सम्बोधन प्रयोग किया है, वह कोई मान वाचक शब्द नहीं समझना परन्तु उसका अर्थ त्रिकालवर्ती आत्मानुभवी है क्योंकि त्रिकालवर्ती आत्मानुभवियों की स्वात्मानुभूति एक समान ही होती है।

यह पुस्तक तैयार करने में हमने जिन-जिन ग्रन्थों का आधार लिया है, उसके लिये हम उनके लेखकों ऐसे आचार्य भगवन्तों के, उन ग्रन्थों की टीका रचनेवालों के, अनुवादकों के तथा प्रकाशकों के हृदयपूर्वक आभारी हैं। प्रत्येक ग्रन्थों की गाथा का अन्वयार्थ और भावार्थ ' ' में दिया है। हमें यह पुस्तक तैयार करने में अनेक लोगों ने अलग-अलग रीति से सहयोग दिया है, उन सबके हम ऋणी हैं; इसलिए उन सबका हम हृदयपूर्वक आभार मानते हैं और विशेष पण्डित श्री देवेन्द्रकुमार जैन (बिजौलियां) का प्रस्तावना लिखने के लिये हृदयपूर्वक आभार मानते हैं।

हमारे आत्मा की अनुभूतिपूर्वक के विचारों को आप परीक्षा करके और यहाँ प्रस्तुत शास्त्र के आधार से स्वीकार करके सम्यग्दर्शन प्रगट करो, जिससे आप भी धर्मरूप परिणमो और मोक्षमार्ग पर अग्रसर बनकर अन्त में सिद्धत्व को प्राप्त करो - इसी अभ्यर्थनासह। प्रस्तुत पुस्तक में जाने-अनजाने मुझसे कुछ भी जिनाज्ञा विरुद्ध लिखा गया हो तो त्रिविध त्रिविध मेरे मिच्छामि दुक्कडम!

मुम्बई सी. ए. **जयेश मोहनलाल शेठ**
१६-०१-२०१४

* * *

२

पूर्वभूमिका

अनादि से अपना आत्मा इस संसार में सम्यग्दर्शन के अभाव के कारण ही भटकता है अर्थात् अनन्त पुद्गल परावर्तन से अपना आत्मा इस संसार में अनन्त दु:ख सहन करते हुए घूमता है और उसका मुख्य कारण है मिथ्यात्व अर्थात् सम्यग्दर्शन का अभाव। यह मिथ्यात्व अपना महान शत्रु है – ऐसा ज्ञान न होने के कारण बहुत से जीव अन्य–अन्य शत्रु की कल्पना करके आपस में लड़ते ज्ञात होते हैं और उसी में यह अमूल्य जीवन पूरा करके, फिर अनन्त काल के दु:खों को आमन्त्रण देते हैं। परमात्म प्रकाश – त्रिविध आत्माधिकार गाथा ६५ में भी बतलाया है कि 'इस जगत में (In the Universe) ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं कि जहाँ चौरासी लाख जीव योनि में उत्पन्न होकर, भेदाभेद रत्नत्रय के प्रतिपादक जिन वचन को प्राप्त नहीं करता हुआ यह जीव अनादि काल से न भ्रमा हो।'

सर्व आत्मा स्वभाव से सुख स्वरूप ही होने से, सुख के ही इच्छुक होते हैं, तथापि सच्चे सुख की जानकारी अथवा अनुभव न होने के कारण अनादि से अपना आत्मा शारीरिक–इन्द्रियजन्य सुख, जो कि वास्तव में सुख नहीं है परन्तु वह मात्र सुखाभासरूप ही है अर्थात वह सुख दु:खपूर्वक ही होता है अर्थात् वह सुख इन्द्रियों के आकुलतारूप दु:ख को/वेग को शान्त करने को ही सेवन किया जाता है तथापि वह सुख अग्नि में ईंधनरूप ही होता है; अर्थात् वह सुख बारम्बार उसकी इच्छारूप दु:ख जागृत करने का ही काम करता है और वह सुख (भोग) भोगते हुए जो नया पाप बँधता है वह नये दु:खों का कारण बनता है अर्थात् वैसा सुख दु:खपूर्वक और दु:ख फल सहित ही होता है, उसके पीछे ही पागल बनकर भगा है। दूसरा, शारीरिक–इन्द्रियजन्य सुख क्षणिक है क्योंकि वह सुख अमुक काल के पश्चात् नियम से जानेवाला है अर्थात् जीव को ऐसा सुख मात्र तृष पर्याय में ही मिलनेयोग्य है जो कि बहुत अल्प काल के लिये होता है, पश्चात् वह जीव नियम से एकेन्द्रिय में जाता है कि जहाँ अनन्त काल तक अनन्त दु:ख भोगने पड़ते हैं और एकेन्द्रिय में से बाहर निकलना भी भगवान ने चिन्तामणि रत्न की प्राप्तितुल्य दुर्लभ बतलाया है।

जैसा कि आत्मानुशासन, गाथा ५१ में बतलाया है कि 'काले नाग जैसे प्राण नाश करनेवाले ऐसे इस भोग की तीव्र अभिलाषा से भूत, भावि और वर्तमान भवों को नष्ट करके तू

अखण्डित मृत्यु से अनन्त बार मरा और आत्मा के सर्व स्वाधीन सुख का नाश किया; मुझे तो लगता है कि – तू अविवेक, परलोक भय से रहित, निर्दय और कठोर परिणामी है क्योंकि महापुरुषों से निन्दित वस्तु का ही तू अभिलाषी हुआ है। धिक्कार है उन कामी पुरुषों को कि जिनका अन्तःकरण निरन्तर काम–क्रोधरूप महाग्रह (डाकू–पिशाच) के वश रहा करता है! ऐसा प्राणी इस जगत में क्या–क्या नहीं करता? सर्व कुकर्म करता है।' आगे आत्मानुशासन गाथा ५४ में भी बतलाया है कि 'हे जीव! इस अपार और अथाह संसार में परिभ्रमण करते–करते तूने अनेक योनियाँ धारण कीं, महादोषयुक्त सप्त धातुमय मल से निर्मित ऐसा तेरा यह शरीर है, क्रोधादि कषायजन्य मानसिक और शारीरिक दुःखों से तू निरन्तर पीड़ित है। हीनाचर, अभक्ष्य भक्षण और दुराचार में तू निमग्न हो रहा है और ऐसा कर–करके तू तेरे आत्मा को ही निरन्तर ठग रहा है। और जरा से ग्रस्त (ग्रसित) है। मृत्यु के मुख के बीच पड़ा है तथापि व्यर्थ उन्मत्त हो रहा है, यही परम आश्चर्य है! तू आत्म कल्याण का कट्टर शत्रु है? अथवा क्या अकल्याण को चाहता है?'

कोई मात्र पुण्य से ही मोक्ष मिलेगा ऐसा समझते हों तो योगसार दोहा १५ में आचार्य भगवन्त ने बतलाया है कि 'और यदि तू अपने को तो जानता नहीं (अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं) और सर्वथा अकेला पुण्य ही करता रहेगा तो भी तू बारम्बार संसार में ही भ्रमण करेगा परन्तु शिवसुख को प्राप्त नहीं कर सकेगा।' अर्थात् सम्यग्दर्शन के बिना शिवसुख की (मोक्ष की) प्राप्ति शक्य ही नहीं है। आगे योगसार दोहा ५३ में भी आचार्य भगवन्त बतलाते हैं कि 'शास्त्र पढ़ने पर भी जो आत्मा को नहीं जानते (अर्थात् जिन्हें सम्यग्दर्शन नहीं है), वे भी जड़ हैं; इस कारण वे जीव निश्चय से निर्वाण को प्राप्त नहीं करते, यह बात स्पष्ट है।' अर्थात् मिथ्यात्व (अर्थात् सम्यग्दर्शन की अनुपस्थिती) वह अनन्त संसार का चालक बल है अर्थात् मिथ्यात्व, वह सर्व पापों का राजा है जो कि सम्यग्दर्शन से ही नष्ट होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन, निर्वाण को प्राप्त करने के लिये अर्थात् शाश्वत् सुख की प्राप्ति के लिये परम आवश्यक है।

इसीलिए स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २९० से २९६ वें में बतलाया है कि – यह मनुष्यगति, आर्यखण्ड, उच्च कुल, धनवानपना, इन्द्रियों की परिपूर्णता, निरोगी शरीर, दीर्घायु, भद्र परिणाम, सरल स्वभाव, साधु पुरुषों की संगति, सम्यग्दर्शन–सत्श्रद्धान, चारित्र इत्यादि एक से एक अधिक–अधिक दुर्लभ है। तथा आत्मानुशासन गाथा ७५ में बतलाया है कि 'मनुष्य प्राणी की दुर्लभता और उत्तमता के कारण विधिरूप मन्त्री ने उसकी अनेक प्रकार से रक्षा करके दुष्ट परिणामी नरक के जीवों को अधोभाग में रखा, देवों को ऊर्ध्व भाग में रखा, लोक के चारों

ओर अनेक महान अलंघ्य समुद्र तथा उनके चारों ओर घनोदधि घन और तनु, इस नाम के तीन पवन से लपेटकर विस्तीर्ण कोट कर रखा और बीच में पूर्ण यत्न से मनुष्य प्राणी को रखा...' और स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २९७ में भी बतलाया है कि 'जैसे महान समुद्र में गिर गया हुआ रत्न फिर से प्राप्त होना दुर्लभ है, इसी प्रकार यह मनुष्यपना प्राप्त होना दुर्लभ है – ऐसा निश्चय करके, हे भव्य जीवो! इस मिथ्यात्व और कषाय को छोड़ो ऐसा श्रीगुरुओं का उपदेश है।' इसलिए यह अमूल्य दुर्लभ मनुष्य जन्म मात्र शारीरिक-इन्द्रियजन्य सुख और उनकी प्राप्ति के लिये खर्च करने योग्य नहीं है, परन्तु उसके एक भी पल को व्यर्थ न गँवा कर, मात्र और मात्र शीघ्रता से शाश्वत् सुख ऐसे आत्मिक सुख की (सम्यग्दर्शन की) प्राप्ति के लिये लगाना ही योग्य है अर्थात् यदि यह भव सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना गया तो फिर अनन्त काल तक ऐसा सम्यग्दर्शन पाने के योग्य भव प्राप्त होना दुर्लभ ही है इसलिए सर्व जनों को हमारी प्रार्थना है कि आपको अपना वर्तमान पूर्ण जीवन सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये ही लगाना योग्य है और इसीलिए हम प्रस्तुत पुस्तक में सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये जिस विषय का मनन-चिन्तन करके उसी में एकत्व करने योग्य है ऐसा 'दृष्टि का (सम्यग्दर्शन का) विषय' बतलायेंगे।

* * *

३

सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शन, यह मोक्षमार्ग का द्वार है अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन के बिना मोक्षमार्ग में प्रवेश ही नहीं होता और मोक्षमार्ग में प्रवेश के बिना अव्याबाध सुख का मार्ग ही साध्य नहीं होता अर्थात् मोक्षमार्ग में प्रवेश और बाद के पुरुषार्थ से ही सिद्धत्वरूप मार्गफल मिलता है, अन्यथा नहीं। सम्यग्दर्शन के बिना भवकटी भी नहीं होती क्योंकि सम्यग्दर्शन होने के बाद ही जीव अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल से अधिक संसार में नहीं रहता, वह अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल में अवश्य सिद्धत्व को प्राप्त करता ही है जो कि सत्-चित्-आनन्दस्वरूप शाश्वत् है। इसलिए समझ में आता है कि इस मानव भव में यदि कुछ भी करने योग्य हो तो वह एकमात्र निश्चय सम्यग्दर्शन ही प्रथम में प्रथम प्राप्त करने योग्य है जिससे स्वयं को मोक्षमार्ग में प्रवेश मिले और पुरुषार्थ प्रस्फुटित होने पर आगे सिद्धपद की प्राप्ति हो।

यहाँ यह समझना आवश्यक है कि जो सच्चे देव-गुरु-धर्म के प्रति श्रद्धारूप अथवा तो नवतत्त्व की श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन है, वह तो मात्र व्यवहारिक (उपचाररूप) सम्यग्दर्शन भी हो सकता है जो कि मोक्षमार्ग में प्रवेश के लिये कार्यकारी नहीं गिना जाता, क्योंकि निश्चयनय के मत से जो एक को अर्थात् आत्मा को जानता है वही सर्व को अर्थात् सात/नौ तत्त्वों को और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को जानता है क्योंकि एक आत्मा को जानने से ही वह जीव सच्चे देव तत्त्व का आंशिक अनुभव करता है, इससे वह सच्चे देव को अन्तर से पहिचानता है और वैसे सच्चे देव को जानते ही अर्थात् श्रद्धा होते ही वह जीव वैसे देव बनने के मार्ग में चलते सच्चे गुरु को भी अन्तर से पहिचानता है और साथ ही साथ वह जीव वैसे देव बनने का मार्ग बतलानेवाले सच्चे शास्त्र को भी पहिचानता है। इस प्रकार स्वानुभूति (स्व की अनुभूति) सहित का सम्यग्दर्शन अर्थात् भेदज्ञानसहित का सम्यग्दर्शन ही निश्चय सम्यग्दर्शन कहलाता है और उसके बिना मोक्षमार्ग में प्रवेश भी शक्य नहीं है; इसलिए यहाँ बतलाया गया सम्यग्दर्शन, वह निश्चय सम्यग्दर्शन ही समझना।

दूसरा, सम्यग्दर्शन के लिए जितना भेदज्ञान आवश्यक है अर्थात् पुद्गल और उसके लक्ष्य से होनेवाले भावों से आत्मा का भेदज्ञान जितना जरूरी है, उतनी द्रव्य-गुण-पर्याय की समझ आवश्यक न होने पर भी, जिसने उस द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप वस्तु व्यवस्था अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप वस्तु व्यवस्था विपरीतरूप से धारण की हो तो उसके लिये यहाँ प्रथम द्रव्य-गुण-

पर्यायरूप और उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप वस्तु व्यवस्था सम्यक्रूप से बतलाते हैं, उस पर विचार करना योग्य है और वह जैसा है वैसा प्रथम स्वीकार करना परम आवश्यक है, क्योंकि जैन समाज में एक वर्ग ऐसा भी है कि जिसने वस्तुव्यवस्था को ही विकृत कर दिया है; वे द्रव्य और पर्याय को इस हद तक अलग मानते हैं मानो वे दो अलग द्रव्य ही हों! वे एक अभेद द्रव्य में उपजा (कल्पना) करके बतलाये हुए गुण-पर्याय को भी भिन्न समझते हैं अर्थात् द्रव्य का सम्यक् स्वरूप समझाने के लिए द्रव्य को अपेक्षा से गुण और पर्याय से भिन्न बतलाया है, उसे वे वास्तविक भिन्न समझते हैं; द्रव्य और पर्याय को दो भाव न मानकर वे उन्हें दो भागरूप मानने तक की प्ररूपणा करते हैं और आगे उसमें भी सामान्य-विशेष ऐसे दो भाग की कल्पना करते हैं। इस प्रकार वस्तुव्यवस्था को ही विकृतरूप से धारण करके तथा विकृतरूप से प्ररूपणा करके वे स्वयं संसार का अन्त करनेवाले धर्म से तो दूर रहते ही हैं और तदुपरान्त वे जाने-अनजाने अनेक लोगों को भी संसार के अन्त से दूर रखते हैं, जो बात अत्यन्त करुणा उपजानेवाली है; इसलिए यहाँ प्रथम हम वस्तु व्यवस्था पर विस्तार से प्रकाश डालते हैं।

◆

४

द्रव्य-गुण व्यवस्था

संक्षिप्त में कहना हो तो द्रव्य, वह गुणों का समूह है और उस द्रव्य की वर्तमान अवस्था को पर्याय कहा जाता है। यदि किसी को ऐसा प्रश्न हो कि गुणों का समूह अर्थात् गेहूँ की थैली समान या दूसरे किसी प्रकार? उत्तर - वह गेहूँ की थैली जैसा नहीं अर्थात् जैसे थैली में अलग-अलग गेहूँ है उसी प्रकार द्रव्य में गुण नहीं है, परन्तु वे गुण द्रव्य में, शक्कर में मिठास की तरह है अर्थात् द्रव्य के सम्पूर्ण भाग में (क्षेत्र में) अर्थात् प्रत्येक प्रदेश में (प्रदेश अर्थात् क्षेत्र का छोटे से छोटा अंश) है। अर्थात् द्रव्य के प्रत्येक प्रदेश में, उस द्रव्य के समस्त (अनन्तानन्त) गुण रहते हैं और उन्हें दूसरे प्रकार से ऐसा कहा जा सकता है कि एक अखण्ड द्रव्य में रही हुई अनन्तानन्त विशेषताओं को उस द्रव्य के अनन्तानन्त गुणरूप से वर्णन किया है, बतलाया है। उन सर्व विशेषताओं के समूह को द्रव्य (वस्तु) रूप से बतलाया है, वह वस्तु (द्रव्य) तो अभेद-एक ही है परन्तु उसकी विशेषताओं को दर्शाने के लिए ही उसमें गुणभेद किया है, अन्यथा वहाँ कोई क्षेत्र भेदरूप गुणभेद है ही नहीं। वहाँ तो मात्र एक वस्तु में रही हुई अनन्तानन्त विशेषताओं को बतलाने के लिए ही गुणभेद का सहारा लिया है, वह वस्तु में वास्तविक कोई भेद ही नहीं है, क्योंकि वस्तु अभेद ही है; इसलिए उसे कथंचित् भेद-अभेदरूप बतलाया है अर्थात् वहाँ सर्वथा न तो भेद है और न तो अभेद है परन्तु वस्तु अपेक्षा से अभेद है और गुणों की अपेक्षा से भेद है। इसलिए उसे कथंचित् भेद-अभेदरूप बतलाया है। इसका अर्थ यह है कि उस वस्तु में एक ही गुण है ऐसा नहीं, परन्तु उस वस्तु में अनन्तानन्त विशेषताएँ अर्थात् गुण हैं। इस अपेक्षा से ही भेद कहलाता है परन्तु वहाँ वस्तु में कुछ भी वास्तविक भेद नहीं, इस अपेक्षा से अभेद ही कहलाती है, इसलिए अभेदनय को ही कार्यकारी बतलाया है और भेदनयमात्र वस्तु का स्वरूप समझाने के लिए बतलाया गया भेदरूप व्यवहारमात्र ही है क्योंकि निश्चय से वस्तु एक अभेद ही है।

यहाँ हम श्री पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध की (पण्डित देवकीनन्दनजी कृत हिन्दी टीका के आधार से सरल गुजराती टीका, अनुवादक सोमचन्द अमथालाल शाह-प्रकाशक- भगवान श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला, पुष्प ३१ - आवृत्ति -१) गाथाओं पर विचार करेंगे।

गाथा ३५ :- अन्वयार्थ :- 'दूसरे पक्ष में अर्थात् अखण्ड अनेक प्रदेशी वस्तु मानने में निश्चय से जो गुणों का परिणमन होता है, वह द्रव्य के सर्व प्रदेशों में समान होता है, और वह

ठीक है क्योंकि हिलाया गया एक बाँस अपने सभी पर्वों में-एक-एक गाँठ में हिल जाता है।' इस प्रकार द्रव्य अखण्ड है और सर्व प्रदेशों में रहे हुए सर्व गुण सर्व प्रदेश में परिणमते हैं।

गाथा ३९ :- अन्वयार्थ :- 'इन गुणों का आत्मा ही द्रव्य है क्योंकि ये गुण देश से (द्रव्य से) भिन्न सत्तावाले नहीं हैं। निश्चय से देश में (द्रव्य में) विशेष (गुण) नहीं रहते परन्तु वे विशेष (गुण) द्वारा ही देश (द्रव्य) वैसा गुणमय ज्ञात होता है।' अर्थात् गुण है, वही द्रव्य है, दूसरा कोई द्रव्य नहीं है।

गाथा ४५ :- अन्वयार्थ :- 'इसलिए यही निर्दोष है कि इस निर्विशेष-निर्गुण द्रव्य के विशेष ही गुण कहलाते हैं और वे प्रतिक्षण कथंचित् परिणमनशील हैं।'

अर्थात् द्रव्य में गुणों के अतिरिक्त कुछ ही नहीं और वे सर्व गुण शाश्वत (टिकते) और परिणमते हैं अर्थात् जो टिकते हैं वे ही टिककर परिणमते भी हैं, वे कूटस्थ नहीं हैं। कथंचित् का अर्थ यह है कि जो टिकता है वही परिणमता है मात्र अपेक्षा से टिकता और परिणमता कहने में आता है। अर्थात् जो टिकता है उसका वर्तमान-वही उसका परिणमन और उसमें कोई वास्तविक भेद न होने से उसे कथंचित् कहा है।

गाथा १०५ :- अन्वयार्थ :- 'प्रगट है अर्थ जिसका ऐसे गुणों के लक्षण सम्बन्धी पदों का सारांश यह है कि समान हैं प्रदेश जिसके ऐसे एक साथ रहनेवाले जो विशेष हैं, वे ही (विशेष) ज्ञान द्वारा भिन्न करने पर क्रम से श्रेणीकृत गुण जानना।'

भावार्थ - 'अनन्त गुणों के समुदाय का नाम द्रव्य है। द्रव्य के सम्पूर्ण प्रदेशों में जैसे एक विवक्षित गुण रहता है, उसी तरह द्रव्य के सब गुण भी उस द्रव्य के उन्हीं सब प्रदेशों में युगपत (एक साथ) रहते हैं। इसलिए द्रव्य के सभी गुण समान प्रदेशवाले अर्थात् अभिन्न हैं। वस्तुतः इनमें कोई भेद नहीं तथापि श्रुत ज्ञानान्तर्गत नयज्ञान से विभक्त (भिन्न-भिन्न) करने पर उनकी भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ हो जाती हैं क्योंकि वस्तु में खण्ड कल्पना नयज्ञान के कारण से ही होती है।' अर्थात् वस्तु अभेद ही है, इसलिए किसी भी भेद की कल्पना वह नयज्ञान ही है।

गाथा ४९१ :- अन्वयार्थ :- '....इन सब गुणों की एक ही सत्ता होने से इन सब गुणों में अखण्डितपना प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है।'

गाथा ४९२ :- अन्वयार्थ :- ''इसलिए ये कथन निर्दोष है कि - यद्यपि भाव की अपेक्षा से सत् अखण्डित एक है, तथापि वह सर्व कथन विवक्षावश से है।' 'सर्वथा' उसी नय से नहीं।''

भावार्थ – ''इसलिए हमारा यह कहना ठीक है कि भाव की अपेक्षा से भी 'सत्' एक और अखण्डित है तथा ऐसा कहना वह भी नय विशेष की विवक्षा से है परन्तु सर्वथा नहीं।'' अर्थात् अभेदनय से है, भेदनय से नहीं।

गाथा १४३ :- अन्वयार्थ :- 'सत्ता, सत्त्व अथवा सत्, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ और विधि ये नौ शब्द सामान्यरूप से एक द्रव्यरूप अर्थ के ही वाचक हैं।'

इसलिए यदि ऐसा कहने में आवे कि एक सत्ता के दो सत् हैं या तीन सत् हैं या चार सत् हैं या अनन्त सत् हैं तो यह कथन भेदनय की अपेक्षा से समझना। क्योंकि सत्ता और सत् ये दोनों एकार्थवाचक ही हैं, तथापि भेद की अपेक्षा से एक सत्ता के दो, तीन, चार, अथवा अनन्त भेद करके भेदनय से कथन किया जा सकता है परन्तु वास्तव में (वस्तुत:) तो सत् कहो या सत्ता कहो, वह एक, अभेद ही है अर्थात् जो भी भेद किये हैं, वे तो मात्र वस्तु को समझाने के लिए ही हैं, भेदरूप व्यवहारमात्र ही है।

गाथा ५२४ :- अन्वयार्थ :- 'अनन्त धर्मवाले एक धर्मी के विषय में आस्तिक्य बुद्धि होना, वही इस व्यवहारनय का फल है...' अर्थात् व्यवहाररूप भेद मात्र आस्तिक्य बुद्धि होने के लिए ही है, अन्यथा नहीं।

भावार्थ :- ''पूर्वोक्त प्रकार के व्यवहार को मानने का प्रयोजन यह है कि 'वस्तु के अनन्त धर्म होने पर भी वह एक अखण्ड वस्तु है' ऐसी प्रतीति करना, अर्थात् गुण-गुणी अभेद होने से गुणों को जानने पर गुणी का सुप्रतीत (पहिचान) जीव को हो तो यह व्यवहारनय का यथार्थ फल आया कहलाता है। व्यवहार के आश्रय का फल विकल्प – राग-द्वेष है, इसलिए भेद का आश्रय न करके अर्थात् इस नय द्वारा कहे हुए गुण के भेद में न रुककर अभेद द्रव्य की प्रतीति करना वह इस नय के ज्ञान का फल है, यह फल न आवे तो वह नयज्ञान यथार्थ नहीं है।''

गाथा ६३४-६३५ :- अन्वयार्थ :- 'निश्चय से व्यवहारनय अभूतार्थ है (अर्थात् सम्यग्दर्शन के लिए अर्थात् आत्मा की अभेद अनुभूति के लिए कार्यकारी नहीं है) उसमें यह कारण है कि यहाँ सूत्र में जो द्रव्य को गुणवाला कहा है, उसका अर्थ करने से यहाँ पर गुण, अलग है, द्रव्य अलग है तथा गुण के योग से वह द्रव्य गुणवाला कहलाता है ऐसा अर्थ सिद्ध होता है (ज्ञात होता है) परन्तु वह ठीक नहीं है क्योंकि न गुण है, न द्रव्य है, न उभय है, न इन दोनों का योग है परन्तु केवल अद्वैत सत् (अभेदद्रव्य) है तथा उसी सत् को चाहे गुण मानो अथवा द्रव्य मानो, परन्तु वह भिन्न नहीं अर्थात् निश्चय से अभिन्न ही है।'

भावार्थ - ''व्यवहारनय से 'गुणवद्द्रव्यं' गुणवाले को द्रव्य कहने से ऐसा बोध हो सकता है कि गुण और द्रव्य भिन्न-भिन्न वस्तु है तथा गुण के योग से द्रव्य, द्रव्य कहलाता है, परन्तु ऐसा अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि न गुण है, न द्रव्य है, न दोनों हैं या न दोनों का योग है परन्तु निश्चयनय से केवल एक अद्वैत, अभिन्न, अखण्ड सत् ही है उसे ही, चाहे गुण कहो, चाहे द्रव्य कहो अथवा जो चाहो वह कहो! सारांश - ''

गाथा ६३६ :- अन्वयार्थ :- 'इसलिए यह न्याय से सिद्ध हुआ कि व्यवहारनय है तो भी वह अभूतार्थ है तथा वास्तव में उसका अनुभव करनेवाले जो मिथ्यादृष्टि हैं वे भी यहाँ खण्डित हो चुके।' अर्थात् जो द्रव्य को अभेद-अखण्ड अनुभव नहीं करते, उन्हें नियम से भ्रमयुक्त मिथ्यादृष्टि मानना।

भावार्थ - ''व्यवहारनय, उक्त प्रकार के भेद को विषय करता है क्योंकि विधिपूर्वक भेद करना वही 'व्यवहार' शब्द का अर्थ है; इसलिए सिद्ध होता है कि व्यवहारनय अभूतार्थ ही है - परमार्थभूत नहीं तथा वास्तव में उसका अनुभव करनेवाले मिथ्यादृष्टि हैं, वे भी नष्ट हो चुके (अर्थात् वे अनन्त संसारी हो चुके)....'' अर्थात् जो भेद में ही रमते हों और भेद की ही प्ररूपणा करते हों उन्हें कभी अभेद द्रव्य अनुभव में ही आनेवाला नहीं है; इसलिए वे मिथ्यादृष्टि हैं - नष्ट हो चुके समान हैं।

गाथा ६३७ :- अन्वयार्थ :- 'शंकाकार कहता है कि यदि ऐसा कहो तो नियम से निश्चयपूर्वक निश्चयनय ही आदर करने योग्य मानना चाहिए क्योंकि अकिंचित्कारी होने से अपरमार्थभूत व्यवहारनय से क्या प्रयोजन है? यदि ऐसा कहो तो' - अर्थात् शंकाकार एकान्त से निश्चयनय ही मानना चाहिए ऐसा कहता है। उत्तर -

गाथा ६३८-६३९ :- अन्वयार्थ :- 'इस प्रकार कहना ठीक नहीं क्योंकि यहाँ आगे द्विप्रतिपत्ति होने पर तथा संशय की आपत्ति आने पर और वस्तु का विचार करने में बलपूर्वक व्यवहारनय प्रवर्त होता है अथवा जो ज्ञान दोनों नयों का अवलम्बन करनेवाला है, वही प्रमाण कहलाता है; इसलिए प्रसंगवश वह व्यवहारनय किसी के लिये ऊपर के (ऊपर बताये हुए) कार्यों के लिए आश्रय करने योग्य है, परन्तु सविकल्प ज्ञानवालों की भाँति निर्विकल्प ज्ञानवालों को वह श्रेयभूत नहीं है।' अर्थात् वह मिथ्यात्वी को तत्त्व समझने/समझाने के लिए आश्रय करनेयोग्य है परन्तु सम्यग्दृष्टियों को अनुभवकाल में उसका आश्रय नहीं होता अर्थात् वह श्रेयभूत नहीं है।

* * *

५

द्रव्य-पर्याय व्यवस्था

द्रव्य और गुण की व्यवस्था देखी, अब हम पर्याय के विषय में विचार करेंगे - गुणों के समुदायरूप अभेद द्रव्य (वस्तु) है तो उसमें पर्याय कहाँ रहती है? उत्तर - पर्याय द्रव्य के सर्वभाग में (पूर्ण क्षेत्र में) रहती है क्योंकि गुणों के समूहरूप अभेद द्रव्य का जो वर्तमान है अर्थात् उसकी जो वर्तमान अवस्था है (परिणमन है) उसे ही उस द्रव्य की पर्याय कहने में आती है और उस अभेद पर्याय में ही विशेषताओं की अपेक्षा से अर्थात् गुणों की अपेक्षा से उसमें (अभेद पर्याय में) ही भेद करके उसे गुणों की पर्याय कहा जाता है। इस कारण कहा जा सकता है कि जितना क्षेत्र द्रव्य का है, वह और उतना ही क्षेत्र गुणों का है और वह तथा उतना ही क्षेत्र पर्याय का भी है; इसलिए ही द्रव्य-पर्याय को-व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध कहा जाता है।

यही बात प्रवचनसार गाथा ११४ में भी कही है कि 'द्रव्यार्थिक (नय) द्वारा सम्पूर्ण (अर्थात् पूर्ण द्रव्य) द्रव्य है; और फिर पर्यायार्थिक (नय) द्वारा वह (द्रव्य) अन्य-अन्य है क्योंकि उस काल में तन्मय होने के कारण (द्रव्य पर्यायों से) अनन्य है।'

यहाँ किसी को प्रश्न हो कि तो द्रव्य और पर्याय के प्रदेश भिन्न हैं ऐसा किस प्रकार कहा जा सकता है?

उत्तर - भेदविवक्षा में जब एक अभेद-अखण्ड द्रव्य में भेद उत्पन्न करके समझाया जाता है तब द्रव्य और पर्याय, ऐसे वस्तु के 'दो भावों' को स्वचतुष्टय की अपेक्षा से ऐसा कहा जा सकता है कि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं, परन्तु वास्तव में वहाँ कोई भिन्नता ही नहीं है, वे दोनों अभेद ही हैं, तन्मय ही हैं अर्थात् एक ही आकाश प्रदेशों को अवगाह कर रहे हुए हैं। जैसे स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २७७ में बतलाया है कि 'वस्तु जिस काल में जिस स्वभाव से परिणमनरूप होती है, उस काल में उस परिणाम से तन्मय होती है...' और पंचास्तिकाय संग्रह गाथा ९ में भी बतलाया है कि 'उन-उन सदभाव पर्यायों को जो द्रवता है-प्राप्त होता है, उसे (सर्वज्ञों) द्रव्य कहते हैं जो कि सत्ता से (अर्थात् द्रव्य से) अनन्यभूत है।'

इस अभेद पर्याय को, आकार की अपेक्षा से व्यंजनपर्याय अथवा द्रव्यपर्याय कहा जाता है और उसी अभेद पर्याय को विशेषताओं की अपेक्षा से गुणपर्याय अथवा अर्थपर्याय भी कहा

जाता है। यहाँ समझने का यह है कि जो गुणों के समूहरूप द्रव्य है, उसका कोई न कोई आकार अवश्य होगा और उसका कोई न कोई रूप और कार्य भी अवश्य होगा ही अर्थात् उसमें जो आकार है, उसे उस द्रव्य की द्रव्यपर्याय अथवा व्यंजनपर्याय कहा जाता है और जो उसका वर्तमान कार्य है (परिणाम है=अवस्था है), उसे उस द्रव्य की गुणपर्याय अथवा अर्थपर्याय कहा जाता है।

जैसे हमने ऊपर देखा, वैसे भेदरूप व्यवहार, अभूतार्थ है, वह मात्र तत्त्व समझने अथवा समझाने के लिये प्रयोग में लिया जाता है, अन्यथा वह कार्यकारी नहीं है और वस्तु का स्वरूप तो अभेद ही है और वही भूतार्थ है। इसीलिए सर्व कथन अपेक्षा से ग्रहण करना योग्य है, अन्यथा अर्थ का अनर्थ हो जाता है अर्थात् उसे जो कोई एकान्त से ग्रहण करे अथवा समझावे तो वह मिथ्यादृष्टि है और वह नष्ट हो चुका है अर्थात् यह मनुष्यभव हार चुका है। (ऊपर बतलायी गाथा ६३६ देखना)

प्रत्येक वस्तु का कार्य वस्तु से अभेद ही होता है और उसे ही उसका उपादानरूप परिणमन कहा जाता है और उस कार्य को अथवा अवस्था को, वर्तमान समय अपेक्षा से वर्तमान पर्याय कहा जाता है; इस कारण से कहने के लिये ऐसा कहा जा सकता है कि – पर्याय द्रव्य में से आती है, और द्रव्य में ही जाती है क्योंकि कोई भी द्रव्य (वस्तु) का कार्य उससे अभेद ही होता है, तथापि भेदनय से ऐसा कथन किया जा सकता है परन्तु इस कारण से वे दोनों भिन्न–भिन्न हैं – ऐसा नहीं है। द्रव्य और पर्याय को कथंचित् भिन्न कहा जाता है वह इस अपेक्षा से।

कोई भी द्रव्य है वह नित्य है परन्तु कूटस्थ नित्य नहीं क्योंकि यदि उस वस्तु का कोई भी कार्य ही नहीं मानने में आये तो उस वस्तु का ही अभाव हो जायेगा, इसलिए प्रत्येक नित्य वस्तु का, जो वर्तमान कार्य है उसे ही उसकी पर्याय कहने में आती है और ऐसी भूत–भविष्य और वर्तमान की पर्यायों का समूह ही द्रव्य (वस्तु) है। अर्थात् अनुस्यूति से रचित पर्यायों का समूह, वही द्रव्य है।

वस्तु का स्वभाव है कि वह कायम रहकर परिणमती है। इसलिए उस वस्तु में एक टिकता भाव है और एक परिणमता भाव है, उसमें से जो टिकता भाव है उसे नित्यरूप अर्थात् द्रव्य कहा जाता है, त्रिकाली ध्रुव कहा जाता है, और जो परिणमता भाव है, उसे पर्याय कहा जाता है, अर्थात् वस्तु में एक टिकता भाग और एक परिणमता भाग ऐसे दो भाग अर्थात् विभाग नहीं हैं। यदि ऐसे कोई विभाग मानने में आवे तो वस्तु एक–अखण्ड–अभेद न रहकर दो – भिन्न हो जाये

और एक भाग कूटस्थ अर्थात् एक द्रव्य कूटस्थरूप हो जाये और दूसरा भाग क्षणिक अर्थात् दूसरा द्रव्य क्षणिक हो जाये और ऐसा होने से, वस्तु की सिद्धि ही न हो क्योंकि ऊपर बतलाये अनुसार कोई भी द्रव्य उसके कार्य बिना कूटस्थ नहीं होता और कोई वस्तु क्षणिक हो तो उस वस्तु का ही अभाव हो जाये, इससे ऐसे दो दोष वस्तु व्यवस्था न समझने से आ जायेंगे और वस्तु की सिद्धि ही नहीं होगी।

इसलिए प्रथम बतलाये अनुसार वस्तु का जो वर्तमान है, अर्थात् उसकी जो अवस्था है, उसे ही पर्याय समझना अत्यन्त आवश्यक है। और वह ऐसा ही है अर्थात् जब ऐसा कहा जाये कि पर्याय तो द्रव्य में से ही आती है और द्रव्य में ही जाती है तो ऐसे कथन को ऊपर बतलाये अनुसार अपेक्षा से मात्र 'व्यवहार' अर्थात् उपचार-कथनमात्र समझना, नहीं कि वास्तविक।

* * *

६

उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप व्यवस्था

अब उत्पाद-व्यय-ध्रुव से भी यही भाव समझते हैं। जो उत्पाद-व्यय है, वह पर्याय है और जो ध्रुव है वह द्रव्य है अर्थात् जो द्रव्य है, वह नित्य है और उससे ही 'यह वही है' ऐसा निर्णय होता है इसलिए उसे ही ध्रुवभाव अथवा अपरिणामी भाव भी कहा जाता है।

जैनधर्म में ध्रुवभाव, वह एकान्त अपरिणामी अर्थात् कूटस्थ नहीं परन्तु वह परिणमनशील वस्तु है। जैसे स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २२६ में बतलाया है कि - 'और एकान्तस्वरूप द्रव्य है, वह लेशमात्र भी कार्य नहीं करता तथा जो कार्य नहीं करे, वह द्रव्य ही कैसा? वह तो शून्यरूप जैसा है।' भावार्थ - 'जो अर्थक्रियारूप हो, उसे ही परमार्थ वस्तु कही है परन्तु जो अर्थक्रियारूप नहीं, वह तो आकाश के फूल की भाँति शून्यरूप है।' अर्थात् जो अपने कार्यसहित की वस्तु है, उसका जो टिकता भाव है, वही ध्रुवभाव अथवा अपरिणामी भाव है और उस वस्तु का जो कार्य है अर्थात् उसका जो वर्तमानभाव अथवा उसकी जो वर्तमान अवस्था है, उसे ही उसका परिणमता भाव कहा जाता है, उसे ही उत्पाद-व्यय कहा जाता है। वह इस प्रकार कि पुरानी पर्याय का क्षय और नयी पर्याय का उत्पाद, यह उत्पाद-व्यय किसी नयी वस्तु के उत्पाद-व्ययरूप नहीं, वे तो मात्र एक वस्तु के (द्रव्य के) एक समय पहले के रूप का व्यय और वर्तमान समय के रूप का उत्पाद ही है अर्थात् एक-अभेद-अखण्ड-अभिन्न वस्तु का समय अपेक्षा से कार्य (परिणमन), वही उसका उत्पाद-व्ययरूप पर्याय कही जाती है।

वहाँ कोई वास्तविक उत्पाद-व्यय अथवा आना-जाना नहीं, परन्तु वस्तु नित्य परिणमती रहती है अर्थात् अनुस्युति से रचित पर्यायों का समूह, वही वस्तु और उसमें समय अपेक्षा से उत्पाद-व्यय कहा जाता है अर्थात् उसी वस्तु को वर्तमान से देखने पर उसे उस द्रव्य की वर्तमान अवस्था-पर्याय कहा जाता है अर्थात् वस्तु में उत्पाद-व्यय-ध्रुव ऐसे वास्तविक भेद न होने पर भी, मात्र 'व्यवहार' से ही, भेदनय की अपेक्षा से ऐसा कहा जाता है। उसका फल मात्र वस्तु का स्वरूप समझाने तक ही है, नहीं कि भेद में ही अटक जाने के लिये क्योंकि भेद में ही अटकने से वस्तु का अभेद स्वरूप पकड़ में नहीं आता कि जो स्वात्मानुभूति के लिये कार्यकारी है।

* * *

७

दृष्टि भेद से भेद

वस्तु में सर्व भेद दृष्टि अपेक्षा से हैं, नहीं कि वास्तविक। जैसे कि-प्रमाणदृष्टि से देखने पर वस्तु द्रव्य-पर्यायमय है अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप ही है, जबकि उसी वस्तु को पर्यायदृष्टि से देखने में आवे अर्थात् उसे मात्र उसके वर्तमान कार्य से, उसकी वर्तमान अवस्था से ही देखने में आवे तो वह वस्तु मात्र उतनी ही है अर्थात् पूर्ण द्रव्य उस समय मात्र वर्तमान अवस्थारूप ही ज्ञात होता है अर्थात् उस वर्तमान अवस्था में ही पूर्ण द्रव्य छुपा हुआ है कि जो भाव समयसार गाथा १३ में दर्शाया गया है अर्थात् वर्तमान, त्रिकाली का ही बना हुआ है। जैसे स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २६९ में बतलाया है कि 'जो नय वस्तु को मात्र विशेषरूप से (पर्याय से) अविनाभूत (अर्थात् पर्यायरहित द्रव्य नहीं परन्तु पर्याय सहित द्रव्य को अर्थात्) सामान्यरूप को नानाप्रकार की युक्ति के बल से (अर्थात् पर्याय को गौण करके द्रव्य को) साधे वह द्रव्यार्थिकनय (द्रव्यदृष्टि) है।' भावार्थ- 'वस्तु का स्वरूप सामान्य विशेषात्मक है। विशेष के बिना सामान्य नहीं होता...' और गाथा २७० में भी बतलाया है कि 'जो नय अनेक प्रकार से सामान्य सहित सर्व विशेष को उसके साधन का जो लिंग (चिह्न) उसके वश से साधता है, वह पर्यायार्थिकनय (पर्यायदृष्टि) है।' भावार्थ-'सामान्य (द्रव्य) सहित उसके विशेषों को (पर्यायों को) हेतुपूर्वक साधे (अर्थात् द्रव्य को गौण करके पर्याय को ग्रहण करे), वह पर्यायार्थिकनय (पर्यायदृष्टि) है....' अर्थात् पूर्ण द्रव्य जब मात्र वर्तमान अवस्थारूप-पर्यायरूप ही ज्ञात होता है, उसे ही पर्यायदृष्टि कहा जाता है और उस समय उस वर्तमान पर्याय में ही पूर्ण द्रव्य छुपा हुआ है।

इसलिए यदि ऐसा कहा जाये कि वर्तमान पर्याय का सम्यग्दर्शन के विषय में समावेश नहीं, तो वहाँ समझना पड़ेगा कि किसी भी द्रव्य की वर्तमान पर्याय का लोप होते ही, पूर्ण द्रव्य का ही लोप हो जायेगा, वहाँ वस्तु का ही अभाव हो जायेगा; इसलिए दृष्टि के विषय में (सम्यग्दर्शन के विषय में) वर्तमान पर्याय का अभाव न करके, मात्र उसमें रही हुई अशुद्धि को (विभावभाव को) गौण करने में आता है; जो हम आगे बतलायेंगे-समझायेंगे।

उसी पूर्ण वस्तु को यदि द्रव्यदृष्टि से देखने में आवे तो वह सम्पूर्ण वस्तु मात्र द्रव्यरूप ही-ध्रुवरूप ही-अपरिणामीरूप ही ज्ञात होती है, वहाँ पर्याय ज्ञात ही नहीं होती क्योंकि तब पर्याय उस द्रव्य में अन्तर्भूत हो जाती है अर्थात् पर्याय गौण हो जाती है और पूर्ण वस्तु ध्रुवरूप-द्रव्यरूप

ही ज्ञात होती है इसीलिए ही द्रव्यदृष्टि कार्यकारी है यह बात हम आगे विस्तार से बतलायेंगे।

यहाँ बतलाये अनुसार द्रव्य-गुण-पर्याय और उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप वस्तु व्यवस्था सम्यक्रूप से न समझ में आयी हो अथवा तो विपरीत रूप धारणा हुई हो तो, सर्व प्रथम उसे सम्यक्रूप से समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि उसके बिना सम्यक् दर्शन का विषय समझना अशक्य ही है। इसलिए अब हम यही भाव शास्त्र के आधार से भी दृढ़ करेंगे।

◆

८

पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध की वस्तुव्यवस्था दर्शाती गाथाएँ

गाथा ६७ – 'अन्वयार्थ – ......जैसे परिणमनशील आत्मा यद्यपि ज्ञानगुणपने से अवस्थित है तथापि ज्ञानगुण के तरतमरूप अपनी अपेक्षा से अनवस्थित है।'

अर्थात् आत्मा (द्रव्य) परिणमनशील है और फिर भी उसे टिकते भाव से=ज्ञानगुण =ज्ञायकभाव से देखने में आवे तो वह वैसा का वैसा ही ज्ञात होता है अर्थात् अवस्थित है और यदि ज्ञानगुण की ही तारतमतारूप अवस्था से अर्थात् विकल्परूप=ज्ञेयरूप अवस्था से देखने में आवे तो वह वैसा का वैसा नहीं रहता अर्थात् अनवस्थित ज्ञात होता है, यही अनुक्रम से द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि है।

गाथा ६८–६९ अन्वयार्थ – 'यदि ऊपर के कथन अनुसार गुण–गुणांश की (गुण–पर्याय की) कल्पना न मानने में आवे तो द्रव्य, गुणांश की भाँति निरंश हो जाता अथवा वह द्रव्य, कूटस्थ की भाँति नित्य हो जाता, परिणमनशील बिल्कुल नहीं होता अथवा क्षणिक हो जाता अथवा यदि तुम्हारा ऐसा अभिप्राय हो कि अनन्त अविभागी गुणांशों का मानना तो ठीक है परन्तु उन सब निरंश अंशों का परिणमन समान अर्थात् एक सरीखा होना चाहिए परन्तु तारतमरूप (तीव्र–मंदरूप) नहीं होना चाहिए।'

भावार्थ – 'द्रव्यार्थिकनय से वस्तु अवस्थित है तथा पर्यायार्थिकनय से वस्तु अनवस्थित है। इस प्रकार की (वस्तु में) प्रतीति होने के कारण से गुण–गुणांश कल्पना सार्थक है ऐसा पहले सिद्ध किया है, अब उसी (वस्तुस्वरूप को) दृढ़ करने के लिये व्यतिरेकरूप से ऊहापोह की जाती है कि–यदि गुण–गुणांश कल्पना मानने में न आवे तो द्रव्य के स्वरूप में चार अनिष्ट पक्ष उत्पन्न होने का प्रसंग आयेगा, और वे इस प्रकार :– १. एक गुणांश की भाँति द्रव्य को निरंश मानना पड़ेगा; २. द्रव्य में मात्र गुणों का ही सद्भाव मानने से कीलक की भाँति उसे कूटस्थ अर्थात् अपरिणामी मानना पड़ेगा; ३. गुणों के अतिरिक्त मात्र गुणांश कल्पना ही मानने पर उसे (द्रव्य को) क्षणिक मानना पड़ेगा; तथा ४. गुणों के अनन्त अंश मानने पर भी उनका समान परिणमन मानना पड़ेगा परन्तु तरतम अंशरूप नहीं माना जा सकेगा।'

गाथा ७० – अन्वयार्थ – 'ऊपर के चारों पक्ष भी दोषयुक्त हैं क्योंकि वे प्रत्यक्षरूप से बाधित हैं और वे प्रत्यक्ष बाधित इसलिए हैं कि – उन पक्षों को सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण

नहीं तथा उनके साधक प्रमाण का अभाव इसलिए है कि – उन पक्षों की सिद्धि के लिए इस लोक में कोई दृष्टान्त भी नहीं मिल सकता।'

अर्थात् द्रव्य को परिणामी सिद्ध किया और फिर भी उसे टिकते भाव की अपेक्षा से अपरिणामी भी कहा जाता है परन्तु एकान्त से नहीं क्योंकि जैन सिद्धान्त में अनेकान्त की ही जय होती है, नहीं कि एकान्त की।

गाथा ८३–८४ – अन्वयार्थ – 'जैसे आम के फल में स्पर्श, रस, गंध और वर्ण ये चारों पुद्गल द्रव्य के गुण अपने–अपने लक्षण से भिन्न हैं तथा निश्चय से वे सब अखण्ड देशी (द्रव्य) होने से किसी भी प्रकार से पृथक् भी नहीं किये जा सकते। इसलिए जैसे विशेषरूप होने के कारण से पर्यायदृष्टि से (भेदविवक्षा से) देश, देशांश, गुण और गुणांशरूप स्वचतुष्टय कहा जा सकता है तथा सामान्य रूप की अपेक्षा से अर्थात् द्रव्यार्थिकदृष्टि से (अभेद विवक्षा से) वे ही सब एक आलाप से एक अखण्ड द्रव्य कहे जा सकते हैं।' अर्थात् जो विशेष अपेक्षा से पर्याय है, वही सामान्य अपेक्षा से द्रव्य है, जैसे कि उपादान स्वयं ही कार्यरूप परिणमता है, यह बात तो सर्व विदित है, उसमें उपादान वही द्रव्य है और कार्य है वह पर्याय है, इससे यह बात सिद्ध होती है कि द्रव्य स्वयं ही द्रवता है अर्थात् परिणमता है और द्रव्य स्वयं ही वर्तमान अवस्था की अपेक्षा से पर्याय कहलाता है।

जैसे कि मिट्टी का पिण्ड नष्ट होकर मिट्टी के घड़ेरूप बनने से मिट्टीरूपी द्रव्य की एक पर्याय का नाश हुआ और नयी पर्याय का उत्पाद हुआ, परन्तु दोनों में मिट्टित्व (मिट्टीपना) तो कायम ही रहा, नित्य ही रहा, इस अपेक्षा से कूटस्थ रहा – अपरिणामी रहा। वह इस प्रकार कि मिट्टीरूप द्रव्य किसी अन्य द्रव्यरूप नहीं परिणम जाता, इसलिए उसे इस अपेक्षा से भी कूटस्थ अथवा अपरिणामी कहा जा सकता है और दूसरा, उस पिण्ड और घड़े में मिट्टीपना ऐसा का ऐसा ही रहता है, इस अपेक्षा से भी उसे कथंचित् कूटस्थ अथवा कथंचित् अपरिणामी कहा जा सकता है। अन्यथा एकान्त से अपरिणामी कहने पर तो वहाँ एक भाग अपरिणामी और एक भाग में परिणाम– ऐसा मानने से तो द्रव्य का ही नाश हो जाये और वह द्रव्य द्रवे भी नहीं, इसलिए उसका कुछ कार्य ही न मानने पर द्रव्यपने का ही नाश हो जाये। इस प्रकार उपादान से कार्य को भिन्न मानने से आकाशकुसुमवत्, द्रव्य का ही अस्तित्व न रहे और उसके कार्य का भी अस्तित्व नहीं रहे।

इसलिए इसी प्रकार समझना कि उपादान स्वयं ही कार्यरूप परिणमित हुआ है और इस कारण से उस परिणाम में पूर्ण उपादान उपस्थित ही है अर्थात् परिणाम (कार्य) स्वयं उपादान का

ही बना है अर्थात् जो पर्याय है, वह द्रव्य की ही बनी है, क्योंकि वह द्रव्य का ही वर्तमान है। इसलिए ही उसे द्रव्यदृष्टि से देखने पर, वहाँ मात्र द्रव्य ही ज्ञात होता है – त्रिकाली ध्रुव ही ज्ञात होता है, वहाँ उसकी वर्तमान अवस्था (पर्याय) गौण हो जाती है और उसे ही द्रव्यदृष्टि कहा जाता है। जब कि पर्यायदृष्टि में, उसी द्रव्य को उसकी वर्तमान अवस्था से अर्थात् पर्याय से ही देखने में आने पर द्रव्य गौण हो जाता है, द्रव्य ज्ञात ही नहीं होता, पूर्ण द्रव्य मात्र पर्यायरूप ही भासित होता है। ऐसी ही मुख्य–गौण की व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त दूसरी कोई अभाव की व्यवस्था ही नहीं है, क्योंकि अखण्ड–अभेद द्रव्य में किसी भी अंश का अभाव चाहने पर पूर्ण द्रव्य का ही अभाव हो जाता है–लोप हो जाता है। इसलिए अभाव अर्थात् मुख्य–गौण, अन्यथा नहीं।

गाथा ८९– अन्वयार्थ – 'जैसे वस्तु स्वत:सिद्ध है उसी प्रकार वह स्वत: परिणमनशील भी है इसलिए यहाँ वह सत् नियम से उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्यस्वरूप है।'

भावार्थ – 'जैनदर्शन में जैसे वस्तु का सद्भाव स्वत:सिद्ध माना है (अर्थात् उस वस्तु का कभी नाश नहीं होता और इस अपेक्षा से वह ध्रुव है – नित्य है) इसी प्रकार उसे परिणमनशील भी माना है (अर्थात् द्रव्य स्वयं ही पर्यायरूप परिणमता है), इसीलिए सत् स्वयं ही नियम से उत्पादस्थिति भंगमय है (अर्थात् मिट्टी स्वयं ही पिण्डपना छोड़कर घटरूप होती है)। अर्थात् सत् स्वयं सिद्ध होने से ध्रौव्यमय और परिणमनशील होने से उत्पाद–व्ययमय है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु त्रितयात्मक (उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यमय) है।'

इसलिए कोई ऐसा कहे कि यदि द्रव्य को ही परिणामरूप मानने में आवे तो परिणाम के नाश से द्रव्य का भी नाश हो जायेगा, तो ऐसा नहीं है, क्योंकि उत्पाद–व्यय वह द्रव्य का नहीं परन्तु द्रव्य की अवस्था का है अर्थात् वह द्रव्य ही स्वयं पिण्डपना छोड़कर घटपना धारण करता है और वहाँ पिण्ड का व्यय और घट का उत्पाद कहा जाता है, परन्तु उन दोनों में रही हुई मिट्टीपने का नाश किसी काल में नहीं होता और इसीलिए उसे त्रिकाली ध्रुव अथवा अपरिणामी कहा जाता है; नहीं कि अन्य किसी प्रकार से।

गाथा ९० – अन्वयार्थ – 'परन्तु वह सत् भी परिणाम बिना उत्पाद, स्थिति, भंगरूप नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा मानने से जगत में असत् का जन्म (आकाश के फूल का जन्म) और सत् का विनाश (वृक्ष के फूल का विनाश) दुर्निवार हो जायेगा।'

भावार्थ – 'सत्, केवल स्वत:सिद्ध और परिणमनशील होने के कारण से ही उत्पाद, स्थिति तथा भंगमय मानने में आया है, अर्थात् ये तीनों अवस्थायें हैं क्योंकि प्रतिसमय सत् की अवस्थाओं

में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य हुआ करते हैं परन्तु केवल सत् में नहीं, इसलिए (भेदनय से) उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य को सत् के परिणाम कहने में आता है; यदि ऐसा न मानकर सत् में ही उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य मानने में आवे तो असत् की उत्पत्ति तथा सत् के विनाश का दुर्निवार (निवारण न किया जा सके ऐसा) प्रसंग आयेगा।'

गाथा ९१ – अन्वयार्थ – 'इसलिए नियम से द्रव्य कथंचित् किसी अवस्थारूप से उत्पन्न होता है तथा किसी अन्य अवस्था से नष्ट होता है परन्तु परमार्थरूप से (द्रव्यार्थिकनय से) निश्चय से वे दोनों ही नहीं हैं अर्थात् द्रव्य न तो उत्पन्न होता है तथा न नष्ट होता है।'

अर्थात् द्रव्यदृष्टि से तो वह नित्य त्रिकाली ध्रुवरूप ही ज्ञात होता है, उसमें कोई उत्पाद-व्यय ज्ञात होते ही नहीं क्योंकि उन पर दृष्टि ही नहीं, दृष्टि केवल त्रिकाली ध्रुव द्रव्य पर ही है इसलिए उत्पाद-व्यय गौण हो जाते हैं और नित्यत्व मुख्य हो जाता है, यही विधि है पर्याय के अभाव की।

भावार्थ – 'इसलिए द्रव्य, पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से नवीन-नवीन अवस्थारूप से उत्पन्न तथा पूर्व-पूर्व अवस्थाओं से नष्ट कहने में आता है, परन्तु द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य, न तो नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है।' इस भाव को अपेक्षा से ध्रुवभाव, अपरिणामी भाव भी कहा जा सकता है परन्तु एकान्त से नहीं।

गाथा १०८ – अन्वयार्थ – 'जैन का यह सिद्धान्त है कि जैसे द्रव्य नित्य-अनित्यात्मक है, उसी प्रकार गुण भी अपने द्रव्य से अभिन्न होने के कारण नित्य-अनित्यात्मक है-ऐसा समझना।'

भावार्थ – '...द्रव्यदृष्टि से वे गुण परस्पर में तथा द्रव्य से अभिन्न ही है..'

गाथा ११० – अन्वयार्थ – 'जैसे ज्ञान, घट के आकार से पट के आकाररूप होने के कारण परिणमनशील है तो क्या उसका ज्ञानपना नष्ट हो जाता है? यदि वह ज्ञानत्व नष्ट नहीं होता, तो इस अपेक्षा से नित्य क्यों सिद्ध नहीं होगा? अर्थात् अवश्य ही (नित्य सिद्ध) होगा।'

यहाँ समझना यह है कि कोई ऐसा कहे कि ज्ञानगुण तो अकबन्ध-कूटस्थ-अपरिणामी रहता है और उसमें से ज्ञान की पर्याय निकलती है, तो ऐसी मान्यता से तो ज्ञानगुण का ही अभाव हो जायेगा क्योंकि ज्ञानगुण परिणमनशील है, अर्थात् ज्ञानगुण स्वयं किसी न किसी कार्य बिना रहता ही नहीं, वह ज्ञानगुण स्वयं ही उस कार्यरूप परिणमता है, अर्थात् स्व-पर को जाननेरूप परिणमता है और उस स्व-पररूप प्रतिबिम्ब को गौण करते ही सामान्यपने से ज्ञानगुण ऐसा का ऐसा ही ज्ञात होता है, इसलिए कहा जाता है कि वह ज्ञानपने का उल्लंघन करता ही नहीं, इस अपेक्षा से उसे कूटस्थ अथवा अपरिणामी कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं।

भावार्थ – 'घट को छोड़कर पट को और पट को छोड़कर अन्य पदार्थ को जानते समय ज्ञान पर्यायार्थिकनय से अन्यरूप कहलाने पर भी उसका ज्ञानपना उल्लंघन नहीं करता परन्तु सामान्यपने से (उस प्रतिबिम्ब को गौण करने पर जो भाव रहता है, उसे ही उसका सामान्य कहा जाता है, अर्थात् विशेष, सामान्य का ही बना हुआ होता है अर्थात् पर्यायरूप विशेष द्रव्यरूप सामान्य का ही बना हुआ होता है अर्थात् विशेष को=पर्याय को गौण करते ही सामान्य=द्रव्य की अनुभूति होती है) निरन्तर "**तदेवेदं**" – वह ही यह है। अर्थात् यह वही ज्ञान है कि जिसकी पहले वह पर्याय थी और अभी यह पर्याय है (अर्थात् ज्ञान ही=ज्ञानगुण ही उस पर्यायरूप परिणमित हुआ है)। ऐसी प्रतीति होती है, इसलिए ज्ञानत्व सामान्य की अपेक्षा से ज्ञान नित्य है। जैसे कि–'

गाथा १११ – अन्वयार्थ – 'उसका उदाहरण यह है कि – जैसे निश्चय से आम्रफल में रूप नाम का गुण परिणमन करते–करते हरित में से पीला हो जाता है तो क्या इतने में उसके वर्णपने का नाश हो जाता है? अर्थात् नहीं होता। इसलिए वह वर्णपना नित्य है।' ऐसा है जैन सिद्धान्त का त्रिकाली ध्रुव।

भावार्थ – '... सामान्यरूप से तो वर्णपना तो वह का वही है, वह (वर्ण सामान्यपना) कहीं नष्ट नहीं हो गया, इसलिए वर्ण सामान्य की अपेक्षा से वह वर्ण गुण नित्य ही है।' इस प्रकार सामान्य की अपेक्षा से उसे कूटस्थ अथवा अपरिणामी कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं। अन्यथा मानने पर जैन सिद्धान्त के विरुद्ध अर्थात् अन्यमती मिथ्यात्वरूप परिणम जायेगा कि जो अनन्त संसार का कारण बनेगा।

गाथा ११२ – अन्वयार्थ – 'जैसे वस्तु (द्रव्य) परिणमनशील है, उसी प्रकार गुण भी परिणमनशील है (अन्यथा मानने से मिथ्यात्व का उदय समझना) इसलिए निश्चय से गुण के भी उत्पाद–व्यय दोनों होते हैं।'

भावार्थ – 'इसलिए जैसे द्रव्य, परिणामी है, वैसे द्रव्य से अभिन्न रहनेवाले गुण भी परिणामी हैं, और वे परिणामी होने से उनमें प्रतिसमय उत्पाद–व्यय (कोई न कोई कार्य) भी हुआ ही करता है; और इस युक्ति से गुणों में उत्पाद–व्यय होने से उसे अनित्य भी कहने में आता है, साराँश कि–'

गाथा ११३ – अन्वयार्थ – 'इसलिए जैसे ज्ञान नाम का गुण सामान्यरूप से नित्य है तथा उसी प्रकार घट को छोड़कर पट को जानने पर, ज्ञान नष्ट और उत्पन्नरूप भी है अर्थात् अनित्य भी है।'

अर्थात् समझना यह है कि जो उपादान है अर्थात् जो द्रव्य अथवा गुण है, वह स्वयं ही कार्यरूप परिणमता है और उस कार्य की अपेक्षा से वह अनित्य है और उपादान की अपेक्षा से नित्य है, ऐसा स्वरूप है नित्य-अनित्य का; अन्यथा नहीं। यदि कोई इस स्वरूप से विपरीत धारणा सहित स्वयं को सम्यग्दृष्टि मानते हों अथवा मनाते हों तो उन्हें नियम से भ्रम में ही समझना क्योंकि भ्रम की भी शान्ति और आनन्द वेदन में आता है इसलिए वैसे जीवों को यदि अनन्त संसार से बचना हो तो हमारा निवेदन है कि आप अपनी धारणा सम्यक् कर लो।

भावार्थ - 'जिस समय ज्ञान घट को छोड़कर पट को विषय करने लगता है, उस समय पर्यायार्थिक दृष्टि से घट ज्ञान का व्यय और पट ज्ञान का उत्पाद होने से ज्ञान को अनित्य कहा जाता है तथा उसी समय पर्यायार्थिकनय की गौणता और द्रव्यार्थिकनय की मुख्यता से (समझना यह है कि जैन सिद्धान्त की समस्त बातें मुख्य-गौण अपेक्षा से ही होती है, एकान्त से नहीं। इसलिए जो एकान्त के आग्रही हैं, वे ऊपर बतलाये अनुसार नियम से मिथ्यात्वी हैं, अनन्त संसारी हैं, इसलिए वैसी धारणा हो तो कृपा करके, अपने ऊपर दया लाकर शीघ्रता से अपनी धारणा ठीक कर लेना अत्यन्त आवश्यक है) देखने पर घटज्ञान और पटज्ञानरूप दोनों अवस्थाओं में ज्ञानपना सामान्य होने से (अर्थात् वे अवस्थाएँ ज्ञानगुण की ही बनी हुई है, इसलिए उन अवस्थाओं को गौण करते ही अर्थात् ज्ञेयाकारों को गौण करते ही वहाँ ज्ञानगुण साक्षात् हाजिर ही है, इसी प्रकार द्रव्य में भी अवस्थाओं को गौण करते ही साक्षात् द्रव्य हाजिर ही है-पूर्ण द्रव्य अवस्थाओंरूप से ही व्यक्त होता है और जो सामान्यरूप से द्रव्य है उसे ही अव्यक्त कहने में आता है और इसलिए वह व्यक्त, अव्यक्त का ही बना हुआ है) ज्ञान को ध्रौव्य अर्थात् नित्य (ऐसा है जैन सिद्धान्त का त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा) भी कहने में आता है (ऐसा है जैन सिद्धान्त का त्रिकाली ध्रुव-कूटस्थ-अपरिणामी, अन्यथा नहीं)। इसलिए अपेक्षा वाद से ज्ञानगुण कथंचित् नित्य-अनित्यात्मक सिद्ध होता है, परन्तु एकान्तवाद से नहीं।' अर्थात् जिन्हें एकान्त का ही आग्रह है उन्हें अपने पर दया लाकर शीघ्रता से उस एकान्त का आग्रह -पक्ष छोड़कर, यथार्थ धारणा कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। यही बात आगे अधिक दृढ़ होती है। जैसे कि-

गाथा - ११७ - अन्वयार्थ - 'गुण नित्य हैं तो भी वे निश्चय से अपने स्वभाव से ही प्रत्येक समय परिणमन करते रहते हैं और वह परिणमन भी उन गुणों की ही अवस्था है परन्तु गुणों की सत्ता से उनकी सत्ता (सत्) कहीं भिन्न नहीं है।'

इसलिए एक सत्ता के दो, तीन, चार... सत् माननेवाले यदि अपेक्षा से समझे तो दिक्कत

नहीं है परन्तु सत् अर्थात् सत्ता एक द्रव्य की वास्तविक (यथार्थ) अभेद-अखण्ड एक ही होती है, भेद अपेक्षा से एक सत्ता के दो, तीन, चार,.. सत् कहे जाते हैं परन्तु वैसा एकान्त से नहीं माना जाता।

भावार्थ - 'गुणों की प्रतिसमय होनेवाली अवस्था का नाम ही पर्याय है, पर्यायों की सत्ता (सत्) कहीं गुणों से भिन्न नहीं है इसलिए द्रव्य की भाँति वे गुण भी गुण की दृष्टि से नित्य तथा अपनी पर्यायरूप अवस्थाओं से उत्पन्न तथा नष्ट होने के कारण से अनित्य कहने में आते हैं...'

इसलिए समझना यह है कि यदि कोई द्रव्य और पर्याय के प्रदेश भिन्न मानते हों तो उनके स्वचतुष्टय की अपेक्षा से कहे जा सकते हैं परन्तु वास्तविक प्रदेशभेद नहीं है इसलिए ऐसी एकान्त धारणा जीव को मिथ्यादृष्टि बनाती है। इसलिए विधान कोई भी हो उसकी अपेक्षा समझकर बोलना अथवा मानना, एकान्त से नहीं; अन्यथा ऐसी बातें अनेक लोगों के अध:पतन का कारण बनती है; इसलिए ऐसे एकान्त प्ररूपणा के आग्रही मिथ्यादृष्टियों से दूर ही रहना आवश्यक है, अन्यथा आप स्वयं भी अनन्त संसारी मिथ्यादृष्टिरूप अनन्त दु:ख का ही घर बनोगे।

इस कारण ऐसे एकान्त आग्रही लोगों से हमारी प्रार्थना है कि आप किसी भी विधान की अपेक्षा समझे बिना एकान्त से ग्रहण करके, एकान्त का आग्रह रखकर यदि जैनशासन का भला करना चाहते हों तो वह आपकी महान भूलरूप ही है, वह तो जैनशासन के अध:पतन का ही निमित्त बनेगा और कितने ही जीवों के अध:पतन का कारण भी बनेगा और उन सबके अध:पतन की जवाबदारी ऐसे एकान्त प्ररूपणा और एकान्त का आग्रह करनेवालों की ही है, इसलिए उनकी दशा के विषय में विचार कर हमें बहुत ही करुणा उत्पन्न होती है और इसी कारण से हमको यहाँ इतना अधिक स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता खड़ी हुई है।

गाथा ११९ - अन्वयार्थ - 'गुणों के तद्वस्थ (अर्थात् अपरिणामी-कूटस्थ), उनके अवस्थान्तर को पर्याय तथा दोनों के मध्यवर्ती को (अर्थात् वे दोनों मिलकर) द्रव्य, यह शंकाकार का कहना ठीक नहीं है। क्योंकि जैसे सम्पूर्ण गुण की अवस्थाएँ आम्रेडित होकर अर्थात् एक आलाप से पुन: पुन: प्रतिपादित होकर (अनुस्युति से रचित पर्यायों का प्रवाह, वही द्रव्य) वस्तु अर्थात् द्रव्य कहलाता है। उसी प्रकार उसकी उन अवस्थाओं से भिन्न (अर्थात् पर्यायों से भिन्न) कोई भी भिन्न सत्तावाली वस्तु (अर्थात् द्रव्य=ध्रौव्य) कही नहीं जा सकती।'

इसका अर्थ स्पष्ट है कि जो द्रव्य है, वही पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से पर्याय है और जो पर्याय है, वही द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से द्रव्य है। वे दोनों भिन्न न होने पर भी अपेक्षा से (प्रमाणदृष्टि से) उन्हें कथंचित् भिन्न कहा जा सकता है और इसीलिए उनके प्रदेश भी अपेक्षा

से भिन्न कहे जा सकते हैं, अन्यथा नहीं, सर्वथा नहीं; वास्तव में तो वहाँ कोई भेद ही नहीं, भेदरूप व्यवहार तो मात्र समझाने के लिए ही है, निश्चयनय से तो द्रव्य अभेद ही है।

भावार्थ – 'सत् की सम्पूर्ण अवस्थाएँ ही बारम्बार प्रतिपादित होकर वस्तु कहलाती है (अर्थात् सम्पूर्ण पर्यायों का समूह ही वस्तु है, द्रव्य है), परन्तु वस्तु अपनी अवस्थाओं से कहीं भिन्न नहीं है। (यहाँ जो वस्तु में अपरिणामी और परिणाम ऐसे विभाग मानते हों, उनका निराकरण किया है अर्थात् वैसी मान्यता मिथ्यात्व के घर की है)। इसलिए जैसे गुणमय द्रव्य होने से द्रव्य और गुणों में स्वरूपभेद नहीं होता, इसी प्रकार द्रव्य की अवस्थाएँ ही गुण की अवस्थाएँ कहलाती हैं। इसलिए द्रव्य भी उसकी पर्यायों से भिन्न नहीं है (प्रदेशभेद नहीं है), इसलिए गुण को तद्वस्थ (अपरिणामी) तथा अवस्थान्तरों को पर्याय मानकर इन दोनों के किसी मध्यवर्ती को अलग द्रव्य मानना ठीक नहीं है इसलिए –'

गाथा १२० – अन्वयार्थ – 'नियम से जो गुण परिणमनशील होने के कारण से (यहाँ लक्ष्य में लेना आवश्यक है कि गुणों को नियम से परिणमनशील कहा है उसमें कोई अपवाद नहीं है और दूसरा, होने के कारण कहा है अर्थात् वे तीनों काल में उसी प्रकार हैं) उत्पाद–व्ययमय कहलाते हैं, वे ही गुण टंकोत्कीर्ण न्याय से (अर्थात् वे गुण अन्य गुणरूप न होने के कारण से) अपने स्वरूप को कभी भी उल्लंघन नहीं करते, इसलिए वे नित्य कहलाते हैं।' टंकोत्कीर्ण का अर्थ सामान्यरूप से ऐसा का ऐसा ही रहता है ऐसा लिया है, कोई दूसरे प्रकार से अर्थात् अपरिणामी इत्यादि रूप नहीं।

दूसरा, यहाँ कोई ऐसा समझे कि ऐसी तो पुद्गल द्रव्य की व्यवस्था भले हो परन्तु जीवद्रव्य की बात तो निराली ही है, तो उन्हें हम बतलाते हैं कि मात्र पुद्गल द्रव्य ही नहीं, परन्तु छहों द्रव्य की द्रव्य–गुण–पर्यायरूप अथवा तो उत्पाद–व्यय–ध्रुवरूप वस्तु व्यवस्था तो एकसमान ही है। यदि जीवद्रव्य की कोई अन्य व्यवस्था होती तो भगवान ने और आचार्य भगवन्तों ने शास्त्रों में अवश्य बतलायी ही होती, परन्तु वैसा न होने से ही कुछ बतलाया नहीं है; इसलिए ऐसे मिथ्यात्वरूप आग्रह को छोड़कर वस्तु व्यवस्था जैसी है वैसी ही मानना आवश्यक है, अन्यथा उस जीव ने अनन्त संसारी, अनन्त दु:खी होने को ही आमन्त्रण दिया है कि जिसके ऊपर के करुणाभाव से ही यह लिखा जा रहा है।

भावार्थ – 'परिणमन की अपेक्षा से जो गुण उत्पाद–व्यययुक्त कहलाते हैं, वे ही गुण गुणत्व सामान्य की अपेक्षा से नित्य कहलाते हैं। उन दोनों अपेक्षाओं से द्रव्य से अभिन्नरूप गुण भी उत्पाद–व्यय और ध्रौव्ययुक्त कहे हैं...'

मिट्टी में किसी गुण का नाश होता है और कोई गुण उत्पन्न होता है – ऐसी शंका व्यक्त करने पर आचार्य भगवान आगे की गाथा में बतलाते हैं कि –

गाथा १२३ – अन्वयार्थ – 'इस विषय में यह उत्तर ठीक है कि इस मृतिका का (मिट्टी का पक्का बर्तनरूप होने का) ऐसा होने पर क्या उसका मृतिकापना (मिट्टीपना) नाश हो जाता है? यदि (मृतिकापना) नष्ट नहीं होता तो वह नित्यरूप क्यों नहीं होगा?' अर्थात् इस अपेक्षा से द्रव्य नित्य है, ध्रुव है, अन्यथा नहीं।

भावार्थ – 'कच्ची मिट्टी को पकाने पर प्रथम के मिट्टी सम्बन्धी (सभी) गुण नष्ट होकर नवीन पक्व गुण पैदा होता है इस प्रकार माननेवाले के लिए यह उत्तर ठीक है कि – मृतिका की घटादि अवस्था होने पर, क्या उसका पृथ्वीपना–मृतिकापना भी नष्ट हो जाता है? यदि वह मृतिकापना नष्ट नहीं होता तो वह मृतिकापना क्या नित्य नहीं है?'' अर्थात् नित्य ही है, इस अपेक्षा से द्रव्य को नित्य–ध्रुव इत्यादि कहा जाता है।

अब शंकाकार शंका करता है कि यदि द्रव्य और पर्याय को सर्वथा भिन्न मानने में क्या दोष है? उत्तर –

गाथा १४२ – अन्वयार्थ – 'अथवा अनु शब्द का अर्थ है कि– जो बीच में कभी भी स्खलित नहीं होनेवाले प्रवाह से (अनुस्यूति से रचित पर्यायों का प्रवाह, वही द्रव्य) वर्त रहा हो तथा 'अयति' वह क्रियापद गति अर्थवाली 'अय' धातु का रूप है इसलिए अविच्छिन्न प्रवाहरूप से जो गमन कर रहा है वह अन्वयार्थ की अपेक्षा से अन्वय शब्द का अर्थ द्रव्य है।'

भावार्थ – '... अर्थात् जो निरन्तर अपनी उत्तरोत्तर होनेवाली पर्यायों में गमन करे, वह द्रव्य है (अर्थात् द्रव्य, पर्यायों में ही छुपा हुआ है)। गति 'अन्वय' शब्द 'अनु' उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक 'अय' धातु से बना है, द्रव्य की यह व्युत्पत्ति अन्वय शब्द में भलीभाँति घटित हो सकती है। जैसे कि 'अनु'–अव्युच्छिन्न प्रवाहरूप से जो अपनी प्रतिसमय होनेवाली पर्यायों में बराबर 'अयति' अर्थात् गमन करता हो, उसे अन्वय कहते हैं; इसलिए अन्वय और द्रव्य ये दोनों पर्यायवाचक शब्द हैं।' अर्थात् पर्यायों का जो प्रवाहरूप समूह है वह ही सत् है और वह ही द्रव्य है। अर्थात् जो पर्यायें हैं, उनमें ही द्रव्य छुपा हुआ गति करता है अर्थात् जो पर्याय है वह द्रव्य की ही बनी हुई है और इसलिए ही पर्यायों को व्यतिरेक=विशेष=व्यक्त और द्रव्य को अन्वयरूप=सामान्य=अव्यक्त कहा जाता है।

गाथा १५९ – अन्वयार्थ – 'सारांश यह है कि निश्चय से गुण स्वयंसिद्ध है तथा परिणामी

भी है, इसलिए वे नित्य और अनित्यरूप होने से भले प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक भी है।'

भावार्थ – 'अनादि सन्तानरूप से जो द्रव्य के साथ अनुगमन करता है वह गुण है। यहाँ 'अनादि' इस विशेषण से स्वयंसिद्ध, 'सन्तानरूप' इस विशेषण से परिणमनशील तथा 'अनुगतार्थ' इस विशेष से निरन्तर द्रव्य के साथ रहनेवाले, ऐसा अर्थ सिद्ध होता है। सारांश यह है कि प्रत्येक द्रव्य के गुण स्वयंसिद्ध और निरन्तर द्रव्य के साथ रहनेवाले हैं इसलिए तो उन्हें नित्य अर्थात् ध्रौव्यात्मक कहने में आता है और प्रतिसमय परिणमनशील हैं, इसलिए उन्हें अनित्य और उत्पादव्ययात्मक कहने में आता है। इस प्रकार सम्पूर्ण गुण उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यात्मक है।' ऐसी है जैन सिद्धान्त की वस्तु व्यवस्था।

गाथा १७८ – अन्वयार्थ – 'सारांश यह है कि जैसे द्रव्य नियम से स्वत:सिद्ध है, उसी प्रकार वह परिणमनशील भी है, इसलिए वह द्रव्य प्रतिसमय बारम्बार प्रदीप (दीपक) की शिखा की भाँति परिणमन करता ही रहता है।'

भावार्थ – 'अर्थात्-जैसे द्रव्य, स्वत:सिद्ध होने से नित्य-अनादि-अनन्त है, उसी अनुसार वह परिणमनशील होने से प्रदीप शिखा की (दीपक की) भाँति प्रतिसमय सदृश परिणमन भी करता ही रहता है। इसलिए वह अनित्य भी है और उसका वह परिणमन पूर्व-पूर्व भाव के विनाशपूर्वक (मिट्टी के पिण्ड के विनाशपूर्वक) तथा उत्तर-उत्तरभाव के उत्पाद से (मिट्टी के घट के उत्पाद से) होता रहता है इसलिए द्रव्य, कथंचित् नित्य-अनित्यात्मक कहने में आता है। (एक ही वस्तु के दो स्वभाव हैं, नहीं कि एक वस्तु के दो भाग-एक नित्य और दूसरा अनित्य-ऐसा भागरूप मानने से मिथ्यात्व का दोष आता है) जैसे कि जीव मनुष्य से देव पर्याय को प्राप्त करने पर द्रव्यार्थिकदृष्टि से उसकी प्रत्येक पर्यायों में जीवत्व सदृश (समान) रहने पर भी (अर्थात् उस पर्याय का सामान्य, वही जीवत्व अर्थात् द्रव्य) पर्यायार्थिकदृष्टि से प्रत्येक पर्यायों में (उसकी एक-एक पर्यायों में) वह कथंचित् भिन्नता को धारण करता है। उसी प्रकार प्रति समय होनेवाले क्रम में भी द्रव्यार्थिकनय से सदृशता रहने पर भी (अर्थात् उस क्रमरूप पर्याय में सामान्यभावरूप से द्रव्य हाजिर ही है) परन्तु पर्यायार्थिकनय से कथंचित् विसदृशपना (अन्यथापना) भी देखने में आता है (अर्थात् उस क्रम में होती पर्याय में विशेष भावरूप से अन्य-अन्य भाव देखने में आते हैं)। इस विषय में दूसरा दृष्टान्त गोरस का भी दिया जाता है-जैसे दूध, दही, मट्ठा इत्यादि दूध की अवस्थाओं में द्रव्यार्थिकनय से गोरसपने की सदृशता रहने पर भी पर्यायार्थिकनय से दूध से दही इत्यादि अवस्थाओं में कथंचित् विसदृशपना भी देखने में आता है। इस प्रकार अनुमान से अथवा स्वानुभव प्रत्यक्ष से नित्य-अनित्य की प्रतीति होने से यद्यपि क्रम में भी कथंचित् सदृशता-

विसदृशता दोनों होती हैं परन्तु ऐसा होने पर भी केवल उनका काल सूक्ष्म समयवर्ती होने से वह क्रम प्रतिसमय लक्ष में नहीं आता, इसलिए उसमें अन्यथात्व' (यह वैसा नहीं) और तथात्व (यह वैसा ही है) की विवक्षा ही नहीं की जा सकती। ऐसा नहीं।'

जिस समय ज्ञान घटाकार मात्र है उस समय घट की जानने की योग्यता से और जिस समय लोकालोक को जानता है, उस समय वैसी योग्यता से ज्ञानगुण में कुछ न्यूनाधिकता नहीं होती, मात्र अगुरुलघु गुण का ही वह फल समझने योग्य है।

गाथा १९३-१९४-१९५ - अन्वयार्थ - 'शंकाकार का कहना ऐसा है कि इस प्रकार मानने से परमार्थ दृष्टि से घटाकार और लोकाकाररूप ज्ञान एक होने से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य बन नहीं सकेंगे और न कोई किसी का उपादानकारण तथा न कोई किसी का कार्य भी बन सकेगा तथा गुण अपने अंशों से (पर्याय से) कम होने से दुर्बल और उत्कर्ष होने से बलवान क्यों नहीं होंगे? इस प्रकार से ऐसा भी बहुत भारी और दुर्जय दोष आयेगा। (उत्तर) यदि ऐसा कहो तो - ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि द्रव्य तो पहले भलीभाँति परिणमनशील निरूपण किया है, (सिद्ध किया है) इसलिए उसमें उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य ये तीनों भलीभाँति घटित हो सकते हैं। परन्तु इससे उल्टा सर्वथा नित्य या अनित्य अर्थ मानने से नहीं घटित होंगे।'

अर्थात् यदि वस्तु के (द्रव्य के) दो भाग मानने में आवें कि जिसमें का एक भाग सर्वथा नित्य मानने में आवे और एक भाग सर्वथा अनित्य अर्थात् नित्य और अनित्य को वस्तु के भाव की जगह विभाग अथवा भागरूप मानने में आवे तो उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रुव घटित नहीं हो सकेगा और इसी कारण वैसी मान्यता जैन सिद्धान्त बाह्य है और मिथ्यात्व है, इसलिए ऐसी धारणा किसी की हो तो वह शीघ्रता से सुधार लेना चाहिए, अपेक्षा से सब कहा जाता है परन्तु वैसा एकान्त से माना नहीं जाता।

भावार्थ - 'शंकाकार का कहना ऐसा है कि यदि अवगाहन गुण की विचित्रता से द्रव्य में केवल आकार से आकारान्तर ही हुआ करता है तो द्रव्य की पूर्व-उत्तर अवस्थाओं में अभेदता होने के कारण से उसमें (यहाँ शंकाकार द्रव्य-पर्यायरूप वस्तु को एक अभेदरूप अनुस्युति से रचित प्रवाहरूप नहीं मानता) उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य नहीं बन सकेगा तथा किसी भी प्रकार का कार्य-कारणभाव (यहाँ शंकाकार कार्य-कारणभाव को भेदरूप मानता है, भिन्न मानता है) ही सिद्ध नहीं हो सकेगा तथा यदि गुणांश के तदवस्थ रहने पर भी अगुरु-लघु गुण के निमित्त से उसमें भूत्वा-भवनरूप परिणमन होता रहता है (यहाँ शंकाकार ध्रौव्य को/गुण को अपरिणामी मानता है-उसे अगुरु-लघु गुण के निमित्त से पर्याय मानता है और उसमें से पर्याय निकलती है

कि जो ध्रौव्य से/गुण से भिन्न है ऐसा मानता है) तो यह आपत्ति आयेगी कि – गुण अपने अंशों से कम होने पर दुर्बल और अपने अंशों से बढ़ने पर क्या बलवान नहीं होंगे?

उसका समाधान – शंकाकार का उपरोक्त कहना ठीक नहीं है क्योंकि हमने पहले ही स्वत:सिद्ध द्रव्य को भलीभाँति परिणामी सिद्ध किया है अर्थात् द्रव्य स्वत:सिद्ध होने से, कथंचित् नित्य-नित्यात्मक द्रव्य में ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य घटित हो सकते हैं। (अर्थात् द्रव्य स्वयं ही पर्यायरूप परिणमता है और इस कारण से पर्याय द्रव्य की ही बनी हुई है और द्रव्य पर्याय में ही छुपा हुआ है। अर्थात् पर्यायरूप विशेष भाव को गौण करते ही सामान्यरूप द्रव्य अनुभव में आता है)। परन्तु सर्वथा नित्य या अनित्य पदार्थ में नहीं।

सारांश यह है कि आकार से आकारान्तररूप होने से उत्पाद, व्यय की और वस्तुता से (सामान्यभाव अपेक्षा से) तद्वस्थरूप होने से ध्रौव्यांश की (सामान्य भाव की) सिद्धि होती है। इसलिए उक्त प्रकार से (ऐसी रीति से) द्रव्य को कथंचित् नित्यानित्यात्मक मानने से उत्पादादि त्रय की तथा कारण-कार्यभाव की सिद्धि नहीं होती, ऐसी शंका निरर्थक है। यहाँ दृष्टान्त-'

गाथा – १९६ – अन्वयार्थ – 'जैसे सोने के अस्तित्व में ही कुण्डलादिक अवस्थायें उत्पन्न होती हैं और वे कुण्डलादिक अवस्थायें होने से ही नियम से उत्पादादिक तीनों सिद्ध होते हैं।' अर्थात् द्रव्य को परिणामी मानने से ही उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप व्यवस्था शक्य है, अन्यथा नहीं। ऐसी है जैन सिद्धान्त की वस्तुव्यवस्था।

भावार्थ – 'जैसे स्वर्ण के अस्तित्व में ही उसकी कुण्डल-कंकण आदि अवस्थायें सिद्ध होती हैं, क्योंकि उन अवस्थाओं के होने से ही स्वर्ण में उत्पादादिक होते हैं अर्थात् स्वर्ण का स्वर्णपना द्रव्यदृष्टि से तदवस्थ रहने पर भी पर्यायार्थिकदृष्टि से कुण्डल-कंकण आदि के ही उत्पादादिक होते हैं परन्तु यदि वास्तविक विचार किया जाये तो उन कुण्डलादिक अवस्थाओं में मात्र आकार से आकारान्तर ही है, परन्तु असत् की उत्पत्ति और सत् का विनाश नहीं। इसलिए शंकाकार का कथंचित् नित्यानित्यात्मक पदार्थ में उत्पादादिक नहीं बनेंगे, यह कहना युक्तिसंगत नहीं है। तथा कारण-कार्यभाव भी निम्न प्रकार सिद्ध होता है।'

गाथा १९७ – अन्वयार्थ – 'इस प्रक्रिया अर्थात् शैली से ही निश्चय से कारण और कार्य की सिद्धि भी समझ लेना चाहिए क्योंकि इस सत् के ही सत् अर्थात् ध्रौव्य तथा उत्पाद और व्यय ये दोनों होते हैं।'

भावार्थ – ''जिस प्रकार कथंचित् नित्य-अनित्यात्मक पदार्थों में ही उत्पादादिकत्रय होते

हैं, परन्तु सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य पदार्थों में नहीं हो सकते-ऐसा सिद्ध किया, उसी प्रकार पदार्थों को नित्य-अनित्यात्मक मानने से ही कारण कार्यभाव भी सिद्ध हो सकता है, परन्तु सर्वथा नित्य या अनित्य पदार्थों में नहीं, क्योंकि सर्वथा नित्य पक्ष में परिणाम बिना कार्य-कारणभाव नहीं बन सकता तथा सर्वथा अनित्यपक्ष में पदार्थ मात्र क्षणवर्ती सिद्ध होने से और उनका प्रतिसमय निरन्वयनाश मानने से 'नित्य शक्ति पिण्डरूप सत् (द्रव्य) कारण है तथा अनित्य परिणामरूप उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य उसके कार्य हैं।' ऐसा कार्यकारणभाव नहीं बन सकता, इसलिए कथंचित् नित्य-अनित्यात्मक पदार्थों में ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य और कार्य-कारणभाव भलीभाँति सिद्ध होता है। क्योंकि नित्य-अनित्यात्मक पदार्थों में ही सत् के उत्पादादिक मानने में आये हैं परन्तु निरन्वयनाशरूप या कूटस्थ नित्य में नहीं....''

अर्थात् द्रव्य और पर्याय ये वस्तु के दो भाव हैं, नहीं कि दो भाग और इसलिए ही उसे कथंचित् नित्य-अनित्य कहा जाता है तथा सर्वथा नित्य-अनित्य ऐसा नहीं कहा जाता अथवा माना जाता। इसलिए जो कोई द्रव्य को एकान्त से नित्य-अपरिणामी और पर्याय को एकान्त से अनित्य-परिणामी मानते हों, उनका यहाँ निराकरण किया है अर्थात् ऐसी जिनकी धारणा हो, उन्हें अपनी धारणा सुधार लेने का अनुरोध है।

गाथा २०० - अन्वयार्थ - 'निश्चय से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ये तीनों पर्यायों में होते हैं परन्तु सत के नहीं होते परन्तु जिस कारण से ये उत्पादादिक पर्यायें ही द्रव्य है इसलिए द्रव्य इन उत्पादादिकत्रयवाला कहा जाता है।'

यहाँ अंश-अंशीरूप भेदनय की अपेक्षा से उत्पाद-व्यय-ध्रुव इन तीनों को भेदरूप पर्याय सिद्ध किया है क्योंकि अंश-अंशीरूप भेद न किया जाये तो सत् का नाश-सत् का उत्पाद और सत् का ही ध्रौव्य ऐसी विरुद्धता उद्भवित होती है इसलिए भेदनय से समझाया है कि सत् तो स्वत: सिद्ध ही होने पर भी वही उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप है और इसलिए भेदनय से ये तीनों उसकी पर्याय कही जाती है। उत्पाद का स्वरूप और वह उत्पाद किसका होता (कहा जाता) है? उत्तर -

गाथा २०१ - अन्वयार्थ - ''तद्भाव ('यह वही है') और अतद्भाव ('यह वह नहीं') को विषय करनेवाले नय की अपेक्षा से (अर्थात् द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से) सत् सद्भाव और असद्भाव से युक्त है इसलिए वह उत्पादादिक में नवीन रूप से परिणमित उस सत् की अवस्था का नाम ही उत्पाद है।''

अर्थात् द्रव्य की अवस्था बदलती है उसे ही उत्पाद कहा और पूर्व अवस्था को व्यय।

व्यय का स्वरूप और वह किसका होता है? उत्तर -

गाथा २०२ - अन्वयार्थ - 'तथा व्यय भी सत् का नहीं होता परन्तु उस सत् की अवस्था का नाश व्यय कहलाता है, तथा प्रध्वंसाभावरूप वह व्यय सत्, परिणामी होने से सत् का भी अवश्य कहने में आया है।'

अर्थात् अपेक्षा से कुछ भी कहा जा सकता है परन्तु समझना यह है कि उपादानरूप द्रव्य स्वयं ही कार्यरूप परिणमता है और उसे ही उसका उत्पाद कहा जाता है और पूर्व समयवर्ती कार्य को उसका व्यय कहा जाता है और उन दोनों कार्यरूप परिणमित जो उपादानरूप द्रव्य है, वही ध्रौव्य है। ध्रौव्य का स्वरूप और वह किसका होता है? उत्तर -

गाथा २०३ - अन्वयार्थ - 'पर्यायार्थिकनय से (भेदविवक्षा से) ध्रौव्य भी कथंचित् सत् का होता है। केवल सत् का नहीं इसके लिये उत्पाद-व्यय की भाँति वह ध्रौव्य भी सत् का एक अंश है, परन्तु सर्वदेश नहीं।' क्योंकि यदि वह सत् का (द्रव्य का) मानने में आवे तो द्रव्य कूटस्थ/अपरिणामी गिना जाये कि जो वह नहीं है।

गाथा २०४ - अन्वयार्थ - 'अथवा तद्भाव से नाश न होना ऐसा जो ध्रौव्य का लक्षण दर्शाया है वहाँ भी अर्थात् उसका भी यह वास्तविक अर्थ है कि जो परिणाम पहले थे वे-वे परिणाम ही बाद में होते रहते हैं।'

अर्थात् जो द्रव्यरूप ध्रौव्य है, वह ही प्रत्येक पर्याय में स्वयं ही कार्यरूप परिणमता है और उसमें रही हुई सदृशता से (सामान्य अपेक्षा से) उसका तद्भाव से नाश न होने से उसे ध्रौव्य कहते हैं। जैसे कि ज्ञान आकारान्तरपना पाने पर भी ज्ञानपने का नाश न होने से उस आकार में रहे हुए ज्ञान को (सामान्य को) ही ध्रौव्य कहा जाता है अर्थात् टंकोत्कीर्ण कहा जाता है।

गाथा २०५ - अन्वयार्थ - 'जैसे पुष्प की गंध वह परिणाम है तथा वह गंधगुण परिणमन कर रहा है इसलिए गंध (गुण) अपरिणामी नहीं है तथा निश्चय से निर्गंध अवस्था से पुष्प गंधवाला हुआ है ऐसा भी नहीं है।'

इस कारण से कहा जा सकता है कि ध्रौव्यरूप द्रव्य/गुण स्वयं ही पर्यायरूप उत्पन्न होता है और तब ही पूर्व पर्याय का व्यय होता है; इसलिए अभेदनय से द्रव्य को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप कहा जाता है और भेदनय से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप तीनों सत् की पर्याय कही जाती है, यह भेदरूप पर्याय है। यही भाव आगे भी समझाते हैं।

गाथा २०७ - अन्वयार्थ - 'निश्चय से सर्वथा नित्य कोई सत् है-गुण कोई है ही नहीं

तथा केवल परिणतिरूप व्यय तथा उत्पाद ये दोनों उस सत् से अतिरिक्त अर्थात् भिन्न है, ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिए क्योंकि'' भेदनय से जो ऊपर भेदरूप उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को पर्यायरूप से समझाने से किसी को ऐसी आशंका उत्पन्न होती है कि क्या द्रव्य और पर्याय भिन्न है? तो कहते हैं कि ऐसी आशंका भी नहीं करनी चाहिए।

गाथा २०८ - अन्वयार्थ - 'ऐसा होने पर सत् को भिन्नतायुक्त देश का प्रसंग आने से सत् वह न गुण, न परिणाम अर्थात् पर्याय और न द्रव्यरूप सिद्ध हो सकेगा, परन्तु सर्व विवादग्रस्त हो जायेगा।'

भावार्थ - 'गुणों को न मानकर द्रव्य को सर्वथा नित्य तथा उत्पाद-व्यय को द्रव्य से भिन्न केवल परिणतिरूप मानने से द्रव्य तथा पर्यायों को भिन्न-भिन्न प्रदेशीपने का प्रसंग आयेगा तथा सत्, द्रव्य-गुण व पर्यायों में से किसी भी रूप से सिद्ध नहीं हो सकेगा और इसलिए सत्, द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक न होने से उस सत् का भी क्या स्वरूप है? यह भी निश्चित नहीं हो सकेगा; इसलिए द्रव्य-गुण-पर्याय और सत् स्वयं वे सब विवादग्रस्त हो जायेंगे।' यहाँ कहे अनुसार यदि कोई द्रव्य को अपरिणामी और पर्याय उससे भिन्न (भिन्न प्रदेशी) परिणामी ऐसा मानता हो तो यहाँ बतलाया हुआ पहला दोष आयेगा। अब दूसरा दोष बतलाते हैं।

गाथा २०९ - अन्वयार्थ - 'तथा यहाँ दूसरा भी यह दोष आयेगा कि - जो नित्य है वह निश्चय से नित्यरूप ही रहेगा तथा जो अनित्य है वह अनित्य ही रहेगा। इस प्रकार किसी भी वस्तु में अनेक धर्मत्व सिद्ध नहीं हो सकेगा अर्थात् वस्तु अनेकधर्मात्मक सिद्ध नहीं होगी।' अब तीसरा दोष बतलाते हैं।

गाथा २१० - अन्वयार्थ - 'तथा यह एक द्रव्य है, यह गुण है और यह पर्याय है इसप्रकार का जो काल्पनिक भेद होता है (अर्थात् यह भेद वास्तविक नहीं है) वह भी नियम से भिन्न द्रव्य की भाँति बनेगा नहीं।' अर्थात् जिस अभेद वस्तु में समझाने के लिये काल्पनिक भेद किये हैं और इसलिए ही उसे कथंचित् कहा है उसे यदि वास्तविक भेद समझने में आवे तो द्रव्य और पर्याय ये दोनों भिन्न प्रदेशी, दो द्रव्यरूप ही बन जाने से भेदरूप व्यवहार न रहकर नियम से भिन्न द्रव्य की भाँति भिन्न प्रदेशी ही बन जायेंगे और इसलिए द्रव्य-गुण-पर्यायरूप जो काल्पनिक भेद होते हैं, वैसे काल्पनिक भेद नहीं बनेंगे।

आगे शंकाकार नयी शंका करता है कि -

गाथा २११ - अन्वयार्थ - 'शंकाकार का कहना ऐसा है कि - समुद्र की भाँति वस्तु

को नित्य मानने में आवे तथा गुण भी नित्य मानने में आवे और पर्यायें कल्लोलादि की भाँति उत्पन्न और नाश होनेवाली मानने में आवे, यदि ऐसा कहो तो' - अर्थात् पदार्थ को समुद्र और तरंग के उदाहरण से ऐसा मानने में आवे कि-द्रव्य=समुद्र का दल एकान्त से नित्य और पर्याय=तरंग एकान्त से अनित्य मानने में आवे तो क्या हानि है? उसका समाधान -

गाथा २१२ - अन्वयार्थ - 'ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि समुद्र और लहरें (तरंगें) का दृष्टान्त शंकाकार के प्रकृत-उपरोक्त अर्थ का ही बाधक है (खण्डन करता है) तथा शंकाकार द्वारा नहीं कहे गये प्रकृत अर्थ के विषयभूत इस वक्ष्यमान (कथन करने से) कथंचित् नित्य-अनित्यात्मक अभेद अर्थ का साधक है।'

यहाँ याद रखना कि अभेद का साधक कहा है अर्थात् द्रव्य अभेद है उसमें भेद उत्पन्न करके कहा जाता है, भिन्न प्रदेशरूप वास्तविक नहीं और दूसरा, प्रस्तुत उदाहरण से ही अभेदद्रव्य सिद्ध होता है। क्योंकि जो तरंग=कल्लोल है, वह समुद्र की ही बनी है अर्थात् वह समुद्र ही उसरूप परिणमित हुआ है अर्थात् वह समुद्र ही है ऐसा अभेदस्वरूप है द्रव्य का।

भावार्थ - 'शंकाकार के कथनानुसार गुणों को और वस्तु को (द्रव्य को) सर्वथा नित्य तथा उत्पाद-व्यय को सर्वथा अनित्य मानना ठीक नहीं है, क्योंकि इस सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिये जो समुद्र और कल्लोलों का दृष्टान्त दिया, वह शंकाकार के उपरोक्त पक्ष का साधक न होकर बिना कहे ही उपरोक्त पक्ष के (शंकाकार के पक्ष के) विपक्ष का अर्थात्-जैन सिद्धान्तानुसार माने हुए कथंचित् अभेदात्मक पक्ष का साधक है, आगे इसी अर्थ का स्पष्टीकरण करते हैं-'

अथवा कोई द्रव्य को चक्की की तरह समझता हो, जैसे कि चक्की में नीचे का भाग स्थिर और ऊपर का भाग घुमता है तो द्रव्य में जैन सिद्धान्तानुसार ऐसी व्यवस्था भी नहीं है, यह भी इस गाथा से सिद्ध होता है।

गाथा २१३ -अन्वयार्थ - 'तरंग मालाओं से व्याप्त समुद्र की भाँति निश्चय से किसी भी गुण के परिणामों से अर्थात् पर्यायों से सत् की अभिन्नता होने से उस सत् का अपने परिणामों से कुछ भी भेद नहीं है।'

अर्थात् जो पर्याय है वह द्रव्य का वर्तमान ही होने से द्रव्य की ही बनी हुई होने से (तरंग में समुद्र ही होने से) वास्तव में कोई भेद नहीं है परन्तु भेदनय से भेद कहने में आता है, इसलिए उसे कथंचित् भेदाभेद भी कहा जाता है।

भावार्थ - 'क्योंकि जिस प्रकार तरंगों के समूह को छोड़ने पर समुद्र कुछ भिन्न वस्तु सिद्ध

नहीं हो सकती; इसी प्रकार अपने त्रिकालवर्ती परिणामों को छोड़ने पर गुण तथा द्रव्य भी कोई भिन्न वस्तु सिद्ध नहीं हो सकते।' अर्थात् पर्याय में ही द्रव्य छुपा है, द्रव्य पर्याय से वास्तविक भिन्न प्रदेशी नहीं है।

गाथा २१४ - अन्वयार्थ - 'परन्तु जो समुद्र है वही तरंगमालाएँ होता है क्योंकि वह समुद्र स्वयं ही तरंगरूप से परिणमन करता है।' अर्थात् द्रव्य ही (अव्यक्त ही) पर्यायरूप से (व्यक्तरूप से) व्यक्त होता है, परिणमन करता है।

गाथा २१५ - अन्वयार्थ - 'इसलिए सत् वह स्वयं ही उत्पाद है तथा वह सत् ही ध्रौव्य है तथा व्यय भी है क्योंकि सत् (द्रव्य) से पृथक् कोई वह उत्पाद अथवा व्यय अथवा ध्रौव्य कोई नहीं है।'

द्रव्य-गुण-पर्याय और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य व्यवस्था समझने के लिए इस गाथा का मर्म समझना अत्यन्त आवश्यक है कि वास्तव में द्रव्य अभेद है, भेदमात्र समझाने के लिए ही है, व्यवहारमात्र ही है।

गाथा २१६ - अन्वयार्थ - 'अथवा शुद्धता को विषय करनेवाले नय की अपेक्षा से उत्पाद भी नहीं, व्यय भी नहीं तथा ध्रौव्य, गुण और पर्याय वह भी नहीं परन्तु केवल एक सत् ही है।'

अर्थात् शुद्धनय से एकमात्र पंचमभावरूप=परमपारिणामिक भावरूप सत् ही है, वह वैसा का वैसा ही परिणमता है जो हम आगे देखेंगे।

भावार्थ - 'अथवा शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य गुण और पर्याय इत्यादि कुछ भी नहीं है। केवल सर्व के समुदायरूप एक सत् ही पदार्थ है (यह कथन वास्तविकतारूप=अभेदनय का है और यही कार्यकारी है इसलिए भेदरूप व्यवहार में रमनेयोग्य नहीं है परन्तु अभेदरूप वस्तु में ही स्थिर होनेयोग्य है, जो हम आगे देखेंगे।) क्योंकि जितनी कोई भेदविवक्षा है, वह सब पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से ही कल्पित करने में आती है (अर्थात् वास्तविक स्वरूप तो मात्र अभेद ही है, बाकी सब मात्र कल्पना ही है)। शुद्धद्रव्यार्थिकनय, किसी भी प्रकार के भेद को विषय नहीं करता इसलिए शुद्धद्रव्यार्थिकनय से निरन्तर सर्व अवस्थाओं में सत् ही प्रतीतिमान होता है (सर्व अवस्थाओं में=पर्याय में एकमात्र पंचमभावरूप=परमपारिणामिकभावरूप सत् ही प्रतीतिमान होता है) परन्तु उत्पाद-व्ययादिक नहीं। इसका स्पष्टीकरण-'

गाथा २१७ - अन्वयार्थ - 'सारांश यह है कि जो भेद होता है अर्थात् जिस समय भेद विवक्षित होता है, उस समय निश्चय से वे उत्पादादि तीनों प्रतीत होने लगते हैं तथा जिस समय

वह भेद मूल से ही विवक्षित करने में नहीं आता, उस समय वे तीनों (भेद) भी प्रतीत नहीं होते।'

भावार्थ – 'ऊपर के कथन का सारांश यह है कि – पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है और दोनों नय (द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक) पदार्थ के सामान्य, विशेष धर्मों में से परस्पर सापेक्ष किसी एक धर्म को मुख्यरूप से तथा दूसरे धर्म को गौणरूप से विषय करते हैं (इसलिए द्रव्यार्थिक चक्षुवाले को जहाँ प्रमाणरूप द्रव्य, मात्र सामान्यरूप ही ज्ञात होता है, वहाँ पर्यायार्थिक चक्षुवाले को वह प्रमाणरूप द्रव्य मात्र पर्यायरूप ही ज्ञात होता है और प्रमाणचक्षु से देखने में आने पर वही प्रमाणरूप द्रव्य, उभयरूप अर्थात् द्रव्य-पर्यायस्वरूप ज्ञात होता है; इसलिए समझना यह है कि जैन सिद्धान्त में सब कुछ विवक्षावश अर्थात् अपेक्षा से कहा जाता है, नहीं कि एकान्त से; इसलिए जब ऐसा प्रश्न होता है कि पर्याय किसकी बनी है? और उत्तर – द्रव्य की=ध्रौव्य की, ऐसा दिया जावे तो जैन सिद्धान्त नहीं समझनेवालों को लगता है कि पर्याय में द्रव्य कहाँ से आ गया? अरे भाई! पर्याय है वह द्रव्य का ही वर्तमान है और कोई भी वर्तमान उस द्रव्य का ही बना हुआ होगा न! दृष्टान्त-जैसे समुद्र में लहरें किसकी बनी हुई हैं? तो कहना पड़ेगा कि पानी की अर्थात् समुद्र की और मिट्टी का घड़ा किसका बना हुआ है? तो कहना पड़ेगा कि मिट्टी का; इसी प्रकार स्वर्ण के कुण्डलादिक आकारोंरूप पर्यायें किसकी बनी हुई है? तो कहना पड़ेगा कि स्वर्ण की; अब पूछते हैं कि ज्ञेयाकाररूप पर्यायें किसकी बनी हुई है? तो कहना पड़ेगा कि ज्ञान की और वह ज्ञान सामान्य ही ज्ञायक है। ऐसी ही द्रव्य पर्यायरूप वस्तुव्यवस्था है कि जिसे समझे बिना मिथ्यात्व का दोष खड़ा ही रहनेवाला है; इसीलिए ही यह वस्तुव्यवस्था सर्व प्रथम स्पष्ट समझना अत्यन्त आवश्यक है।) इसलिए जिस समय भेदविवक्षित होता है, उस समय अभेद गौण हो जाने से उत्पादादिक तीनों प्रतीत होने लगते हैं, इसीलिए जिस समय द्रव्यार्थिकनय द्वारा अभेदता विवक्षित होती है, उस समय भेद गौण हो जाने से उत्पादादिक तीनों में से किसी की प्रतीति नहीं होती परन्तु मात्र एक सत् ही सत् प्रतीतिमान होता है।'

जैन सिद्धान्त में त्रिकाल ध्रुवरूप वस्तु अथवा पर्यायरहित का द्रव्य लक्ष्य में लेने की ऐसी है विधि क्योंकि अभेद द्रव्य में से कुछ भी निकालना हो तो वह मात्र प्रज्ञा से=बुद्धि से ही (लक्ष्य करने से-मुख्य गौण करने से ही) निकाला जा सकता है, अन्यथा नहीं, जो हम आगे विचार करेंगे।

आगे शंकाकार नयी शंका करता है कि –

गाथा २१८ – अन्वयार्थ – 'शंकाकार का कहना ऐसा है कि निश्चय से उत्पाद और व्यय ये दोनों ही अंशस्वरूप भले हों, परन्तु त्रिकालगोचर जो ध्रौव्य है, वह किस प्रकार अंशात्मक होगा? यदि ऐसा कहो तो' – इस शंका का समाधान –

गाथा २१९ - अन्वयार्थ - 'ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वास्तव में ये तीनों अंश स्वयं सत् ही है परन्तु सत् के नहीं, क्योंकि-यहाँ सत् वह अर्थान्तरों की भाँति एक-एक होकर अनेक है, ऐसा नहीं है।'

भावार्थ - 'ऊपर की शंका ठीक नहीं है, क्योंकि जैन सिद्धान्त में सत् के उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्यरूप अंश नहीं माने हैं परन्तु सत् स्वयं ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक माना है (अर्थात् द्रव्य को एक, अखण्ड, अभेदस्वरूप ही माना है जो वास्तविकता है और वह स्वयं ही उत्पाद-व्ययरूप होता है) उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य ये तीनों प्रत्येक भिन्न-भिन्न पदार्थों की भाँति मिलकर अनेक नहीं है परन्तु विवक्षावश ही (भेदनय से अथवा मुख्य-गौण से) ये तीनों भिन्न-भिन्नरूप से प्रतीत होते हैं। इसका स्पष्टीकरण -'

गाथा २२० - अन्वयार्थ - 'इस विषय में यह उदाहरण है कि - यहाँ जो उत्पादरूप से परिणत सत् जिस समय उत्पाद द्वारा लक्ष्यमान होता है, उस समय वस्तु को केवल उत्पादमात्र कहने में आता है।'

भावार्थ - 'पदार्थ, अनन्त धर्मात्मक है, शब्द व नयात्मक ज्ञान के अंश द्वारा उसके सम्पूर्ण धर्म विषयभूत नहीं हो सकते इसलिए उन अनन्त धर्मों में जो ज्ञानांश या शब्द द्वारा जो कोई भी एक धर्म विषयभूत होता है, उस ज्ञानांश या शब्द द्वारा (प्रज्ञा=बुद्धि द्वारा) वस्तु उस समय केवल उसी धर्मरूप जानने में आती है या कहने में आती है। (जैसे कि आत्मा को ज्ञानमात्र कहने पर उसका मात्र ज्ञानगुण ही लक्ष्य में नहीं लेना है परन्तु पूर्ण वस्तु अर्थात् पूर्ण आत्मा ही ज्ञानमात्र कहने से ग्रहण करना) इस न्यायानुसार जिस समय में नवीन-नवीनरूप से परिणत सत् उत्पादरूप, ज्ञान तथा शब्द द्वारा विवक्षित होता है, उस समय वह सत् केवल उत्पादमात्र कहने में आता है।'

यहाँ कोई ऐसा कहे कि ध्रुव तो उत्पाद-व्यय से अलग होना ही चाहिए अथवा रखना ही चाहिए, द्रव्य को केवल उत्पादमात्र कैसे कहते हो? तो उत्तर यह है कि वस्तु के (सत् के) एक अंश को लक्ष्य में लेकर अर्थात् मुख्य करके कथन करने में आवे तो बाकी के समस्त अंश उसमें ही अंतर्गर्भित हो जाते हैं अर्थात् एक को मुख्य करने पर बाकी के सब अपने आप ही अत्यन्त गौण हो जाते हैं और उस मुख्य अंश से ही पूर्ण वस्तु का व्यवहार होता है अर्थात् प्रतिपादन, प्रस्तुति होती है, वहाँ प्रतिपादन अन्य अंशों को छोड़कर एक अंश का नहीं होता परन्तु एक अंश को मुख्य और अन्य अंशों को गौण करके होता है और यही जैन सिद्धान्त की प्रतिपादन की शैली है कि जिसे स्याद्वाद कहा जाता है जो कि जैन सिद्धान्त का प्राण है।

गाथा २२१ – अन्वयार्थ – 'अथवा जिस समय यहाँ व्ययरूप से परिणत वह सत् केवल व्यय द्वारा निश्चयरूप से लक्ष्यमान होता है, उस समय वही सत् निश्चय से केवल व्ययमात्र क्या नहीं होगा? अवश्य होगा।'

गाथा २२२ – अन्वयार्थ – 'अथवा जिस समय ध्रौव्यरूप से परिणत सत् (केवल) ध्रौव्य द्वारा लक्ष्यमान होता है, उस समय उत्पाद-व्यय की भाँति वही का वही सत् ध्रौव्यमात्र है, ऐसा ही प्रतीत होता है।'

अर्थात् पूर्व में बताये अनुसार द्रव्यार्थिक चक्षुवाले को जहाँ प्रमाणरूप द्रव्य, मात्र सामान्यरूप ही ज्ञात होता है अर्थात् ध्रुवरूप ही ज्ञात होता है, वहाँ पर्यायार्थिक चक्षुवाले को वही प्रमाणरूप द्रव्य मात्र पर्यायरूप ही ज्ञात होता है अर्थात् उत्पाद-व्ययरूप ही ज्ञात होता है और प्रमाण चक्षु से देखने में आने पर वही प्रमाणरूप द्रव्य, उभयरूप अर्थात् द्रव्य-पर्यायरूप ज्ञात होता है अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप ज्ञात होता है; इसलिए समझना यह है कि जैन सिद्धान्त में प्रत्येक कथन विवक्षावश ही अर्थात् अपेक्षा से ही कहा जाता है, नहीं कि एकान्त से; इसलिए जब ऐसा प्रश्न होता है कि पर्याय किसकी बनी है? और उत्तर- द्रव्य की=ध्रौव्य की, ऐसा दिया जाय तो जैन सिद्धान्त नहीं समझनेवालों को लगता है कि ये पर्याय में द्रव्य कहाँ से आ गया? अरे भाई! पर्याय है वह द्रव्य का ही वर्तमान है और कोई भी वर्तमान उस द्रव्य का ही बना हुआ होगा न? ऐसा है जैन सिद्धान्त अनुसार त्रिकाली ध्रुव वस्तु का स्वरूप, अन्यथा नहीं; अन्यथा लेने पर वह जिनमत बाह्य है। दृष्टान्त –

गाथा २२३ – अन्वयार्थ – 'इस विषय में उदाहरण यह है कि-यहाँ मिट्टीरूप द्रव्य, सतात्मक घट द्वारा लक्ष्यमान होता हुआ केवल घटरूप ही कहने में आता है तथा वहाँ ही असतात्मक पिण्डरूप द्वारा लक्ष्यमान होता हुआ केवल पिण्डरूप ही कहने में आता है।' और अब मिट्टीरूप (ध्रुवरूप) कहते है।

गाथा २२४ – अन्वयार्थ – 'अथवा वह मिट्टीरूप द्रव्य अगर यहाँ केवल मृतिकापने से लक्ष्यमान होता है तो वह मिट्टी ही कहने में आता है, इस प्रकार एक सत् के ही उत्पादादिक तीनों इस सत् में अंश है।'

इस प्रकार एक अभेद सत्रूप वस्तु को अलग-अलग विवक्षाओं से देखने पर वह पूर्ण वस्तु ही उस स्वरूप कही जाती है, जैसे कि घट को मात्र मिट्टीरूप अर्थात् त्रिकाली ध्रुवरूप देखने से वह पूर्ण वस्तु (घट) मात्र मिट्टीरूप ही ज्ञात होती है, अर्थात् उसमें से घटत्व अथवा पिण्डत्व

निकाल देना नहीं पड़ता, वह अपने आप ही मिट्टीत्व में अंतर्भूत हो जाता है, अत्यन्त गौण हो जाता है और यही विधि है त्रिकाली ध्रुव द्रव्य को द्रव्यदृष्टि से निहारने की; अन्य विधि नहीं। यही आगे बताते हैं।

गाथा २२५ – अन्वयार्थ – 'परन्तु वृक्ष में फल, फूल तथा पत्र की भाँति कोई अंशरूप एक भाग से सत् का उत्पाद अथवा संहार अर्थात् व्यय तथा ध्रौव्य नहीं है।'

अर्थात् वास्तव में द्रव्य में ध्रुव और पर्याय ऐसे दो भाग नहीं हैं और उनके क्षेत्र भेद (भिन्न प्रदेश) भी नहीं है परन्तु एक ही वस्तु को अपेक्षा से-भेदनय से ऐसा कहा जाता है।

भावार्थ – 'परन्तु जिस प्रकार वृक्ष में फूल, फल तथा पत्र इत्यादि भिन्न-भिन्न अंशों से रहते हैं और वह वृक्ष भी उनके संयोग से फल, फूल, पत्रादिवाला कहने में आता है, उस प्रकार सत् के किसी एक अंश से अलग उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य नहीं है तथा न तो अलग-अलग अंशात्मक उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से, द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला ही कहा जाता है। इसलिए शंकाकार का 'उत्पाद-व्यय को अंशात्मक मानना और ध्रौव्य को अंशात्मक न मानना' यह कथन (शंका) ठीक नहीं है।'

अब शंकाकार शंका करता है कि उत्पादादिक तीनों अंशों के होते हैं या अंशी के (द्रव्य के=सत् के) होते हैं? तथा ये तीनों सतात्मक अंश हैं या भिन्न असतात्मक अंश हैं? उसका समाधान देते हैं–

गाथा २२७ – अन्वयार्थ – 'ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि जैन सिद्धान्त में निश्चय से अनेकान्त ही बलवान है परन्तु सर्वथा एकान्त बलवान नहीं है इसलिए अनेकान्तपूर्वक समस्त ही कथन अविरुद्ध होते हैं तथा अनेकान्त के बिना समस्त कथन विरुद्ध हो जाते हैं।'

अर्थात् कभी किसी ने मात्र शब्दों को पकड़कर एकान्त अर्थ नहीं निकालना चाहिए क्योंकि जैन सिद्धान्त में प्रत्येक शब्द-प्रत्येक वाक्य किसी न किसी अपेक्षा के बिना नहीं होता इसलिए उन शब्दों अथवा वाक्यों को उस-उस अपेक्षानुसार समझकर ग्रहण करना आवश्यक है, एकान्त ग्रहण नहीं करके, अनेकान्तस्वरूप जैन सिद्धान्त अनुसार ही अर्थ समझना योग्य है, अन्यथा एकान्त के दोष से मिथ्यात्व का दोष अवश्य ही आता है जो कि अनन्त भव भ्रमण बढ़ाने के लिए शक्तिमान है और इसीलिए एकान्त ग्रहण और एकान्त के आग्रह से बचकर प्रस्तुत किसी भी विधान को अनेकान्तस्वरूप समझाये अनुसार ग्रहण करके शीघ्रता से संसार से मुक्त होना योग्य है अर्थात् शीघ्रता से मोक्षमार्ग पर चलने के लिए अनेकान्त ही सहायभूत होने योग्य है।

गाथा २२८ – अन्वयार्थ – 'यहाँ केवल अंशों के न उत्पाद तथा न व्यय तथा न ध्रौव्य

होते हैं, तथा अंशी के भी वे उत्पादादि तीनों नहीं होते परन्तु निश्चय से अंश से युक्त अंशी के ये उत्पादादिक तीनों होते हैं।'

अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप द्रव्य कहा है, वह पूर्ण अभेद है और वह अभेदरूप ही परिणमता है और वह पूर्ण द्रव्य ही उत्पादादिरूप होता है; उसमें कोई अंशरूप विभाग नहीं है, वे मात्र अपेक्षा से कहे जाते हैं।

गाथा २२९ - भावार्थ - 'शंकाकार का कहना ऐसा है कि शब्द या अर्थ दृष्टि से उत्पादादि एक पदार्थ में बन सकते हैं, वैसे ध्रौव्य और उत्पाद-व्यय किसी एक पदार्थ में सिद्ध नहीं हो सकते, क्योंकि उत्पाद-व्यय अनित्यपने के साधक हैं और ध्रौव्य नित्यपने का साधक है, इसलिए ध्रौव्य और उत्पाद-व्यय, ये दोनों परस्पर विरोधी होने से उन्हें एक पदार्थ का मानना वह प्रत्यक्ष बाधित है। उसका समाधान-'

गाथा २३०-२३१ - अन्वयार्थ - '(ध्रौव्य और उत्पाद-व्यय परस्पर विरोधी हैं, यह बात) ठीक है, परन्तु यदि निश्चय से इन तीनों को क्षण भेद अर्थात् भिन्न-भिन्न समय हो तो अथवा निश्चय से सत् स्वयं ही नाश होता हो (अर्थात् सत् परिवर्तित न होकर नाश होता हो), तथा सत् स्वयं ही उत्पन्न होता हो (अर्थात् सत् परिवर्तित न होकर नाश होकर नया उत्पन्न होता हो) तो परस्पर विरुद्ध कथन होता परन्तु इन उत्पादादिक तीनों का क्षणभेद अथवा स्वयं सत् का ही नाश पाना या उत्पन्न होना वह किसी भी जगह, किसी भी हेतु से कुछ भी, किसी का भी, किसी भी प्रकार से नहीं होता, क्योंकि इस जगह उसका दृष्टान्त भी नहीं मिलने से, उसके साधक प्रमाण का अभाव है।'

गाथा २३८ - अन्वयार्थ - 'न्यायबल से यह सिद्ध हुआ कि ये तीनों (उत्पाद-व्यय-ध्रुव) एक कालवर्ती है, क्योंकि जो वृक्षपना जो है वही अंकुररूप से उत्पन्न और बीजरूप से नष्ट होनेवाला है।'

अर्थात् पूर्ण द्रव्य ही एक पर्याय से नष्ट होकर दूसरी पर्यायरूप परिवर्तित होता रहता है और इसीलिए ही उसे ध्रुव कहा जाता है, उसकी पूर्व पर्याय को व्ययरूप और वर्तमान पर्याय को उत्पादरूप कहा जाता है, अर्थात् उस द्रव्य में उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप कोई अलग अंश नहीं, मात्र वस्तु व्यवस्था समझाने के लिए ऐसे भेद करके बतलाया है कि - जो कोई द्रव्य है, वह द्रवता है अर्थात् परिणमता है, अर्थात् परिवर्तित होता रहता है और वह परिवर्तित होते हुए द्रव्य को ध्रुव कहा जाता है। जबकि उसके परिणाम को-अवस्था को पर्याय (उत्पाद-व्यय) रूप कहा जाता है।

गाथा २४३ – अन्वयार्थ – 'प्रकृत कथन में ऐसा मानने में आया है कि सत् को कोई अन्य (पूर्व) पर्याय से विनाश तथा किसी अन्य (वर्तमान) पर्याय से उत्पाद तथा उन दोनों से भिन्न किसी सदृश्य पर्याय से (द्रव्य सामान्यरूप कि जिसकी दोनों पर्यायें बनी हैं और जो सामान्यरूप होने से ऐसा का ऐसा ही उत्पन्न होता है इसलिए उसे सदश–पर्यायरूप=परम पारिणामिक भावरूप कहा जाता है) ध्रौव्य होता है।' अब इसका ही उदाहरण बतलाते हैं–

गाथा २४४ – अन्वयार्थ – 'यहाँ उदाहरण वृक्ष की भाँति है कि जैसे वह वृक्ष सतात्मक अंकुररूप से स्वयं ही (अर्थात् वृक्ष स्वयं ही अर्थात् द्रव्य स्वयं ही) उत्पन्न है, बीज रूप से नष्ट है (पूर्व पर्याय से नष्ट कहा जाता है) तथा दोनों अवस्थाओं में वृक्षपने से ध्रौव्य (अर्थात् समझना यह है कि वृक्षरूप ध्रौव्य किसी पर्याय से भिन्न अपरिणामी विभाग नहीं, परन्तु जो पर्याय है वह विशेष है और उसका ही सामान्य अर्थात् वह जिसकी बनी हुई है, उसे ही ध्रौव्य कहा जाता है अर्थात् अन्य कोई अपरिणामी ध्रौव्य अलग नहीं है, यह समझना आवश्यक है कि –वह द्रव्य ही है कि जिसकी पर्याय बनी हुई है, वह द्रव्यपने से ध्रौव्य) ऐसा भी है अर्थात् वृक्ष में (अर्थात् द्रव्य में)अलग–अलग अपेक्षा से ये तीनों (बीज, अंकुर और वृक्षपना अर्थात् व्यय, उत्पाद और ध्रौव्यपना) एक समय में होता है।' ऐसा है जैन सिद्धान्त अनुसार वस्तु का स्वरूप जो कि प्रत्येक मोक्षेच्छुक को स्वीकार करना ही पड़ेगा।

भावार्थ – '...बीज के अभाव और अंकुर के उत्पादरूप दोनों अवस्थाओं में सामान्यरूप से वृक्षत्व मौजूद है...' अर्थात् समझना यह है कि विशेषरूप अवस्थाएँ (पर्यायें) सामान्यरूप (द्रव्य) की ही बनी हुई है।

गाथा २४६ – अन्वयार्थ – 'जिस कारण से उत्पाद और व्यय इन दोनों का आत्मा स्वयं सत्, वही है (अर्थात् उत्पाद, व्ययरूप पर्याय सत्रूप द्रव्य की ही बनी है कि जिसे सामान्यरूप ध्रौव्य कहा जाता है) इसलिए ये दोनों तथा वस्तु अर्थात् ध्रौव्य ये तीनों सत् ही हैं, सत् से अन्य नहीं अर्थात् भिन्न नहीं (भिन्न प्रदेशी नहीं)।' वास्तव में वस्तु अभेद होने से ही ऐसी वस्तुव्यवस्था घटित होती है। अब सारांश–

गाथा २४७ – अन्वयार्थ – 'पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से उत्पाद है, व्यय है तथा ध्रौव्य है परन्तु द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से न उत्पाद है, न व्यय है तथा न ध्रौव्य है।'

इसलिए हम जब द्रव्यपर्यायस्वरूप वस्तु को अर्थात् प्रमाणरूप द्रव्य को मात्र द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से त्रिकाली ध्रुव कहते हैं तब किसी को प्रश्न होगा कि–इसमें प्रमाण का द्रव्य क्यों

लिया जाता है? तो उसका उत्तर यह है कि – जैसी आपकी दृष्टि होगी, वैसा ही द्रव्य आपको दिखेगा अर्थात् जो द्रव्य को प्रमाणदृष्टि से देखते हैं, उन्हें वह द्रव्य=वस्तु प्रमाणरूप दिखेगा, जो पर्यायदृष्टि से देखे उसे वह द्रव्य मात्र पर्यायरूप ज्ञात होगा और उसी प्रमाण के द्रव्य को यदि द्रव्यार्थिकनय के चक्षु से निरखा जाये तो वह पूर्ण वस्तु (पूर्ण द्रव्य) मात्र त्रिकाली ध्रुवरूप ही ज्ञात होगा कि जो पर्याय से निरपेक्षरूप सामान्य मात्र ही है; यही जैन सिद्धान्त की अद्‌भुतता है, कमाल है और यही विधि है पर्यायरहित द्रव्य पाने की। इसलिए सर्व जनों को हमारा निवेदन है कि सर्व प्रथम आप 'जैसा है वैसा' वस्तु व्यवस्था समझोगे तो आपके प्रश्न का उत्तर, आपको अपने आप ही मिल जायेगा और इसी कारण से ही यह बात इतने विस्तार से समझायी है और उसमें पुनरावर्तन का दोष सेवन करके भी बारम्बार उसी बात को स्पष्ट किया है कि वस्तु व्यवस्था और स्याद्‌वाद शैली समझे बिना शब्द और वाक्यों के अर्थ समझना अत्यन्त कठिन है और अनेकान्तस्वरूप वस्तु व्यवस्था समझने के बाद वह अत्यन्त सरल है, यही बात आगे दृढ़ कराते हैं।

गाथा २५४ – अन्वयार्थ – '(उत्पाद–व्यय) तथा ध्रौव्य भी नियम से उत्पाद–व्यय इन दोनों के बिना नहीं होता क्योंकि वहाँ विशेष के अभाव में सतात्मक सामान्य का भी अभाव होता है' अर्थात् उत्पाद–व्ययरूप विशेष ध्रौव्यरूप सामान्य का ही बना है कि जिससे एक के अभाव में दूसरे का भी अभाव होता है।

भावार्थ – 'वस्तु सामान्य विशेषात्मक है, विशेष निरपेक्ष सामान्य तथा सामान्य निरपेक्ष विशेष वह कोई वस्तु ही सिद्ध नहीं होती, ध्रौव्य सामान्यरूप है और उत्पाद–व्यय विशेषरूप है। इसलिए उत्पाद–व्यय बिना ध्रौव्य भी नहीं बन सकता, क्योंकि उत्पाद–व्ययात्मक विशेष बिना ध्रौव्यात्मक सामान्य की भी सिद्धि नहीं हो सकती–इसलिए –'

गाथा २५५ – अन्वयार्थ – 'इस प्रकार यहाँ उत्पादादिक तीनों की व्यवस्था बहुत सुन्दर है परन्तु उन उत्पादादिक तीनों में से किसी एक के निषेध को कहनेवाला अपने पक्ष का भी घातक होता है। इसलिए केवल उत्पादादिक केवल एक की व्यवस्था मानना ठीक नहीं है।'

यहाँ स्पष्ट होता है कि यदि कोई अभेद द्रव्य में से पर्याय को निकालने का प्रयत्न करेगा अर्थात् जिसे पर्यायरहित द्रव्य इष्ट होगा तो उसे पूर्ण द्रव्य का ही लोप हो जायेगा, अर्थात् वह मात्र भ्रम में ही रह जायेगा, इसलिए पर्यायरहित द्रव्य निकालने की विधि जो ऊपर बतलायी है, वैसे द्रव्यार्थिकनय के चक्षु से अर्थात् द्रव्यदृष्टि से है, मात्र द्रव्य को ही ध्यान में लेने से वह पूर्ण द्रव्य कि जिसे आप प्रमाण का द्रव्य भी कह सकते हो, वैसा पूर्ण द्रव्य ही मात्र द्रव्यरूप अर्थात् ध्रुवरूप ही ज्ञात होगा, उसका ही लक्ष्य होगा, इसलिए पर्यायरहित द्रव्य चाहिए तो उसकी विधि

ऐसी ही है; अन्य किसी प्रकार से तो द्रव्य का ही अभाव हो जायेगा और वह स्वयं अपने पक्ष का ही घातक बनकर मात्र भ्रम में ही रहेगा।

दूसरा, कोई वर्तमान पर्याय को दृष्टि के विषय के लिये बाहर रखे तो पूर्ण द्रव्य ही बाहर हो जायेगा, ऐसा है वस्तुस्वरूप, ऐसी है वस्तु व्यवस्था जैन सिद्धान्त की, जो कि अनेकान्तरूप है, एकान्तरूप नहीं; इस विधि से द्रव्य को परिणामी नहीं माननेवाले को क्या दोष आयेगा? उत्तर–

गाथा २५८ – अन्वयार्थ – 'तथा निश्चय से केवल एक ध्रौव्यपने का विश्वास करने–माननेवाले को भी द्रव्य परिणामी नहीं बनेगा तथा उसका परिणामीपना न होने से वह ध्रौव्य, ध्रौव्य भी नहीं रह सकेगा।'

यहाँ समझना यह है कि जो कोई ध्रौव्यरूप द्रव्य को अपरिणामी मानते हों तो, वह ऐसा एकान्त से नहीं क्योंकि यदि ध्रौव्य अपरिणामी हो तो द्रव्य का ही अभाव होगा और इस कारण से ध्रौव्य का भी अभाव ही होगा, क्योंकि कोई भी वस्तु उसके वर्तमान के बिना नहीं होती। अर्थात् कोई भी द्रव्य (ध्रौव्य) उसकी अवस्था (वर्तमान=पर्याय) बिना होता ही नहीं और यदि ऐसा माना जाये तो उस द्रव्य का (ध्रौव्य का) ही अभाव हो जायेगा; इस कारण से उस ध्रौव्य को अवश्य परिणामी मानना पड़ेगा और वह परिणाम (अर्थात् उपादानरूप ध्रौव्य का कार्य–उसकी अवस्था) को ही उत्पाद–व्ययरूप पर्याय कहा जाता है। और उसमें (पर्याय में) रहे हुए सामान्य भाव (अर्थात् पर्याय जिसकी बनी है वह भाव) को ध्रौव्य कहा जाता है और उसका लक्षण है यह वैसा ही है और इस लक्षण अपेक्षा से उसे अपरिणामी भी कहा जाता है परन्तु अन्यथा नहीं, अन्यथा समझने से तो मिथ्यात्व का ही दोष आयेगा। उपसंहार–

गाथा २६० – अन्वयार्थ – 'ऊपर के दोषों के भय से तथा प्रकृत आस्तिकता को चाहनेवाले पुरुषों को यहाँ पर उत्पादादिक तीनों का उपरोक्त अविनाभाव ही मानना चाहिए।'

अर्थात् यह बात लक्ष्य में लेने योग्य है कि–जो कोई इस प्रकार से वस्तु व्यवस्था न मानते हों, उन्हें मिथ्यात्वी ही समझना अर्थात् जो कोई आत्मार्थी है, उन्हें यहाँ बतलायी वस्तु व्यवस्था को ही सम्यक् समझकर अपनाना परम आवश्यक है, अन्यथा मिथ्यात्व के दोष के कारण स्वयं को अनन्त संसार खड़ा ही रहेगा अर्थात् अनन्त दुःख से छुटकारा मिलेगा ही नहीं।

दूसरा, पंचाध्यायी शास्त्र में इसके अतिरिक्त भी इसी बात को पुष्ट करनेवाली अनेक गाथाएँ हैं परन्तु विस्तार भय के कारण अब हम अमुक ही महत्त्व की गाथाएँ देखेंगे; इसलिए विस्तार रुचिवालों को इस शास्त्र का पूर्णरूप से अभ्यास करना योग्य है।

गाथा ३०३ - अन्वयार्थ - 'इस कारण से जो सत् विधिरूप (अन्वयरूप, ध्रुवरूप, सामान्यरूप, द्रव्यरूप) अथवा निषेधरूप (अर्थात् व्यतिरेकरूप-उत्पादव्ययरूप-विशेषरूप-पर्यायरूप) भी कहा है, वही सत् (वस्तु=द्रव्य) यहाँ परस्पर की अपेक्षा से किसी एक में कोई दूसरा गर्भित हो जाने से कहा जा सकता है अर्थात् परस्पर सापेक्ष होने से एक-दूसरे में गर्भित हो जाता है।'

अर्थात् निषेधरूप पर्याय है, वह विधिरूप ध्रुव की ही बनी है और इसलिए वे दोनों एक-दूसरे में गर्भित हो जाते हैं और अपेक्षा अनुसार कोई एक ही (द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय से) ज्ञात होते हैं, जबकि प्रमाण चक्षु से उभय अर्थात् दोनों ज्ञात होते हैं।

भावार्थ - 'इस प्रकार वस्तु अन्वय-व्यतिरेकात्मक सिद्ध होने से जिस समय वस्तु विधिरूप कही जाती है, उस समय निषेधरूप विशेष धर्म गौणरूप से उस विधि में गर्भित हो जाता है (अर्थात् ध्रुव में पर्याय गर्भित हो जाती है) ऐसा समझना, तथा जिस समय वही वस्तु निषेधरूप से विवक्षित होती है, उस समय विधिरूप सामान्य भी उसी निषेध में गौणरूप से गर्भित हो जाता है (अर्थात् पर्याय में ध्रुव गर्भित हो जाता है-अर्थात् पर्याय ध्रुव की ही बनी है) ऐसा समझना, क्योंकि अस्ति-नास्ति सर्वथा पृथक् नहीं परन्तु परस्पर सापेक्ष है, इसलिए विवक्षित की मुख्यता में अविवक्षित गौणरूप से गर्भित रहता है।'

जैन सिद्धान्त में अभाव करने की ऐसी विधि है कि जो मुख्य गौणरूप व्यवस्था है, अन्यथा नहीं; इसलिए जिसे अन्य विधि का आग्रह है-पक्ष है, उसे नियम से मिथ्यात्वी जानना।

गाथा - ३०७ - अन्वयार्थ - 'सारांश यह है कि विधि ही स्वयं (अन्वय ही स्वयं, ध्रुव ही स्वयं, सामान्य ही स्वयं, द्रव्य ही स्वयं) युक्तिवशात् (अर्थात् पर्यायार्थिकनय से, पर्यायदृष्टि से, भेददृष्टि से) निश्चय से (यहाँ याद रखना निश्चय से बतलाया है) निषेधरूप (अर्थात् व्यतिरेकरूप, उत्पाद-व्ययरूप, विशेषरूप, पर्यायरूप) हो जाता है तथा उसी तरह निषेध भी (अर्थात् व्यतिरेकरूप-उत्पाद-व्ययरूप-विशेषरूप-पर्यायरूप) स्वयं ही युक्तिवश से (अर्थात् द्रव्यार्थिकनय से, द्रव्यदृष्टि से, अभेददृष्टि से) विधिरूप (अर्थात् अन्वयरूप, ध्रुवरूप, सामान्यरूप, द्रव्यरूप) हो जाता है।'

अब इस गाथा से अधिक प्रमाण क्या चाहिए वस्तु व्यवस्था समझने के लिये! यहाँ यही बतलाया है कि द्रव्यदृष्टि अथवा पर्यायदृष्टि अनुसार एक ही वस्तु क्रम से द्रव्यरूप (ध्रुवरूप) अथवा पर्यायरूप (उत्पादरूप, व्ययरूप) ज्ञात होती है, वहाँ कोई क्षेत्र अपेक्षा से विभाग नहीं

है और यही विधि है जैन सिद्धान्त की पर्यायरहित द्रव्य को देखने की, इसलिए ही आचार्य भगवान ने आगे की गाथा में कहा है कि -

गाथा ३०८ - अन्वयार्थ - 'इस प्रकार यहाँ तत्त्व को जाननेवाले कोई भी जैन तत्त्व वेदी ऐसे होते हैं वे स्याद्वादी कहलाते हैं तथा इससे अन्यथा जाननेवाले सिंह माणवक (बिल्ली को सिंह माननेवाले) कहलाते हैं।'

भावार्थ - 'इस प्रकार अनेकान्तात्मक तत्त्व को विवक्षावश विधि और निषेधरूप जाननेवाला कोई जैन ही सच्चा तत्त्वज्ञानी तथा स्याद्वादी कहलाता है परन्तु इससे अन्य प्रकार से वस्तु स्वरूप को जाननेवाला पुरुष सच्चा तत्त्वज्ञानी या स्याद्वादी नहीं कहा जा सकता परन्तु सिंह माणवक कहलाता है अर्थात् जैसे बिल्ली को सिंह कहा जाता है परन्तु वास्तव में वह सिंह नहीं किन्तु बिल्ली ही है; इसी प्रकार उपरोक्तानुसार तत्त्व को न जानकर अन्यथा प्रकार से जाननेवाले पुरुषों को भी उपचार से ही तत्त्वज्ञानी कहा जा सकता है परन्तु वास्तव में नहीं।'

अर्थात् यह बात लक्ष्य में लेने योग्य है कि जो कोई यहाँ बतलायी गयी विधि से वस्तु व्यवस्था न मानते हों, उन्हें नियम से मिथ्यात्वी ही समझना; आगे भी आचार्य भगवन्त यही वस्तु व्यवस्था दृढ़ कराते हैं। जैसे कि -

गाथा ३३१ - भावार्थ - 'तद्भाव और अतद्भाव को (परस्पर) निरपेक्ष मानने से पूर्वोक्त कार्य कारणभाव के अभाव का प्रसंग आता है, परन्तु यदि दोनों को (परस्पर) सापेक्ष माना जाये तो 'तदिदं' (यह वैसा ही है) 'तदिदं न' (यह वैसा नहीं) इस आकारवाले तत्भाव और अतत्भाव प्रतीति में कार्य-कारण तथा क्रिया-कारक ये सब सिद्ध हो जाते हैं। सारांश कि-'

गाथा ३३२ - अन्वयार्थ - 'सारांश यह है कि सत्-असत् की तरह तत् तथा अतत् भी विधि निषेधरूप होते हैं परन्तु निरपेक्षरूप से नहीं, क्योंकि परस्पर सापेक्षरूप से तत्-अतत् ये दोनों भी तत्त्व हैं।' अन्यथा अर्थात् निरपेक्षरूप से वह अतत्त्व ही है यह समझना आवश्यक है।

गाथा ३३३ - अन्वयार्थ - 'पूर्वोक्त कथन का स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि जिस समय केवल तत् की विधि मुख्य होती है, उस समय कथंचित् अपृथक् होने के कारण से अतत् गौण हो जाता है। इसलिए वस्तु सामान्यरूप से तन्मात्र कहलाती है।' यही विधि है त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा की प्राप्ति की।

गाथा ३३४ - अन्वयार्थ - 'तथा जिस समय पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से केवल अतत्,

यह विवक्षा करने योग्य विधि मुख्य होती है, उस समय तत् वह स्वयं गौण होने से अविवक्षित रहता है इसलिए वस्तु को अतन्मात्र कहने में आता है।'

ऐसा है जैन सिद्धान्तानुसार वस्तु का स्वरूप, जो समझे बिना विकृत धारणाओं का अन्त शक्य ही नहीं है, कि जो मोक्षमार्ग के प्रवेश के लिये अत्यन्त आवश्यक है, अर्थात् सम्यग्दर्शन के लिए विकृत धारणाओं का अन्त और सम्यक् धारणा का स्वीकार अत्यन्त आवश्यक है।

गाथा ३३७ – अन्वयार्थ – 'ठीक है, परन्तु निश्चय से 'सर्वथा' इस पदपूर्वक सर्व कथन स्व-पर के घात के लिये हैं परन्तु स्यात् पद द्वारा युक्त सर्व पद स्व-पर के उपकार के लिये हैं।' अर्थात् स्याद्वाद के अतिरिक्त किसी का भी उद्धार नहीं है, यह बात सर्व जैनों को तो जरा भी भूलने योग्य है ही नहीं।

गाथा ३३८ – अन्वयार्थ – 'अब इसका स्पष्टीकरण यह है कि जैसे सत् स्वत: सिद्ध है (नित्य है), उसी प्रकार वह परिणमनशील भी है। (उत्पाद-व्ययरूप=अनित्य भी है) इसलिए एक ही सत् दो स्वभाववाला होने से (यहाँ दो स्वभाववाला बतलाया है-दो भागवाला नहीं समझना) वह नित्य तथा अनित्यरूप है।' नहीं कि एक भाग अपरिणामी और एक भाग परिणामी। अपेक्षा से ध्रुव को अपरिणामी कहा जाता है परन्तु वैसा माना नहीं जाता।

गाथा ३३९-३४० – अन्वयार्थ – 'सारांश यह है कि जिस समय यहाँ केवल वस्तु (ध्रुव=द्रव्य) दृष्टिगत होता है, परिणाम दृष्टिगत नहीं होते, उस समय वहाँ द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से वस्तुपने का नाश नहीं होने से सम्पूर्ण वस्तु (यहाँ ध्यान में लेने योग्य बात यह है कि सम्पूर्ण वस्तु बतायी हुई है उसमें से कुछ भी निकालने में नहीं आया – सम्पूर्ण वस्तु अर्थात् प्रमाण का विषय) नित्य है (ध्रुव है)। अथवा जिस समय निश्चय से केवल परिणाम दृष्टिगत होते हैं, वस्तु (ध्रुव=द्रव्य) दृष्टिगत नहीं होता, उस समय पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से नवीन पर्याय की उत्पत्ति तथा पूर्व पर्याय का अभाव होने से सम्पूर्ण वस्तु ही अनित्य है (अर्थात् पर्यायरूप है)।'

इसलिए समझना यह है कि जो पर्यायार्थिकनय के विषयरूप पर्याय है, उसी में द्रव्य अन्तर्गत=गर्भित हो जाने से वह पर्याय, उस द्रव्य की ही बनी है, ऐसा कहा जा सकता है और वही द्रव्य अगर शुद्धनय से शुद्ध देखने में आवे तो वही पंचमभाव अर्थात् परमपारिणामिकभाव है। इस कारण से किसी को प्रश्न हो कि समयसार गाथा १३ में बतलाया है कि 'नौ पदार्थ में (तत्त्व में) छुपी हुई आत्मज्योति' वह क्या है? तो उसका उत्तर यह है कि वह शुद्धनय से परम पारिणामिकभाव ही है, यह बात हम आगे विस्तार से समझेंगे।

गाथा ४११ – अन्वयार्थ – 'निश्चय से अभिन्न प्रदेश होने से कथंचित् सत् (ध्रुव=द्रव्य)

और परिणाम में अद्वैतता है तथा दीपक और प्रकाश की भाँति संज्ञा-लक्षणादि द्वारा भेद होने से सत् और परिणाम में द्वैत भी है।' अर्थात् द्रव्य और पर्याय ये दोनों अभिन्न प्रदेशी होने से अभेदरूप हैं और लक्षण द्वारा भेद किया जा सकता होने से-भेदरूप व्यवहार होता होने से भेदरूप भी है, इसलिए कथंचित् भेद-अभेदरूप कहे जाते हैं।

गाथा ४१२ - अन्वयार्थ - 'अथवा सत् और परिणाम की द्वैतता जल और उसकी तरंगों की भाँति अभिन्न तथा भिन्न भी है, क्योंकि जल तथा कल्लोलों में से जिस समय कल्लोलों की अपेक्षा से विचार किया जाता है, उस समय कल्लोलें उदित होती हैं तथा विलीन होती हैं, इसलिए वे जल से कथंचित् भिन्न हैं तथा जिस समय जल की अपेक्षा से विचार किया जाता है, उस समय वे कल्लोलें उदयमान तथा विलयमान ही नहीं होती परन्तु केवल जल ही जल प्रतीतिमान होता है; इसलिए वे जल से कथंचित् अभिन्न भी हैं। इस प्रकार सत् (ध्रुव) और परिणाम भी कथंचित् भिन्न तथा कथंचित् अभिन्न हैं।' यही विधि है त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा की प्राप्ति की, अन्यथा नहीं, क्योंकि अन्यथा मानने से मिथ्यात्व का दोष आता है; अब आगे घट और मृत्तिका का दृष्टान्त बतलाते हैं।

गाथा ४१३ - अन्वयार्थ - 'अथवा घट और मृत्तिका के द्वैत की भाँति यह सत् और परिणाम का द्वैत, द्वैत होने पर भी अद्वैत है, क्योंकि केवल मिट्टीपने के रूप से नित्य है, तथा केवल घटपने के रूप से अनित्य है।'

गाथा ४१४ - अन्वयार्थ - 'सारांश यह है कि सत् के विषय में प्रत्यभिज्ञानप्रमाण प्राप्त होने से सत् नित्य है जैसे कि 'यह वही है' तथा नियम से 'यह वह नहीं' इस प्रतीति से सत् नित्य नहीं अर्थात् अनित्य है।'

गाथा ५९१ - भावार्थ - 'नयों की परस्पर सापेक्षता वह नयों के अन्यथारूप से न होनेवाले अविनाभाव की ध्योतक (प्रकाशक) है क्योंकि जिसके बिना जिसकी सिद्धि न हो उसे अविनाभाव कहते हैं अर्थात् सामान्य के बिना विशेष की तथा विशेष के बिना सामान्य की सिद्धि नहीं हो सकती, इसलिए सामान्य को विषय करनेवाला जो द्रव्यार्थिकनय है तथा विशेष को विषय करनेवाला जो पर्यायार्थिकनय है, उन दोनों में परस्पर सापेक्षता है।'

हमने यहाँ द्रव्य-गुण-पर्याययुक्त सत्स्वरूप वस्तु अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप सत्रूप द्रव्य की व्यवस्था पूर्णत: समझायी है, ऐसा समझकर, वह जिसके लिये समझायी है, उसे अर्थात् सम्यग्दर्शन के विषय पर थोड़ा विचार करेंगे और उसका शास्त्र आधार देखेंगे।

❦

९

सम्यग्दर्शन का स्वरूप

सम्यग्दर्शन, वह मोक्षमार्ग के द्वार समान है और पूर्ण भेदज्ञानस्वरूप स्वात्मानुभूतिरूप सम्यग्दर्शन हुए बिना मोक्षमार्ग में प्रवेश शक्य ही नहीं; ऐसे भेदज्ञानयुक्त-स्वात्मानुभूतियुक्त सम्यग्दर्शन को ही निश्चय सम्यग्दर्शन कहा जाता है और वही मोक्षमार्ग के प्रवेश के लिये वास्तविक परवाना है और यह परवाना मिलने के बाद वह जीव नियम से अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल में सिद्ध हो ही जाता है, इस कारण से इस जीवन में सर्व प्रथम में प्रथम यदि कुछ करने योग्य हो तो वह है सम्यग्दर्शन।

प्रथम हम सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझेंगे। सम्यग्दर्शन अर्थात् देव-गुरु-धर्म का स्वरूप जैसा है वैसा समझना, अन्यथा नहीं और जब तक कोई भी आत्मा अपना यथार्थ स्वरूप नहीं समझता अर्थात् स्व की अनुभूति नहीं करता, तब तक देव-गुरु-धर्म का यथार्थ स्वरूप भी नहीं जानता परन्तु वह मात्र देव-गुरु-धर्म के बाह्य स्वरूप की ही श्रद्धा करता है और वह उसे ही सम्यग्दर्शन समझता है परन्तु वैसी देव-गुरु-धर्म की बाह्य स्वरूप की ही श्रद्धा यथार्थ श्रद्धा नहीं है और इसलिए वह निश्चय सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं, क्योंकि जो एक को (आत्मा को) जानता है वह सर्व को (जीव-अजीव इत्यादि नवतत्त्व और देव-गुरु-धर्म के यथार्थ स्वरूप को) जानता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि अन्यथा है वह व्यवहार (उपचार) कथन है और इसलिए वह सम्यग्दर्शन भव के अन्त के लिये कार्यकारी नहीं है। अर्थात् एक आत्मा को जानने से ही वह जीव सच्चे देवतत्त्व का आंशिक अनुभव करता है और इसीलिए वह सच्चे देव को अन्तर से पहिचानता है और वैसे सच्चे देव को जानते ही अर्थात् (स्वात्मानुभूति सहित की) श्रद्धा होते ही वह जीव वैसे देव बनने के मार्ग में गमनशील सच्चे गुरु को भी अन्तर से पहिचानता है और साथ ही साथ वह जीव वैसा देव बनने के मार्ग बतलानेवाले सच्चे शास्त्र को भी पहिचानता है।

इसलिए प्रथम तो शरीर को आत्मा न समझना और आत्मा को शरीर न समझना अर्थात् शरीर में आत्मबुद्धि होना, वह मिथ्यात्व है; शरीर, वह पुद्गल (जड़) द्रव्य का बना हुआ है और आत्मा, वह अलग ही (चेतन) द्रव्य होने से पुद्गल को आत्मा समझना अथवा आत्मा को पुद्गल समझना, वह विपरीत समझ है। दूसरे प्रकार से पुद्गल से भेदज्ञान और स्व के अनुभवरूप ही वास्तविक सम्यग्दर्शन होता है और वह कर्म से देखने में आवे तो कर्मों की पाँच/सात प्रकृति

का उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय को सम्यग्दर्शन कहा जाता है, परन्तु छद्मस्थ को कर्मों का ज्ञान तो होता नहीं, इसलिए अपने को तो प्रथम कसौटी से अर्थात् पुद्गल से भेदज्ञान और स्वानुभवरूप (आत्मानुभूतिरूप) ही सम्यग्दर्शन समझना।

इस कारण से प्रश्न होता है कि सम्यग्दर्शन करने के लिये क्या करना जरूरी है?

उत्तर – भगवान ने कहा है कि सर्व जीव स्वभाव से सिद्ध समान ही हैं तो यह बात समझना आवश्यक है। नियमसार में कहा है कि–

गाथा ४७ अन्वयार्थ – 'जैसे सिद्ध आत्मा हैं, वैसे भवलीन (संसारी) जीव हैं। जिससे (वे संसारी जीव, सिद्ध आत्माओं की भाँति) जन्म–मरण से रहित और आठ गुणों से अलंकृत है।' यह बात शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से है जो कि सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझने के लिये उपयोगी है।

गाथा ४८ अन्वयार्थ – 'जैसे लोकाग्र में सिद्ध भगवन्त अशरीरी, अविनाशी, अतीन्द्रिय, निर्मल, और विशुद्धात्मा (विशुद्ध स्वरूपी) हैं, वैसे संसार में (सर्व) जीव जानना।'

गाथा १५ अन्वयार्थ – 'मनुष्य, नारक, तिर्यंच और देवरूप पर्यायें, वे विभाव पर्यायें कही गयी हैं; कर्मोपाधिरहित पर्यायें वह स्वभावपर्यायें कहने में आयी हैं।'

गाथा ४९ अन्वयार्थ – 'ये (पूर्वोक्त) सभी भाव वास्तव में व्यवहारनय के आश्रय से (संसारी जीवों में विद्यमान) कहने में आये हैं; शुद्धनय से संसार में स्थित सर्व जीव सिद्ध स्वभावी हैं।'

श्लोक ७३ – श्लोकार्थ – 'शुद्ध निश्चयनय से मुक्ति में तथा संसार में अन्तर नहीं है – ऐसा ही वास्तव में तत्त्व विचारने पर (परमार्थ वस्तुस्वरूप का विचार अथवा निरूपण करने पर) शुद्ध तत्त्व के रसिक पुरुष कहते हैं।'

गाथा ५०, अन्वयार्थ – 'पूर्वोक्त सर्व भाव परस्वभाव हैं, परद्रव्य हैं, इसलिए हेय हैं; अन्तःतत्त्व ऐसा स्वद्रव्य–आत्मा उपादेय है।'

गाथा १०६, अन्वयार्थ – 'इस प्रकार जो सदा जीव और कर्म के भेद का अभ्यास करता है, वह संयत नियम से प्रत्याख्यान धारण करने को शक्तिमान है।'

गाथा १०, अन्वयार्थ – 'जीव उपयोगमय है। उपयोग ज्ञान और दर्शन है। ज्ञानोपयोग दो प्रकार का है; स्वभावज्ञान और विभावज्ञान।'

योगसार, दोहा २१, अन्वयार्थ – 'जो जिन है, वह आत्मा है – यह सिद्धान्त का सार है। ऐसा तुम समझो। ऐसा समझकर हे योगियों! अब मायाचार को छोड़ो।'

योगसार, दोहा २२, अन्वयार्थ – 'जो परमात्मा है, वही मैं हूँ और जो मैं हूँ, वही परमात्मा हैं ऐसा जानकर हे योगी! अन्य विकल्प न करो।'

ऊपर बतलायी गयी गाथाओं के सन्दर्भ में विचारेंगे तो लगेगा कि दिखते रूप से तो संसारी जीव शरीरस्थ है और सिद्ध के जीव मुक्त हैं, तो संसारी को सिद्ध जैसा कहा वह किस अपेक्षा से?

उत्तर – वह शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से, जैसे कि संसारी जीव शरीरस्थ होने पर भी, उनका आत्मा एक जीवत्वरूप पारिणामिकभावरूप होता है। वह जीवत्वरूप भाव छद्मस्थ को (अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय से) अशुद्ध होता है और वह अशुद्ध जीवत्व भाव अर्थात् अशुद्धरूप से परिणमित आत्मा में से अशुद्धि को (विभावभाव को) गौण करते ही, जो जीवत्वरूप भाव शेष रहता है, उसे ही 'परमपारिणामिकभाव', 'ध्रुवभाव', 'शुद्धात्मा', 'कारणपरमात्मा', 'कारणशुद्धपर्याय', 'सिद्धसदृशभाव', 'स्वभावभाव' – इत्यादि अनेक नामों से पहिचाना जाता है और उस भाव की अपेक्षा से ही सर्व जीव स्वभाव से सिद्धसमान ही हैं – ऐसा कहा जाता है; अब हम इसी बात को दृष्टान्त से देखेंगे–

जैसे गंदले पानी में शुद्ध पानी छुपा हुआ है, वैसे निश्चय से जो कोई उसमें फिटकरी (कतक फल=ALUM) घुमाता है तो अमुक समय के बाद उसमें (पानी में) रही हुई गंदगीरूप मिट्टी तल में बैठ जाने से, पूर्व का गंदला पानी स्वच्छरूप ज्ञात होता है। इसी प्रकार जो अशुद्धरूप (राग-द्वेषरूप) परिणमित आत्मा है, उसमें, विभावरूप अशुद्धभाव को प्रज्ञाछैनी से=बुद्धिपूर्वक गौण करते ही जो शुद्धात्मा ध्यान में आता है अर्थात् ज्ञान में विकल्परूप आता है, उसे भावभासन कहते हैं और शुद्धात्मा की अनुभूति होते ही जीव को सम्यग्दर्शन होता है अर्थात् वह जीव उस शुद्ध आत्मरूप में (स्वभाव में=स्वरूप में) 'मैंपना' करते ही कि जो पहले शरीर में 'मैंपना' करता था, उस जीव को सम्यग्दर्शन होता है; यह विधि है सम्यग्दर्शन की। अर्थात् **जो जीव राग-द्वेषरूप परिणमित होने पर भी मात्र शुद्धात्मा में ही (द्रव्यात्मा में ही=स्वभाव में ही) 'मैंपना' (एकत्व) करता है और उसी का अनुभव करता है, वही जीव सम्यग्दृष्टि है अर्थात् वही सम्यग्दर्शन की विधि है।**

दूसरा दृष्टान्त – जैसे दर्पण में अलग-अलग प्रकार के अनेक प्रतिबिम्ब होते हैं परन्तु

उन प्रतिबिम्बों को गौण करते ही स्वच्छ दर्पण दृष्टि में आता है; इसी प्रकार आत्मा में अर्थात् ज्ञान में जो ज्ञेय होते हैं, उन ज्ञेयों को गौण करते ही निर्विकल्परूप ज्ञान का अर्थात् 'शुद्धात्मा' का अनुभव होता है; यह ही सम्यग्दर्शन की विधि है, इसी विधि से अशुद्ध आत्मा में भी सिद्ध समान शुद्धात्मा का निर्णय करना और उसी में 'मैंपना' करने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

कोई ऐसा मानते हों कि द्रव्य में शुद्ध भाग और अशुद्ध भाग ऐसे दो भाग हैं और जो शुद्ध भाग है वह द्रव्य है तथा अशुद्ध भाग है वह पर्याय है तो द्रव्य में अपेक्षा से समझने से दो भाग नहीं परन्तु दो भाव हैं कि जो बात हमने प्रथम ही शास्त्र की गाथाओं से नि:सन्देह सिद्ध की ही है। वे दो भाव इस प्रकार हैं कि जो विशेष है, वह पर्याय कहलाता है कि जो विभावभाव सहित होने से अशुद्ध कहलाता है और जो उसका ही सामान्य भाव है कि जो परमपारिणामिकभावरूप है, वह द्रव्य, कि जो त्रिकाल शुद्ध ही होता है; इस अपेक्षा से द्रव्य शुद्ध और पर्याय अशुद्ध ऐसा कहा जाता है परन्तु दो भाग रूप नहीं है।

जैसे छद्मस्थ जीवों को आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में अनन्त-अनन्त कार्मण वर्गणायें हैं और वे कार्मण वर्गणायें आत्मा के सर्व प्रदेशों के साथ क्षीर-नीरवत् (दूध में पानी की भाँति) सम्बन्ध से बँधी हुई होने की अपेक्षा से आत्मा का कोई भी प्रदेश शुद्ध नहीं है अर्थात् यदि कोई ऐसा कहे कि आत्मा के मध्य के आठ रूचक प्रदेश तो निरावरण ही होते हैं, तो उन्हें हम बतलाते हैं कि यदि आत्मा का मात्र एक भी प्रदेश निरावरण हो तो उस प्रदेश में इतनी शक्ति है कि वह सर्व लोकालोक को जान ले, क्योंकि यदि एक भी प्रदेश निरावरण हो तो उस प्रदेश में केवलज्ञान और केवलदर्शन मानने का प्रसंग आयेगा और इससे वह आत्मा सर्व लोकालोक सहज रीति से ही जाननेवाला हो जायेगा परन्तु प्रगट में देखने से अपने को ज्ञात होता है कि ऐसा तो किसी भी जीव में घटित होता ज्ञात नहीं होता है। इस कारण से जीव के मध्य के आठ रूचक प्रदेश निरावरण होते हैं, इस बात का निराकरण होता है। यह बात सत्य नहीं है, जिसका प्रमाण है धवल पुस्तक १२ में-पृष्ठ क्रमांक ३६५ से ३६८। वह जिज्ञासु जीवों को देख लेने की हमारी प्रार्थना है।

⁂

१०

सम्यग्दर्शन का विषय अर्थात् दृष्टि का विषय

अब हमने देखा कि छद्मस्थ आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में अनन्त कर्म वर्गणाएँ होने से वह अशुद्ध आत्मारूप से ही परिणमित होता है, तो उसमें यह शुद्धात्मा कहाँ रहता है? उसका उत्तर ऐसा है कि भेदज्ञान से (प्रज्ञाछैनी से) अर्थात् जीव और पुद्‌गल के बीच के भेदज्ञान से अर्थात् जीव के लक्षण से जीव को ग्रहण करना और पुद्‌गल के लक्षण से पुद्‌गल को तथा फिर उसमें प्रज्ञाछैनी से (तीव्र बुद्धि से) भेदज्ञान करने से शुद्धात्मा प्राप्त होता है।

वह इस प्रकार की प्रथम तो प्रगट में आत्मा के लक्षण से अर्थात् ज्ञानरूप देखने-जानने के लक्षण से आत्मा को ग्रहण करते ही, पुद्‌गलमात्र के साथ भेदज्ञान हो जाता है और फिर उससे आगे बढ़ने पर जीव के जो चार भाव हैं अर्थात् उदयभाव, उपशमभाव, क्षयोपशमभाव और क्षायिकभाव ये चार भाव, कर्म की अपेक्षा से कहे हैं और कर्म पुद्‌गलरूप ही होते हैं; इसलिए इन चार भावों को भी पुद्‌गल के खाते में डालकर, प्रज्ञारूप बुद्धि से अर्थात् इन चार भावों को जीव में से गौण करते ही, जो जीवभाव शेष रहता है, उसे ही परमपारिणामिकभाव, शुद्धात्मा, कारणशुद्धपर्याय, स्वभावभाव, सहजज्ञानरूपी साम्राज्य, शुद्धचैतन्यभाव, स्वभावदर्शनोपयोग, कारणस्वभावदर्शनोपयोग, कारणस्वभावज्ञानोपयोग, कारणसमयसार, कारणपरमात्मा, नित्यशुद्धनिरंजनज्ञानस्वरूप, दर्शनज्ञानचारित्ररूप परिणमता ऐसा चैतन्य सामान्यरूप, चैतन्य-अनुविधायी परिणामरूप, सहजगुणमणि की खान, सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय), इत्यादि अनेक नामों से पहिचाना जाता है और उसके अनुभव से ही निश्चय सम्यग्दर्शन कहलाता है। उस भाव की अपेक्षा से ही सर्व जीव स्वभाव से सिद्ध समान ही है – ऐसा कहा जाता है अर्थात् उसके अनुभव को ही निर्विकल्प अनुभूति कहा जाता है क्योंकि वह सामान्यभावस्वरूप होने से उसमें किसी भी विकल्प को स्थान ही नहीं है, इसलिए उसकी अनुभूति होते ही अंशत: सिद्धत्व का भी अनुभव होता है।

भेदज्ञान की विधि ऐसी है कि जिसमें जीव के जो चार भावों को गौण किये और जो शुद्ध जीवत्व हाजिर हुआ, उस अपेक्षा से उसे कोई 'पर्यायरहित का द्रव्य वह दृष्टि का विषय है' ऐसा भी कहते हैं। अर्थात् द्रव्य में से कुछ भी निकालना नहीं है, मात्र विभावभावों को ही गौण करना है और उस अपेक्षा से कोई कहते हैं कि 'वर्तमान पर्याय के अतिरिक्त का पूरा द्रव्य वह दृष्टि

का विषय है' अर्थात् कथन कोई भी हो परन्तु व्यवस्था तो यहाँ बतलायी है वैसी अर्थात् गौण करने की और मुख्य करने की ही है जो पूर्व में हम विस्तार से समझे ही हैं।

इसी प्रकार यदि कोई कहे कि – आत्मा बाहर से अशुद्ध और अन्दर से शुद्ध तो ऐसा कथन अपेक्षा से समझना। एकान्तत: अर्थात् वास्तविकरूप नहीं क्योंकि जैसा आत्मा बाहर है, वैसा ही अन्दर है, अर्थात् आत्मा के अन्दर के और बाहर के प्रत्येक प्रदेश में (क्षेत्र में) अनन्तानन्त कार्माण वर्गणाएँ क्षीर–नीरवत् लगी होने से, जैसी अशुद्धि बाहर के क्षेत्र में है, वैसी ही अशुद्धि अन्दर के क्षेत्र में भी है, परन्तु अपेक्षा से बाहर अर्थात् विशेष भावरूप विभावभाव और अन्दर अर्थात् सामान्यभावरूप परमपारिणामिकभाव जो कि तीनों काल शुद्ध ही है और इसलिए ही व्यक्तरूप आत्मा अशुद्ध और अव्यक्तरूप आत्मा शुद्ध है और इस अपेक्षा से अन्दर से शुद्ध और बाहर से अशुद्ध ऐसा कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं। कोई आत्मा में अन्दर एकान्त शुद्ध ध्रुवभाव खोजता हो तो, वैसा एकान्त शुद्ध ध्रुवभाव आत्मा में नहीं है। अर्थात् कोई भी कथन उसकी अपेक्षासहित समझना अनिवार्य है, नहीं तो ऐसा माननेवाले नियम से भ्रमरूप ही परिणमेंगे।

इसी प्रकार अन्य कोई कहता है कि आप तो दृष्टि के विषय में प्रमाण का द्रव्य लेते हो तो दोष आयेगा। उन्हें हम बतलाते हैं कि पूर्व में हमने विस्तार से समझाये अनुसार, जितने प्रदेश (क्षेत्र) प्रमाण के द्रव्य के हैं, उतने ही प्रदेश (क्षेत्र) परमपारिणामिकभावरूप दृष्टि के विषय के हैं अर्थात् उतने ही प्रदेश शुद्धात्मा के हैं। दूसरा, उस प्रमाण के द्रव्य को ही हम शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के चक्षु से देखते हैं और इस कारण से हम उसे ही परमपारिणामिकभाव कहते हैं कि जिसे आप प्रमाण चक्षु से देखने पर, प्रमाण का विषय कहते हो और उस प्रमाण के विषय में आप शुद्ध और अशुद्ध भाव नहीं परन्तु भाग मानते हो, इसलिए आपकी दृष्टि में दोष है, तो उसमें हमारा कोई दोष नहीं है। हम तो उसे ही अर्थात् प्रमाण के द्रव्य को ही शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से उसे ही परमशुद्ध ऐसा परमपारिणामिकभाव अनुभव करते हैं और परम सुख का अनुभव करते हैं तो इसलिए आप भी दृष्टि बदलकर उसे ही शुद्ध देखो और आप भी उसका अर्थात् सत्–चित्–आनन्दस्वरूप का आनन्द लो, ऐसी हमारी प्रार्थना है; यह ही सम्यग्दर्शन का स्वरूप है और यह ही सम्यग्दर्शन की विधि है, क्योंकि स्थूल से ही सूक्ष्म में जाया जाता है अर्थात् प्रगट से ही अप्रगट में जाया जाता है अर्थात् व्यक्त से ही अव्यक्त में जाया जाता है यह ही नियम है।

इस कारण से हमारा आग्रह है कि 'जैसी है वैसी' वस्तु व्यवस्था समझकर प्रमाण के विषय का 'जैसा है वैसा' ज्ञान करके फिर उसमें से ही शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय ग्रहण करने योग्य

है, परन्तु जो यहाँ बतलायी हुई युक्ति अनुसार दृष्टि का विषय न मानकर, अन्यथा ग्रहण करते हैं, वे शुद्धनयाभासरूप एकान्त शुद्धात्मा को खोजते हैं और मानते हैं, वे मात्र भ्रमरूप ही परिणमते हैं और वैसा एकान्त शुद्धात्मा कार्यकारी नहीं, क्योंकि वैसा एकान्त शुद्धात्मा प्राप्त ही नहीं होता और इस कारण से वह जीव भ्रम में ही रहकर अनन्त संसार बढ़ाकर अनन्त दुःखों को प्राप्त करता है; जैनशासन के नय के अज्ञान के कारण और समझे बिना मात्र शब्द को ही ग्रहण करके उसके ही आग्रह के कारण ऐसी दशा होती है जो अत्यन्त करुणाजनक बात है।

यहाँ समझाया गया शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय है, वही उपादेयरूप शुद्धात्मा है और वही सम्यग्दर्शन का विषय है। इसीलिए अर्थात् भेदज्ञान कराने को और शुद्धात्मा का अनुभव कराने के लिये ही नियमसार और समयसार जैसे आध्यात्मिक शास्त्रों में उसकी ही महिमा गायी है और उसी का महिमा मण्डन किया है। इसलिए उन शास्त्रों में प्रमाण के विषयभूत आत्मा में से जितने भाव पुद्गलाश्रित हैं अर्थात् जितने भाव कर्माश्रित (कर्म की अपेक्षा रखनेवाले) हैं, वैसे भावों को परभावरूप से वर्णन किया है अर्थात् उन्हें स्वाँगरूप भावों के रूप में वर्णन किया है कि जो भाव हेय हैं अर्थात् 'मैंपना' करनेयोग्य नहीं, इसी अपेक्षा सहित अब हम पंचाध्यायी की गाथाएँ देखेंगे।

⁂

११

पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध की दृष्टि का विषय दर्शाती गाथाएँ

गाथा ५३२ - अन्वयार्थ - 'इस असद्भूतव्यवहारनय को जानने का फल यह है कि यहाँ पराश्रितरूप से होनेवाले भावक्रोधादि सम्पूर्ण उपाधिमात्र छोड़कर बाकी के उसके (जीव के) शुद्धगुण हैं ऐसा मानकर यहाँ कोई पुरुष सम्यग्दृष्टि हो सकता है।' इस गाथा में सम्यग्दर्शन का विषय बतलाया है और उसके भाने से जीव सम्यग्दृष्टि हो सकता है ऐसा बतलाया है।

भावार्थ-'इस असद्भूतव्यवहारनय का प्रयोजन यह है कि-रागादिभाव को जीव के कहे हैं, वह असद्भूतव्यवहारनय से है परन्तु निश्चय से नहीं (निश्चय से जो भाव जिसके लक्ष्य से हों, वे भाव उसके समझना, इसीलिए जो द्रव्य रागादिभाव पुद्गलरूप हैं, वे कर्म के हैं और भाव रागादिभाव हैं, वे जीव के होने पर भी, वे कर्म के उदय के कारण होने से उन्हें कर्म के खाते में डालकर, निश्चय से उन्हें परभाव कहा जाता है, क्योंकि वे भाव सम्यग्दर्शन के लिये 'मैंपना'/ एकत्व करनेयोग्य भाव नहीं हैं।) इस कारण से कोई भव्यात्मा उपाधिमात्र अंश को छोड़कर (इस उपाधिरूप अंश छोड़ने की विधि प्रज्ञारूप बुद्धि से उसे गौण करने की है, दूसरी कोई नहीं) निश्चयतत्त्व को ग्रहण करने का इच्छुक बनकर सम्यग्दृष्टि हो सकता है, क्योंकि सर्व नयों में निश्चयनय ही उपादेय है परन्तु बाकी के कोई नय नहीं। बाकी के नय तो मात्र परिस्थितिवश प्रतिपाद्य विषय का निरूपणमात्र करते हैं। इसलिए एक निश्चयनय ही कल्याणकारी है..'

गाथा ५४५-अन्वयार्थ-'ज्ञेय-ज्ञायकभाव में सम्भव होनेवाले संकरदोष के भ्रम का क्षय करना अथवा अविनाभाव से सामान्य को साध्य और विशेष को साधक होना, वही इस उपचरित असद्भूतव्यवहारनय का प्रयोजन है।'

अर्थात् पर को जानने से संकरदोष होता है ऐसे भ्रम का नाश करना वह प्रयोजन है और साथ ही साथ ऐसा भी बतलाया है कि पर को जानना वह स्व में जाने की सीढ़ी है क्योंकि स्थूल से ही सूक्ष्म में जाया जाता है अर्थात् प्रगट से ही अप्रगट में जाया जाता है अर्थात् व्यक्त से ही अव्यक्त में जाया जाता है, यही नियम है अर्थात् पर को जानना वह सम्यग्दर्शन होने में मददरूप हो सकता है, नहीं कि अड़चनरूप और इसलिए किसी ने 'पर को जानने से आत्मा मिथ्यादृष्टि हो जायेगा'-ऐसा मानने का कोई कारण नहीं क्योंकि यही ज्ञान का स्वभाव है। जैसे कार्तिकेयानुप्रेक्षा

गाथा २४७ में बतलाया है कि 'यदि समस्त वस्तु एक ज्ञान ही है और वही नानारूप से स्थित है-रहती है तो ऐसा मानने पर ज्ञेय कुछ भी नहीं सिद्ध हुआ और ज्ञेय के बिना ज्ञान ही किस प्रकार सिद्ध होगा?' भावार्थ-'...क्योंकि ज्ञेय को जाने वही ज्ञान कहलाता है परन्तु ज्ञेय के बिना ज्ञान नहीं।'

भावार्थ-'उपचरित सद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा से अर्थ-विकल्प को प्रमाण (अर्थात् स्व-पर के जानने को प्रमाण) कहने का प्रयोजन यह है कि ऐसा कहने से ज्ञान और ज्ञेय में जो संकरपने का भ्रम होता था (अर्थात् जिन्हें लगता है कि आत्मा पर को जानता है ऐसा मानने पर सम्यग्दर्शन नहीं होता, वैसा संकरपने का भ्रम होता है) उस भ्रम का यह निवारण हो जाता है। क्योंकि ज्ञान को अर्थ-विकल्पात्मक (पर को जाननेवाला) कहना वह उपचरित सद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा से है। ज्ञान, ज्ञायक है तथा स्व-पर, ज्ञेय होते हैं। इसलिए ज्ञान और ज्ञेय में वास्तव में संकरता नहीं होती (पूर्व में जैसे दर्पण का दृष्टान्त समझाया है, तद्नुसार) दूसरा प्रयोजन इस प्रकार है कि अर्थ-विकल्पात्मक विशेष ज्ञान (पर को जानना) साधक (अर्थात् स्व में जाने की सीढ़ी) है तथा सामान्यज्ञान साध्य है (अर्थात् पर को जानना वह ज्ञायक में जाने की सीढ़ी है यानि कि सम्यग्दर्शन करने के लिये यह विधि दर्पण के दृष्टान्त की तरह ही है) अर्थात् सामान्य ज्ञान, अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय का विषय साध्य (अर्थात् ज्ञायक अर्थात् परमपारिणामिकभाव, दृष्टि का विषय साध्य) तथा ज्ञान को अर्थ विकल्पात्मक (अर्थात् ज्ञान पर को जानता है ऐसा) कहना वह उपचरित सद्भूतव्यवहारनय का विषय साधक (सीढ़ी) है।'

यहाँ विशेष यह है कि इसलिए ही भेदज्ञान के लिये, सम्यग्दर्शन के लिये कहा जा सकता है कि - जैसे किसी महल के झरोखे में से निहारता पुरुष, स्वयं ही ज्ञेयों को निहारता है, नहीं कि झरोखा; उसी प्रकार इस झरोखा रूपी आँख से जो ज्ञेयों को निहारता है, वह ज्ञायक स्वयं ही, नहीं कि आँखें और 'वह ही मैं हूँ' 'सोऽहं' वह 'ज्ञानमात्रस्वरूप ही मैं हूँ' अर्थात् मैं मात्र देखने-जाननेवाला ज्ञायक-ज्ञानमात्र-शुद्धात्मा हूँ, ऐसे लक्ष्य में लेने से ज्ञायकरूप सामान्य ज्ञान साध्य होता है और पर को जानना वह साधनरूप (सीढ़ीरूप) होता है कि जो अर्थ विकल्पात्मक ज्ञान है; यही सम्यग्दर्शन की विधि है। जीव को पर को जाननेवाला कहकर, उसमें से प्रयोजन सिद्ध करने के बाद अब जीव को क्रोधादिवाला कहने से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है, वह बतलाते हैं अर्थात् राग जीव में होता है, उससे क्या प्रयोजन है?

गाथा ५६५-अन्वयार्थ-'(वर्णादि भाव जीव के हैं) इस प्रकार का कहना योग्य नहीं है क्योंकि जिस प्रकार क्रोधादिभाव (रागादिभाव) जीव के सम्भवते हैं उस प्रकार पुद्गलात्मक शरीर के वर्णादि जीव के सम्भवित हो ही नहीं सकते।'

हम जो सम्यग्दर्शन के लिये भेदज्ञान की विधि समझे हैं कि – प्रथम पुद्गल से भेदज्ञान और बाद में जीव के रागादिरूप भाव कि जो कर्म=पुद्गल आश्रित है, उनसे भेदज्ञान और उस भेदज्ञान के पश्चात् ही शुद्धात्मा प्राप्त होता है। इसीलिए यहाँ बतलाया है कि शरीर के वर्णादि भाव तो आत्मा के हैं ही नहीं परन्तु जो रागादि भाव हैं, वे (भाव रागादिभाव) तो जीव में ही होते हैं अर्थात् जीव ही उन रूप परिणमता है, जीव कर्म के निमित्त से उनरूप परिणमता है इसलिए यदि भाव रागादिभावों को जीव का कहें तो कहा जा सकता है, उससे क्या प्रयोजन सिद्ध होता है?

भावार्थ–'(क्रोधादिभावों को जीव का कहना, वह नयाभास ही है ऐसी) ऊपर कही गयी शंका योग्य नहीं है, क्योंकि वे क्रोधादिभाव तो जीव में होनेवाले औदयिक भावरूप हैं, इसलिए वे जीव के तद्गुण (जीव का ही परिणमन) है; और वे जीव का नैमित्तिकभाव होने से उन्हें सर्वथा पुद्गल का नहीं कहा जा सकता, परन्तु जीव को वर्णादिवाला कहने में आवे, वहाँ तो वर्णादि सर्वथा पुद्गल के ही होने से उन्हें जीव का किस प्रकार कहा जा सकता है?

तथा क्रोधादिभावों को जीव का कहने में तो यह प्रयोजन है कि – परलक्ष्य से होनेवाले क्रोधादिभाव क्षणिक होने से और आत्मा का स्वभाव नहीं होने से वे उपादये नहीं हैं इसलिए उनका अभाव करना चाहिए, ऐसा सम्यग्ज्ञान होता है इसलिए (परन्तु जो लोग एकान्त से शुद्धता के भ्रम में होते हैं, वे क्रोधादि करने पर भी, उन्हें अपने नहीं मानकर स्वच्छन्दी होते हैं, वह सम्यग्ज्ञान नहीं परन्तु मिथ्यात्व है) क्रोध को जीव का कहने में तो उपर्युक्त सम्यक्‌नय लागू पड़ सकता है (अर्थात् जो उन्हें एकान्त से पर का मानते हैं, वे मिथ्यात्वी हैं) परन्तु जीव को वर्णादिवाला कहने में तो कुछ भी प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती, इसलिए जीव को क्रोधादिवाला कहनेवाले असद्भूतव्यवहारनय में तो नयाभासपने का दोष नहीं आता परन्तु जीव को वर्णादिवाला कहने में तो वह दोष आता है, इसलिए वह नयाभास है।'

हमने पूर्व में सम्यग्दर्शन की विधि के सन्दर्भ में चर्चा करते समय जो निर्विकल्प अनुभूतिरूप सम्यग्दर्शन बतलाया है, वही भाव विशेष स्पष्ट करते हुए आगे बतलाते हैं कि – तब वहाँ कोई भी नय का अवलम्बन नहीं है।

गाथा ६४८–अन्वयार्थ–'उस स्वानुभूति की महिमा इस प्रकार है कि–व्यवहारनय में भेद दर्शानेवाले विकल्प उठते हैं और वह निश्चयनय सर्व प्रकार के विकल्पों का निषेध करनेवाला होने से (नेति–नेतिरूप होने से) एक प्रकार से उसमें निषेधात्मक विकल्प होता है, तथा वास्तविक रूप से देखने में आवे तो स्वसमयस्थिति में (स्वानुभूति में) न (व्यवहारनय का विषयभूत) विकल्प है और न (निश्चयनय का विषयभूत) निषेध है, परन्तु केवल चेतना का स्वात्मानुभवन है।'

अमुक लोग प्रश्न करते हैं कि निषेधरहित का दृष्टि का विषय किस प्रकार होगा? तो उन्हें हम बतलाते हैं कि दृष्टि के विषय में न भेदरूप विकल्प है (अर्थात् अभेद द्रव्य का ग्रहण है) और न तो निषेधरूप विकल्प है अर्थात् जिनका (अशुद्धभावों का=विभावभावों का) निषेध करना होता है, उन पर दृष्टि ही नहीं, इसलिए ही वे अत्यन्त गौण हो जाते हैं और दृष्टि, मात्र दृष्टि के विषयरूप शुद्धात्मा पर ही होती है जो कि निर्विकल्प ही होता है और वही सम्यग्दर्शन की विधि है; इसलिए कहा जा सकता है कि निषेध न करके, उनके ऊपर से दृष्टि ही हटा लेनी है। यह है विधि-सम्यग्दर्शन की, इसलिए जिसे निषेध का आग्रह हो, उन्हें वह छोड़ देना चाहिए क्योंकि निषेध, वह भी निश्चयनय का पक्ष है, जबकि सम्यग्दर्शन का विषय पक्षातीत है, नयातीत है इसलिए प्रत्येक प्रकार का पक्ष और आग्रह छोड़े बिना सम्यग्दर्शन होना ही शक्य नहीं है।

दूसरा समझना यह है कि वस्तु जैसी है वैसी समझनी पड़ेगी अर्थात् आत्मा में रागादि होते हैं, तो वे किस अपेक्षा से और नियमसार तथा समयसार जैसे आध्यात्मिक शास्त्रों में जो ऐसा लिखा है कि वे रागादिक जीव के नहीं हैं तो वह भी किसी अपेक्षा से ही बतलाया है, एकान्त से नहीं; वह मात्र सम्यग्दर्शन के विषय पर दृष्टि कराने को अर्थात् सम्यग्दर्शन कराने को ही बतलाया है; कोई उसे एकान्त से लेकर स्वच्छन्दरूप परिणमे तो वह उनकी महान भूल है कि जिसका फल अनन्त संसार है। यही बात आगे बतलाते हैं।

गाथा ६६३-अन्वयार्थ-'तथा यहाँ केवल सामान्यरूप वस्तु (परमपारिणामिकभाव) निश्चय से निश्चयनय का कारण है तथा कर्मरूप कलंक से रहित ज्ञानस्वरूप आत्मा की (परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा की) सिद्धि फल है।'

इसलिए समझना यह है कि ऐसे आध्यात्मिक शास्त्रों का किसी भी वस्तु को एकान्त से प्ररूपित करने का आशय जरा भी नहीं होता और इसलिए उसे एकान्त से वैसा नहीं लेना, परन्तु उसका आशय मात्र सम्यग्दर्शन का जो विषय है, उस आत्मभाव में (परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा में-कारणशुद्धपर्याय में-कारणपरमात्मा में) 'मैंपना' कराना और अन्य सर्वभावों में से 'मैंपना' का जो भाव है कि जो बन्धन के कारण हैं, वे दूर करना, अर्थात् जीव को उन बन्ध के कारणों में अथवा बन्ध के फल में 'मैंपना' करने से रोकना और परमपारिणामिकभावरूप जीव में 'मैंपना' कराकर उसे सम्यग्दर्शनी बनाना, मोक्षमार्ग में प्रवेश दिलाना। - मात्र इसी अपेक्षा से इन शास्त्रों में रागादि इत्यादि भाव जीव के नहीं हैं ऐसा बतलाया है, उसे ऐसा एकान्त से नहीं समझना। यदि कोई उसे एकान्त से ऐसा समझे और प्ररूपित करे तो, उसे जैन सिद्धान्त के बाहर

ही समझना अर्थात् मिथ्यात्वी ही समझना। सम्यग्दर्शन के पश्चात् सम्यग्ज्ञान कैसा होता है, वह बतलाते हैं –

गाथा ६७३–अन्वयार्थ–'एक साथ सामान्य–विशेष को विषय करनेवाला ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है क्योंकि ज्ञान आदर्श (दर्पण)–समान है तथा ज्ञेय, प्रतिबिम्ब समान है।'

भावार्थ–'जैसे दर्पण और दर्पण में रहे हुए प्रतिबिम्ब का युगपत प्रतिभास होता है, इसी प्रकार सामान्य–विशेष को युगपत् विषय करनेवाला ज्ञान, सम्यग्ज्ञान कहलाता है, अन्य नहीं; (अर्थात् कोई कहे कि आत्मा पर को नहीं जानता ऐसी व्यवस्था होने से आत्मा पर को जानता है ऐसा कहना मिथ्यात्व समान है, तो यहाँ बतलाते हैं कि वह, ऐसा नहीं है) क्योंकि ज्ञान को दर्पण समान (अर्थात् यदि कोई कहे कि ज्ञान पर को जानता है, ऐसा नहीं लेना तो उन्हें यहाँ बतलाते हैं कि यदि ऐसा लिया जाये तो, ज्ञान की ही सिद्धि नहीं होगी) तथा उसमें रहे हुए विषय को (अर्थात् ज्ञेय को) प्रतिबिम्ब समान मानने में आया है।...'

◆

१२

आत्मज्ञानरूप स्वात्मानुभूति परोक्ष या प्रत्यक्ष

किसी को प्रश्न होता हो कि जिस स्वात्मानुभूति का वर्णन किया गया है कि जो निश्चय सम्यग्दर्शन है, वह प्रत्यक्ष है या परोक्ष है और वह किस प्रकार के क्षायोपशमिक ज्ञान से होती है? उसके उत्तररूप पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध की गाथा–

गाथा ७०६–अन्वयार्थ–'तथा विशेष में यह है कि स्वात्मानुभूति के समय में जितने प्रथम के वे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, वे दो रहते हैं उतना, वे सब साक्षात् प्रत्यक्ष की भाँति प्रत्यक्ष है, अन्य अर्थात् परोक्ष नहीं।'

भावार्थ–'तथा इन मति और श्रुतज्ञानों में भी इतनी विशेषता है कि–(पहले इन दोनों ज्ञान को परोक्षरूप से प्रतिपादित किया है, इसलिए अब इनकी विशेषता बतलाते हैं अर्थात् अपवाद बतलाते हैं) जिस समय इन दोनों में से कोई एक ज्ञान द्वारा स्वात्मानुभूति होती है, उस समय ये दोनों ज्ञान भी अतीन्द्रिय स्वात्मा को प्रत्यक्ष करते हैं इसलिए ये दोनों ज्ञान भी स्वात्मानुभूति के समय में प्रत्यक्षरूप हैं, परन्तु परोक्ष नहीं।'

अर्थात् सम्यग्दर्शन, वह अनन्तानुबन्धी कषाय चौकड़ी और दर्शन मोह के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से होता है, परन्तु उसके साथ ही नियम से सम्यग्ज्ञानरूप शुद्धोपयोग उत्पन्न होता होने से उस शुद्धोपयोग को ही स्वात्मानुभूति कहा जाता है कि जो ज्ञानावरणीय के क्षयोपशमरूप होती है और वह शुद्धोपयोग अर्थात् स्वात्मानुभूति विभावरहित आत्मा की अर्थात् शुद्धात्मा की होने से उसे निर्विकल्प स्वात्मानुभूति कहा जाता है; अर्थात् स्वात्मानुभूति के काल में मनोयोग होने पर भी तब मन भी अतीन्द्रियरूप परिणमने से उसे निर्विकल्प स्वात्मानुभूति कहा जाता है।

* * *

१३

स्वात्मानुभूति आत्मा के किस प्रदेश में?

किसी को प्रश्न होता हो कि स्वात्मानुभूतिरूप अनुभव अर्थात् शुद्धात्मा में 'मैंपना'-अतीन्द्रिय ज्ञान शरीर में किस भाग में होता है? उत्तर-उसके उत्तररूप से पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध की छह गाथाओं में बतलाया है कि हृदय कमल में रहे हुए भावमन और द्रव्यमन में।

गाथा ७११-७१२-अन्वयार्थ-'उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि - इस शुद्धात्मानुभूति के समय में स्पर्शन, रसना, ग्राहण, चक्षु और स्रोत्र इस प्रकार पाँचों इन्द्रियाँ उपयोगी नहीं मानी हैं परन्तु वहाँ केवल मन ही उपयोगी मानने में आया है तथा यहाँ निश्चय से अपने अर्थ की अपेक्षा से नौइन्द्रिय है दूसरा नाम जिसका ऐसा वह मन, द्रव्यमन तथा भावमन इस प्रकार दो प्रकार का है।'

गाथा ७१३-'जो हृदय कमल में घनांगुल के असंख्यातवें भागमात्र है प्रमाण जिसका, ऐसा द्रव्यमन होता है, वह अचेतन होने पर भी ज्ञान के विषय को ग्रहण करते समय भावमन को सहायता करने में समर्थ होता है, अर्थात् द्रव्यमन, भावमन को सहायता करता है।'

अर्थात् किसी को लगे कि मुझे अनुभव हृदय के भाग में ही होता है, परन्तु ऐसा एकान्त से नहीं है क्योंकि द्रव्यमन हृदयकमल में भले हो, परन्तु भावमनरूप आत्मा का क्षयोपशम, वह आत्मा के सर्व प्रदेशों में होने से अनुभूति सम्पूर्ण आत्मा की होती है और वह सर्व प्रदेश में होती है।

गाथा ७१४-अन्वयार्थ-'स्व आवरण के क्रमपूर्वक उदीयाभावीक्षय से ही लब्धि और उपयोगसहित जो केवल आत्म उपयोगरूप ही आत्मा का परिणाम है, वह भावमन है।' अर्थात् भावमन आत्मा के सर्व प्रदेशों में है।

गाथा ७१५-७१६-अन्वयार्थ-'स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु, स्रोत्र ये पाँचों इन्द्रियाँ एक मूर्तिक पदार्थ को जाननेवाली है तथा मन, मूर्तिक और अमूर्तिक दोनों पदार्थों को जाननेवाला है। इसलिए यहाँ यह कथन निर्दोष है कि स्वात्मा ग्रहण में निश्चय से मन ही उपयोगी है, परन्तु इतना विशेष है कि विशिष्टदशा में (अतीन्द्रियज्ञान में=स्वात्मानुभूति में) वह मन स्वयं ही ज्ञानरूप हो जाता है।'

यहाँ समझना यह है कि जो भावमन कहा है, वह आत्मा के ज्ञान का ही क्षयोपशमरूप एक उपयोग विशेष है, अन्य कुछ नहीं, अजीवद्रव्य नहीं है और वह भावमन आत्मा का विशिष्ट क्षयोपशम होने से वह आत्मा के सर्व प्रदेशों में होता है, परन्तु द्रव्यमन हृदय कमल में होने से उस अपेक्षा से स्वात्मानुभूतिरूप अनुभव हृदय कमल में होता है -ऐसा कहा जाता है।

⁂

१४

इन्द्रियज्ञान ज्ञान नहीं?

दूसरा, बहुत लोग ऐसा मानते हैं कि इन्द्रियज्ञान तो ज्ञान ही नहीं, तो उसमें समझना यह है कि जो द्रव्य इन्द्रिय और नौइन्द्रियरूप मन है, वह पुद्‌गल का बना हुआ होने से, उस अपेक्षा से ऐसा कहा जा सकता है कि इन्द्रियज्ञान तो ज्ञान ही नहीं अथवा इन्द्रियज्ञान खण्ड-खण्ड ज्ञानरूप होने से उस अपेक्षा से भी ऐसा कहा जा सकता है कि इन्द्रियज्ञान तो ज्ञान (अखण्ड ज्ञान) ही नहीं, परन्तु वास्तव में देखने पर वह पुद्‌गलरूप अजीव इन्द्रियाँ ज्ञान के निमित्तमात्र हैं परन्तु ज्ञान तो आत्मा का लक्षण होने से अन्य कोई भी द्रव्य में होता ही नहीं तो फिर प्रश्न होगा कि इन्द्रियज्ञान होता किस प्रकार है?

उसका उत्तर ऐसा है कि वास्तव में जो भावेन्द्रिय और भावनोइन्द्रियरूप आत्मा के ज्ञान का (अर्थात् आत्मा का) क्षयोपशमरूप विशिष्ट परिणमन है, वही ज्ञान करता है और उस ज्ञान को इन्द्रिय की अपेक्षा से, आत्मा ने किये हुए ज्ञान को, इन्द्रियज्ञान और नोइन्द्रियज्ञान ऐसी संज्ञा प्राप्त होती है। वास्तव में ज्ञान तो आत्मा का लक्षण है, अन्य कोई द्रव्य ज्ञान करता ही नहीं; इसलिए समझना यह है कि मात्र वह शरीरस्थ आत्मा ही ज्ञान करता है कि जो बात परमात्मप्रकाश-त्रिविध आत्माधिकार गाथा ४५ में भी बतलायी है कि-'जो आत्माराम शुद्ध निश्चय से अद्वितीय ज्ञानमय है तो भी अनादि बन्ध के कारण व्यवहारनय से इन्द्रियमय शरीर को ग्रहण करके अपनी पाँच इन्द्रियों द्वारा रूपादि पाँचों ही विषयों को जानता है, अर्थात् इन्द्रियज्ञानरूप परिणम कर इन्द्रियों से रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श को जानता है..' और इसी अपेक्षा से इन्द्रियज्ञान कहलाता है, इसलिए वास्तव में इन्द्रियज्ञान ज्ञान की अपेक्षा से आत्मा ही है, अन्य कोई नहीं और इसलिए इन्द्रियज्ञान ज्ञान ही है; यही बात पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध की गाथाओं में आगे दृढ़ करते हैं-

गाथा ७१७-१८-अन्वयार्थ-'निश्चय से सूत्र से जो मतिज्ञान है वह इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होता है तथा मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है, ऐसा जो कहा है, वह कथन असिद्ध नहीं। सारांश यह है कि निश्चय से भाव मन, ज्ञान विशिष्ट होता हुआ स्वयं ही अमूर्त है इसलिए उस भावमन द्वारा होनेवाला यहाँ आत्मदर्शन अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष क्यों नहीं होगा?'

यहाँ समझना यह है कि इन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियज्ञान, ज्ञान नियम से आत्मा का ही होता है अन्य किसी द्रव्य का नहीं, क्योंकि ज्ञान तो आत्मा का लक्षण है इसलिए ऐसा भी कहा

जा सकता है कि इन्द्रियज्ञान स्व में जाने की सीढ़ी है क्योंकि इन्द्रिय भले पुद्‌गलरूप अजीव हो परन्तु उसके निमित्त से जो ज्ञान होता है, उस विशेषज्ञान को अर्थात् उस ज्ञानाकार को गौण करते ही वहाँ सामान्य ज्ञान अर्थात् ज्ञायक उपस्थित ही रहता है कि जो दृष्टि का विषय है कि जिसमें मैंपना करने से ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। क्योंकि स्थूल से ही सूक्ष्म में जाया जाता है अर्थात् प्रगट से ही अप्रगट में जाया जाता है अर्थात् व्यक्त से ही अव्यक्त में जाया जाता है, यही नियम है।

भावार्थ–'....सारांश यह है कि स्वात्मरस में निमग्न होनेवाला भावमन स्वयं ही अमूर्त होने से स्वानुभूति के समय में आत्मप्रत्यक्ष करनेवाला कहने में आया है। जैसे श्रेणी चढ़ते समय ज्ञान की जो निर्विकल्प अवस्था है, उस निर्विकल्प अवस्था में ध्यान की अवस्था सम्पन्न श्रुतज्ञान अथवा उस श्रुतज्ञान के पहले का मतिज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थानवर्ती हैं, उनका मतिश्रुतज्ञानात्मक भावमन भी स्वानुभूति के समय में विशेष दशा सम्पन्न होने से श्रेणी के जैसा तो नहीं, परन्तु उनकी भूमिका के योग्य निर्विकल्प तो होता है। इसलिए उस मतिश्रुतज्ञानात्मक भावमन को स्वानुभूति के समय में प्रत्यक्ष मानने में आता है, वहाँ यही कारण है कि मति–श्रुतज्ञान के बिना केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती परन्तु अवधि–मन:पर्ययज्ञान के बिना हो सकती है।'

स्वात्मरस में निमग्न होनेवाला भावमन अर्थात् विकल्पयुक्त आत्मा में से (=पर्याय में से) विकल्प को (=विशेष को) गौण करते ही अर्थात् विकल्प को, निर्विकल्प में निमग्न करने पर (=डुबाने पर) ही सामान्यरूप आत्मा अर्थात् परमपारिणामिकभाव की अनुभूति होती है कि जिसे निर्विकल्प अनुभूति कहा जाता है, जो कि अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होती है कि जो अनुभव की विधि है अर्थात् वही सम्यग्दर्शन की पद्धति है। अब हम पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध की (पण्डित देवकीनन्दनजी कृत हिन्दी टीका, आधार सरल गुजराती अनुवादक सोमचन्द अम्बालाल शाह–प्रकाशक भगवान श्री कुन्दकुन्द कहान जैन शास्त्रमाला, पुष्प ३२, आवृत्ति १) गाथाओं में से यही सब भाव दृढ़ करेंगे।

गाथा ४६१–६२–अन्वयार्थ–'अथवा इन्द्रियजन्य ज्ञान देश प्रत्यक्ष होता है, इसलिए वास्तव में वह अस्तिक्य, आत्मा के सुखादि की भाँति स्वसंवेदन प्रत्यक्ष किस प्रकार हो सकता है? ठीक है, परन्तु प्रथम के मति और श्रुत ये दो ज्ञान, परपदार्थों को जानते समय परोक्ष है और दर्शन मोहनीय का उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम होने के कारण से स्वानुभव काल में प्रत्यक्ष हैं।'

गाथा १११८–अन्वयार्थ–'शंकाकार का उपरोक्त कथन ठीक है, क्योंकि जो इन्द्रियों के

सम्बन्ध से पदार्थ का ज्ञान होता है, वह ज्ञान असंयमजनक नहीं होता परन्तु उन विषयों में जो रागादि बुद्धि उत्पन्न होती थी, उसे न होने देना, वही इन्द्रिय संयम है।'

अर्थात् किसी को इन्द्रियज्ञान से डरने की आवश्यकता नहीं अर्थात् इन्द्रियज्ञान का नकार करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि वह आत्मा का ही एक उपयोग विशेष है और इसीलिए वह ज्ञान असंयमजनक नहीं होता परन्तु उस ज्ञान के विषयों में जो रागादि बुद्धि उत्पन्न होती है, उसे न होने देना, वही संयम है और वही कर्तव्य है।

◆

१५

पर्याय परमपारिणामिकभाव की ही बनी हुई है

पंचाध्यायी उत्तरार्ध की गाथायें

गाथा-११-अन्वयार्थ-'स्वयं अनादि सिद्ध सत् में (आत्मा में) भी पारिणामिक शक्ति से (पारिणामिकभाव से) स्वाभाविकीक्रिया तथा वैभाविकीक्रिया होती है।'

भावार्थ-'आगम में जीव के पाँच भाव कहे हैं, उनमें एक पारिणामिकभाव है, उसे पारिणामिक शक्ति भी कहा जाता है, उसकी दो प्रकार की पर्याय होती है; एक स्वाभाविक तथा दूसरी वैभाविक (यहाँ जो एक द्रव्य की दो पर्यायें कही हैं, वह अपेक्षा से दो है वास्तव में दो नहीं समझना क्योंकि एक द्रव्य की एक ही पर्याय होती है परन्तु उसे सामान्य और विशेष ऐसी दो अपेक्षा से दो पर्याय कही है, उनमें सामान्य को स्वाभाविक पर्याय कहते हैं और विशेष को वैभाविक पर्याय कहते हैं। अर्थात् वह विशेष पर्याय सामान्यभाव की ही बनी हुई होने से अर्थात् वह परमपारिणामिकभाव की ही बनी हुई होने से, वास्तव में पर्याय एक ही होती है) यह दोनों जीव की अपनी अपेक्षा से पारिणामिकभाव है। यह निश्चयकथन है (देखो जयधवला, भाग-१, पृष्ठ-३१९ तथा धवला टीका, भाग-५, पृष्ठ-१९७-२४२-२४३) और कर्म के उदय की अपेक्षा बताने के लिये जीव के विकारीभाव को (अर्थात् विभावभावरूप विशेषभाव को) औदयिकभाव कहा जाता है। यह व्यवहार कथन है।'

यहाँ समझना यह है कि निश्चयनय से (अभेदनय से) जीव को एकमात्र पारिणामिक भाव ही होता है परन्तु व्यवहारनय से (भेदनय से) उसी भाव को सामान्य अपेक्षा से परमपारिणामिकभाव और विशेष अपेक्षा से औदयिक आदि चार भावरूप कहा जाता है। अर्थात् विशेषरूप औदयिक आदि चार भावरूप पर्याय सामान्य भाव की ही बनी हुई होती है। अर्थात् वह परमपारिणामिकभाव की ही बनी हुई होती है अर्थात् औदयिक आदि सर्व विशेषभावरूप मैं=परमपारिणामिकभाव ही परिणमता हूँ और इसलिए मुझे=परमपारिणामिकभाव को ही मुझमें =परमपारिणामिकभाव में जागृति रखनी है और स्वयं को क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, परिग्रह, वासना इत्यादि से बचाना है कि जिसे संवरभाव कहा जाता है, जिससे निर्जरा होती है।

THAT MEANS, I=PURE ·AWARENESS = परमपारिणामिकभाव = ज्ञायकभाव AM GETING MANIFESTED AS ALL THE FEELINGS LIKE PAIN, HAPPINESS, ETC. AND AS KNOWLEDGE, MEMORY, ETC. = औदयिकादि सर्व विशेषभाव BUT I SHALL BE AWARE OF MYSELF AND RESTRAIN MYSELF FROM BEING GETTING INVOLVED IN SINS, LUST, ANGER, EGO, DECEIT, CRUELTY, FEAR, POSSESSIVENESS, ETC. FOR SAVING MYSELF OF BONDAGE, UNLIMITED PAIN AND SUFFERINGS.

गाथा–६३–६४ अन्वयार्थ–'शंकाकार कहता है कि–जो अनादि सत् में वैभाविकीक्रिया (विभावरूप औदयिकभाव) भी परिणमनशीलता से होते हैं। (अर्थात् वे भाव भी पारिणामिकभाव ही होते हैं) तो नियम से उसमें स्वाभाविकीक्रिया से (अर्थात् परमपारिणामिकभाव से) विशेषता रखनेवाले कौन सा विशेष भेद रहेगा? तथा पदार्थों को जाननेवाला ज्ञान आत्मा का स्वलक्षण है, इसलिए उस ज्ञान की इस ज्ञेय के आकार होनेरूप क्रिया किस प्रकार वैभाविकीक्रिया हो सकती है?'

यही बात समयसार गाथा ६ में भी कर्ताकर्म का अनन्यपना बतलाकर समझायी है, वहाँ ऐसा समझना कि कर्म (ज्ञेयाकार=चार भाव=पर्याय=विशेषभाव), कर्ता (सामान्यभाव=परम पारिणामिकभाव=ज्ञायकभाव) के ही बने होने से कर्ताकर्म का अनन्यपना बतलाया है और दूसरा समयसार गाथा ६ में जाननेवाला वह मैं अर्थात् आत्मा जब पर को जानता है, तब जो ज्ञेयाकार है, वह वास्तव में ज्ञानाकार ही है और उस ज्ञानाकार में भी जब आकाररूप विकल्प को गौण किया जाये तो वह ज्ञायक ही है अर्थात् वही 'परमपारिणामिकभाव' है, 'कारणशुद्धपर्याय' है, यही बात यहाँ दृढ़ होती है।

यही बात समयसार गाथा १३ में भी बतलायी है–उसमें दृष्टि का विषय 'नौ तत्त्व में (पर्याय में) छुपा हुआ आत्मज्योतिरूप कहा है'। अर्थात् अव्यक्त व्यक्त में ही छुपा हुआ है अर्थात् व्यक्त अव्यक्त का ही बना हुआ है तथापि कहा ऐसा ही जाता है कि व्यक्त को अव्यक्त स्पर्शता ही नहीं। यही विशिष्टता है जैनशासन के नयचक्र की और इसी अपेक्षा से अव्यक्त के बोल समझना आवश्यक है, अन्यथा नहीं अर्थात् एकान्त से नहीं। क्योंकि एकान्त तो अनन्त परावर्तन का कारण होने में समक्ष है। इसलिए हम जब प्रश्न करते हैं कि यह पर्याय किसकी बनी हुई है? और उत्तर में हम बतलाते हैं कि 'परमपारिणामिकभाव की' अर्थात् जो पर्याय है वह द्रव्य की ही (ध्रुव की ही, परमपारिणामिकभाव की ही) बनी हुई है कि जिसके विषय में हमने पूर्व में अनेक आधारोंसहित समझाया ही है, यही बात यहाँ दृढ़ होती है।

यही बात समयसार श्लोक २७१ में भी बतलायी है – श्लोकार्थ – 'जो यह ज्ञानमात्रभाव मैं हूँ, वह ज्ञेयों के ज्ञानमात्र न जानना; (परन्तु) ज्ञेयों के आकार से होते ज्ञान के कल्लोलरूप से

परिणमता वह ज्ञान ज्ञेय ज्ञातामय वस्तुमात्र जानना।' अर्थात् ज्ञेय है वह ज्ञानमय है, ज्ञान है वह ज्ञातामय है और वह ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय की एकरूपता से सिद्ध होता है कि पर्याय (ज्ञेय) ज्ञाता (परमपारिणामिकभाव) की बनी हुई है अर्थात् चार भाव (पर्याय=विभावभाव) वह एक परमपारिणामिकभाव के ही बने हैं अर्थात् चारों भावों का (पर्याय का) सामान्य वह परमपारिणामिकभाव है अर्थात् जैसे ज्ञेय में ज्ञाता हाजिर है, वैसे प्रत्येक पर्याय में ज्ञाता= परमपारिणामिकभाव हाजिर ही है... वह पर्याय उसकी ही (ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता) बनी हुई है अर्थात् चार भाव (पर्याय=विभावभाव) को गौण करने पर ज्ञायक=परमपारिणामिकभाव प्राप्त होता है, जो कि दृष्टि का विषय है। इस प्रकार प्रत्येक पर्याय में पूर्ण द्रव्य हाजराहजूर है ही, मात्र उसकी दृष्टि करते आना चाहिए, इसलिए ही दृष्टि अनुसार ऐसा कहा जा सकता है कि जो द्रव्य है वही पर्याय है (वह पर्याय दृष्टि) अथवा जो पर्याय है, वही द्रव्य है (वह द्रव्यदृष्टि)।

ज्ञान (आत्मा) सामान्य विशेषात्मक होता है। ज्ञान सामान्यभाव (परमपारिणामिकभाव) निर्विकल्प होता है। जबकि ज्ञानविशेषभाव (चार भावरूप) सविकल्प होता है, जिससे ज्ञान सामान्यभाव (परमपारिणामिकभाव) में 'मैंपना' करते ही निर्विकल्प अनुभूति होती है। यही सम्यग्दर्शन की विधि (पद्धति) है।

गाथा ६६-६७ अन्वयार्थ-'(वैभाविकी तथा स्वाभाविकी ये दोनों क्रियायें=पर्यायें जब पारिणामिक ही है तो उनमें कुछ अन्तर ही नहीं) इस प्रकार कहना ठीक नहीं है क्योंकि बद्ध और अबद्ध ज्ञान में अन्तर है, उसमें से मोहनीयकर्म से आवृत ज्ञान को (अर्थात् औदयिकरूप विशेष भाव को) बद्ध कहते हैं तथा जो मोहनीयकर्म से अनावृत ज्ञान को (अर्थात् सामान्य ज्ञान को, ज्ञायकरूप ज्ञान को, परमपारिणामिकभावरूप ज्ञान को तथा कारणशुद्धपर्यायरूप ज्ञान को) अबद्ध कहते हैं। जो ज्ञान मोहकर्म से आवृत्त अर्थात् जुड़ा हुआ है, वह जैसे इष्ट और अनिष्ट अर्थ के संयोग से अपने आप ही राग-द्वेषमय होता है, वैसे ही वह प्रत्येक पदार्थ को क्रम क्रम से विषय करनेवाला होता है अर्थात् उन सर्व पदार्थों को एक साथ विषय करनेवाला नहीं होता।' इसी विषय को गाथा १३० में विशेष स्पष्ट किया है, इसलिए वह अब देखेंगे।

गाथा १३० अन्वयार्थ-'परगुण आकाररूप पारिणामिकी क्रिया बन्ध कहलाता है तथा उस क्रिया के होने से ही उन दोनों जीव और कर्मों का अपने-अपने गुणों से च्युत होना होता है, वह अशुद्धता कहलाती है।' अर्थात् पारिणामिकी क्रिया अर्थात् पारिणामिकी भावरूप (पर्यायरूप) जीव ही परिणमता है।

भावार्थ–'प्रत्येक द्रव्य में पारिणामिकभाव होता है। जीव और पुद्‌गल में उसके दो प्रकार की क्रिया होती है एक शुद्ध तथा दूसरी अशुद्ध। प्रत्येक द्रव्य, वह क्रिया आप स्वयं करता होने से वह क्रिया पारिणमिकभावरूप है। जैसे जीव में क्रोध होता है, वह स्व अपेक्षा से पारिणामिकभाव (क्रिया) है। (अर्थात् औदयिकभाव वास्तव में तो पारिणामिकभाव का ही बना हुआ है)। (देखो, जयधवला भाग–१, पृष्ठ ३१९ तथा श्री षट्खण्डागम पुस्तक–५, पृष्ठ १९७–२४२–२४३) और विकारीभावों में कर्म के उदय की अपेक्षा बतलानी हो तब उस पर्याय को औदयिकी भी कहा जाता है (यही बात पूर्व में हमने बतलायी है कि औदयिकीभावरूप पर्याय वास्तव में पारिणामिकभाव की ही बनी हुई है कि जो उसका सामान्यभाव कहलाता है।) परन्तु इस कारण से कहीं ऐसा नहीं समझना कि जीव में पर का कुछ भी गुण आ जाता है।

दूसरा जो भाव (विभावभाव) जीव में से निकल जाने योग्य हो, वह अपना स्वरूप नहीं होने से निश्चयनय से वह अपना नहीं, उसे परभाव परगुणाकार इत्यादि नाम से पहिचाना जाता है, इस अपेक्षा से जीव के विकारभाव को निश्चयनय से पुद्‌गल परिणाम कहने में आया है क्योंकि वह जीव का स्वभाव नहीं और पुद्‌गल के सम्बन्ध से होता है, इसलिए वह विकारभाव निश्चयबन्ध है। वह विकारी पारिणामिकी क्रिया होने पर अपने गुण से च्युत होना वह अशुद्धता है।'

अर्थात् जो जीव का परमपारिणामिकभाव है अर्थात् जो जीव का सहज परिणमन है, वही परलक्ष्य से अशुद्धता रूप परिणमकर निश्चय बन्धरूप होता है और इसीलिए उस अशुद्धता को गौण करते ही परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा जो की सम्यग्दर्शन का विषय है वह हाजिर ही होता है और इसी अपेक्षा से समयसार गाथा १३ में भी बतलाया है कि 'नवतत्त्व में छिपी हुई आत्मज्योति' अर्थात् उन नौ तत्त्वरूप जो जीव का परिणमन है (पर्याय है) उसमें से अशुद्धियों को गौण करते ही जो शेष रहता है, वही परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा है, वही कारणशुद्धपर्याय है, वही दृष्टि का विषय है।

⁂

१६

स्वभावपर्याय और विभावपर्याय

हमने जो पूर्व में बतलाया कि स्वभावपर्याय और विभावपर्याय, ऐसी दो पर्याय अपेक्षा से कही जाती है अर्थात् दोनों एक ही पर्याय (वस्तु, द्रव्य) का अनुक्रम से सामान्यरूप और विशेषरूप है, परन्तु ऐसा नहीं कि स्वभाविकशक्ति और वैभाविकशक्ति एक ही काल में होती है, क्योंकि ऐसा मानने पर, दोनों पर्याय विशेषरूप हो जाने से, एक द्रव्य की एक काल में दो पर्याय का प्रसंग आयेगा और कार्य-कारणभाव के नाश का प्रसंग आयेगा, जिससे बन्ध-मोक्ष के अभाव का प्रसंग आयेगा, वही अब आगे बतलाते हैं।

पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध की गाथा :-

गाथा ९२-अन्वयार्थ-'यह स्वाभाविकी और वैभाविकी शक्ति का एक काल में सद्भाव मानने पर न्याय से भी बहुत बड़ा दोष आयेगा, क्योंकि युगपत् स्वाभाविक और वैभाविक भाव को मानने से कार्य-कारणभाव का नाश तथा बन्ध-मोक्ष के नाश होने का प्रसंग आता है।'

भावार्थ-'वैभाविकीशक्ति की विभाव और स्वभावरूप दो अवस्था मानने से बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था सिद्ध हो जाती है तथा वह विभाव और स्वभाव अवस्थायें क्रमवर्ती हैं, इसलिए बन्ध और मोक्ष के कार्य-कारणभाव अलग-अलग हैं - ऐसा भी सिद्ध होता है परन्तु दोनों शक्तियों को युगपत् मानने से न तो कार्यकारणभाव बन सकेगा तथा न तो बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था ही बन सकेगी।'

हम जो पूर्व में देख गये हैं, वही यहाँ बतलाया है कि यदि छद्मस्थ जीव में स्वभावपर्याय और विभावपर्याय ऐसी दो पर्याय मानने में आवे तो जो कार्य-कारणरूप व्यवस्था है वह सिद्ध ही नहीं होगी अर्थात् जिस आत्मा में प्रत्येक प्रदेश में कर्म हैं और उनके निमित्त से वह अशुद्धतारूप परिणमता है, ऐसा कार्य-कारणभाव और उन कर्मों का अभाव होते ही वह जीव शुद्धरूप परिणमता है, वैसा बन्ध और मोक्ष भी सिद्ध नहीं होगा। इसलिए छद्मस्थ जीव में विशेषरूप विभावपरिणमन और सामान्यरूप स्वभावपरिणमन ही मानने योग्य है जो कि सामान्यरूप स्वभावपरिणमन के बल से वह जीव कर्मों के निमित्त से होते भाव में 'मैंपना' से छूटकर अर्थात् उनमें 'मैंपना' नहीं करके मात्र परमपारिणामिकभाव में ही 'मैंपना' करता है और उन विभावरूप भावों को क्षणिक और हेयरूप मानकर कर्मों के नाश के लिये शक्ति प्राप्त करता है और आगे वैसा ही पुरुषार्थ बारम्बार करके सर्व कर्मों का नाश करके, वैसे भावों से सर्वथा, सर्व काल के लिए छूटता है, मुक्त होता है; यही मोक्ष है।

* * *

१७

नव तत्त्व की सच्ची श्रद्धा का स्वरूप

पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध की गाथाएँ

गाथा १३३-१३४-१३५-'वास्तव में यहाँ शुद्धनय की अपेक्षा से जीव शुद्ध भी है (अर्थात् एकान्त शुद्ध नहीं अथवा तो उसका एक भाग शुद्ध और एक अशुद्ध ऐसा भी नहीं, परन्तु अपेक्षा से जीव शुद्ध भी है) तथा कथंचित् बद्धाबद्ध नय अर्थात् व्यवहारनय से जीव अशुद्ध है, यह भी असिद्ध नहीं (अर्थात् व्यवहारनय से जीव अशुद्ध है)। सम्पूर्ण शुद्धनय, एक, अभेद और निर्विकल्प है अथवा व्यवहारनय अनेक, भेदरूप और सविकल्प है। वह शुद्धनय का विषय चेतनात्मक शुद्ध जीव वाच्य है और व्यवहारनय के विषयरूप वह जीव आदि नौ पदार्थ कहने में आये हैं।'

हम प्रारम्भ में ही जो समझे हैं कि वस्तु एक अभेद है और उसे देखने की दृष्टि अनुसार वही वस्तु शुद्ध अथवा अशुद्ध, अभेद अथवा भेदरूप ज्ञात होती है, वही बात यहाँ सिद्ध की गयी है। अब समयसार गाथा १३ के जो भाव हैं कि 'नव तत्त्व में छुपी हुई आत्म(-चैतन्य) ज्योति' वही भाव व्यक्त करते हैं।

गाथा १५५-अन्वयार्थ-'अर्थात् एक जीव ही जीव-अजीव आदिक नौ पदार्थरूप होकर विराजमान है और इन नौ पदार्थों की अवस्थाओं में भी यदि विशेष अवस्थाओं की विवक्षा न की जाये तो (अर्थात् विशेषरूप विभावभावों को यदि गौण किया जाये तो) केवल शुद्ध जीव ही है (केवल परमपारिणामिक भावरूप शुद्धात्मा ही है अर्थात् वह केवल कारणशुद्ध पर्यायरूप दृष्टि का विषय ही है अर्थात् वह विशेष अवस्थाएँ - पर्यायें परमपारिणामिकभाव की ही बनी है, यही बात सिद्ध होती है)।'

गाथा १६०-१६३-'सौपरक्ती से उपाधि सहित स्वर्ण त्याज्य नहीं क्योंकि उसका त्याग करने पर सर्व शून्यतादि दोषों का प्रसंग आता है (उसी प्रकार यदि अशुद्धरूप परिणमित जीव अर्थात् अशुद्ध पर्याय का यदि त्याग किया जाये तो वहाँ पूर्ण द्रव्य का ही त्याग हो जाने से, सर्व शून्यतादि का दोष आयेगा अर्थात् उस अशुद्ध पर्याय में ही परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा छुपा हुआ होने से यदि उस अशुद्ध पर्याय का त्याग करोगे तो पूर्ण द्रव्य का ही लोप हो जायेगा और इसलिए उस अशुद्ध पर्याय का त्याग न करके, मात्र अशुद्धि को ही गौण करना और ऐसा करते ही परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा जो कि दृष्टि का विषय है वह उपलब्ध होगा।) (दूसरा) ऐसा कथन भी परीक्षा करने से सिद्ध नहीं हो सकता कि जिस समय सुवर्ण, पर्याय से शुद्ध है उस समय ही वह शुद्ध है (अर्थात् जो अशुद्धतारूप परिणमित संसारी जीवों को एकान्त से अशुद्ध ही मानते

हैं और शुद्धोपयोग मात्र तेरहवें गुणस्थान से ही मानते हैं, उन्हें शुद्धनय की प्राप्ति होनेवाली ही नहीं है अर्थात् ऐसे जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति ही नहीं होती और दूसरा जो पर्याय को अशुद्ध मानकर दृष्टि के विषय में शामिल नहीं करते और एकान्त से शुद्ध-ध्रुव खोजते हैं, उन्हें भी उसकी प्राप्ति होनेवाली ही नहीं है अर्थात् वैसे जीव को भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती ही नहीं।) क्योंकि (एकान्त) शुद्धद्रव्य की प्राप्ति न होने से उसकी प्राप्ति के हेतु का भी अदर्शन सिद्ध होता है (अर्थात् जो खान में से निकले हुए अशुद्ध स्वर्ण का अस्वीकार करे तो उसमें छुपे हुए शुद्ध स्वर्ण की प्राप्ति भी हो सकनेवाली नहीं है; इसी प्रकार अशुद्ध जीव में (पर्याय में) ही शुद्धात्मा छुपा हुआ है, ऐसा जानना।)

(अब शुद्धात्मा की प्राप्ति की विधि बताते हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन की रीति बताते हैं) जिस समय उस अशुद्ध स्वर्ण के रूपों में केवल शुद्ध स्वर्ण दृष्टिगोचर किया जाता है (अर्थात् अशुद्ध पर्याय में द्रव्यदृष्टि से केवल शुद्धात्मा=परमपारिणामिकभाव दृष्टिगोचर करने में आता है) उस समय परद्रव्य की उपाधि दृष्टिगोचर नहीं होती (अर्थात् पर्यायरूप परिणमित द्रव्य की अशुद्धि गौण होते ही पूर्ण साक्षात् शुद्धात्मा ही ज्ञात होता है) परन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण से अपना अभीष्ट वह केवल शुद्ध स्वर्ण ही दृष्टिगोचर होता है (इसीलिए दूसरे को जो द्रव्य प्रमाण का भासित होता है, उसी द्रव्य में हमें परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा के दर्शन होते हैं; इसलिए कहा जा सकता है कि - उसमें दूसरे का दोष मात्र यह है कि जब उसे (द्रव्य को) द्रव्यार्थिकनय से ग्रहण करना है तब भी वे उसे प्रमाणदृष्टि से ही ग्रहण करते हैं, क्योंकि उनकी धारणा में द्रव्य दो भाग वाला है कि जिसमें का एक भाग शुद्ध और दूसरा अशुद्ध है। दूसरे की ऐसी मान्यता की भूल होने से, हम जब पूर्ण द्रव्य की बात करते हैं तब उन्हें उसमें प्रमाण के द्रव्य के ही दर्शन होते हैं और जब हम उसी प्रमाण के द्रव्य को शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से ग्रहण करके उसे शुद्धात्मा=परमपारिणामिकभाव कहते हैं, तब वे उसमें पर्याय से भिन्न, अपरिणामी=कूटस्थ खोजते हैं, कि जिसका अस्तित्व ही नहीं है, जो कभी शुद्धभागरूप अर्थात् एकान्त शुद्धरूप मिलनेवाला ही नहीं है) इसलिए सिद्ध होता है कि जैसे उस अशुद्ध स्वर्णमाला में अन्य धातुओं का संयोग होने पर भी वास्तव में परसंयोगरहित भिन्नरूप से शुद्ध स्वर्ण का अस्तित्व सिद्ध होता है, इसी प्रकार जीवादिक नौ पदार्थों में शुद्ध जीव का अस्तित्व सिद्ध है।' अन्यथा नहीं, अर्थात् उन अशुद्ध पर्यायों के अतिरिक्त उस काल में जीवत्व अन्य कुछ भी नहीं, वह पूर्ण जीव ही उस रूप परिणमित है, इसलिए उसमें ही शुद्धात्मा छुपा हुआ है। इस भाव के अनुसंधानरूप दृष्टान्त अब बाद की गाथाओं में दिये हैं, वे संक्षिप्त में बतलाते हैं।

गाथा १६६- में कीचड़ सहित जल का उदाहरण है, उस कीचड़ सहित जल में ही शुद्ध जल छुपा हुआ है।

गाथा १६७ – में अग्नि का दृष्टान्त है, उपचार से अग्नि का आकार उसके दाह्य के अनुसार होने पर भी वह मात्र अग्नि ही है अन्य कुछ भी रूप नहीं है अर्थात् दाह्यरूप नहीं है। यही बात समयसार गाथा ६ में भी बतलायी है कि ज्ञान ज्ञेयरूप परिणमने पर भी वह ज्ञायक ही है।

गाथा १६८ – में दर्पण का दृष्टान्त है, दर्पण में अलग-अलग प्रतिबिम्ब होने पर भी, उन्हें गौण करते ही मात्र स्वच्छ दर्पण ही है, वास्तव में वहाँ अन्य कोई नहीं।

गाथा १६९ – में स्फटिक का दृष्टान्त है, उस स्फटिक में कुछ भी झांईं पड़े, इस कारण से कहीं वह उस रंग का भासने पर भी, स्वरूप से वह उस रंग का हो नहीं जाता; स्वरूप से वह स्वच्छ ही रहता है।

गाथा १७० – में ज्ञान का दृष्टान्त है, ज्ञान, ज्ञेय को जानते हुए ज्ञेयरूप नहीं होता परन्तु जैसे उसमें ज्ञेय को गौण करो तो वहाँ ज्ञायक ही हाजिर है; यही रीति है सम्यग्दर्शन की। यही बात समयसार श्लोक २७१ में भी बतलायी है।

गाथा १७१ – में समुद्र का दृष्टान्त है, समुद्र की वायु से प्रेरित लहरें उठती होने पर भी वे मात्र समुद्ररूप ही रहती हैं, वायुरूप नहीं होती; परन्तु समुद्ररूप ही रहती हैं।

गाथा १७२ – में नमक का दृष्टान्त है, नमक रसोई में अन्यरूप नहीं हो जाता, तथापि अज्ञानी जीव उस नमक का स्वाद नहीं ले सकते, जबकि ज्ञानी जीव भेदज्ञान से नमक का स्वाद (शुद्धात्मा का स्वाद) ले लेते हैं। इसी बात को आगे की गाथाओं में दृढ़ कराते हैं वह अब देखते हैं।

गाथा १७८-अन्वयार्थ-'इन नौ पदार्थों से भिन्न सर्वथा शुद्ध द्रव्य की सिद्धि नहीं हो सकती, (इसलिए किसी को वैसे भ्रम में रहने की आवश्यकता नहीं है कि पर्याय से भिन्न सर्वथा शुद्ध द्रव्य उपलब्ध होगा) क्योंकि साधन का अभाव होने से उस शुद्ध द्रव्य की उपलब्धि नहीं हो सकती।' यही बात हमने पूर्व में बतलायी है कि उन अशुद्ध पर्यायों के अतिरिक्त अन्य कोई द्रव्य ही नहीं, अभी तो वह पूर्ण द्रव्य ही उन पर्यायरूप में व्यक्त हो रहा है, उन पर्यायों से भिन्न कोई शुद्धभाव की सिद्धि हो किस प्रकार? अर्थात् अगर हो तो वह मात्र भ्रम में ही हो, अन्यथा नहीं। यही बात यहाँ बतलायी है।

गाथा १८६-अन्वयार्थ-'इसलिए शुद्ध तत्त्व (अर्थात् परमपारिणामिकभावरूप) कहीं इन नौ तत्त्वों से विलक्षण (अर्थात् भिन्न) अर्थान्तररूप नहीं है परन्तु केवल नौ तत्त्व सम्बन्धी विकल्पों को कम करते ही (अर्थात् गौण करते ही) वे नव तत्त्व ही शुद्ध हैं।'

अर्थात् वे नव तत्त्व ही परमपारिणामिकभाव के बने हुए होने से अर्थात् ध्रुवरूप शुद्धात्मा ही उन नव तत्त्वरूप परिणमित हुआ होने से वह उन नौ तत्त्वों में ही छुपा हुआ है अर्थात् उन नौ तत्त्वों में से अशुद्धि को गौण करते ही दृष्टि के विषयरूप शुद्धात्मा हाजिर ही है।

गाथा १८९-अन्वयार्थ-'पुण्य और पाप सहित इन सात तत्त्वों को ही नौ पदार्थ कहने में आया है, तथा भूतार्थनय से आश्रय किये हुए सम्यग्दर्शन के वास्तविक विषय हैं।' अर्थात् दृष्टि के विषयरूप हैं।

भावार्थ - ''पूर्व में गाथा १८६ में कहा था कि नवतत्त्वों से शुद्धात्मा कोई अलग पदार्थ नहीं है, परन्तु उन नौ तत्त्वों सम्बन्धी विकारों को छोड़ने पर (गौण करने पर-कम करने पर) वे नवतत्त्व ही शुद्ध है (परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा है) नव तत्त्वों सम्बन्धी विकारों को किस प्रकार छोड़ा जाये, उसका उपाय इस गाथा में दर्शाया है कि भूतार्थनय द्वारा उन नव तत्त्वों का आश्रय करना वह सम्यग्दर्शन का विषय है (दृष्टि का विषय है) श्री समयसार की गाथा ११ में भी कहा है कि 'व्यवहारनय अभूतार्थ है तथा शुद्धनय भूतार्थ है ऐसा ऋषिश्वरों ने (भगवान ने) दर्शाया है, जो जीव भूतार्थ का आश्रय करता है, वह निश्चय से सम्यग्दृष्टि है।' तत्पश्चात् इसी शास्त्र की गाथा १३ में कहा है कि 'भूतार्थनय से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर-निर्जरा-बन्ध और मोक्ष ये नव तत्त्व सम्यक्त्व हैं।' तथा इस गाथा की टीका में कहा है कि इन नव तत्त्वों में भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है, ऐसे उस एकपने को प्रकाशित करते शुद्धनय द्वारा अनुभव में आता है और जो यह अनुभूति, वह आत्मख्याति ही है तथा आत्मख्याति वह सम्यग्दर्शन है। इस गाथा में 'भूतार्थनय से आश्रय किये हुए नव पदार्थ सम्यग्दर्शन का वास्तविक विषय है।' ऐसा कहा है परन्तु वह मात्र कथन पद्धति का भेद है-आशय भेद नहीं। यहाँ भूतार्थनय से आश्रय किये हुए नव पदार्थ सम्यग्दर्शन का विषय है' ऐसा कहने का कारण यह है कि शंकाकार ने प्रथम गाथा १४२ से १४९ में नव पदार्थ बन नहीं सकते ऐसा कहा था और तत्पश्चात् गाथा १७९-१८० में इन नौ पदार्थों को आत्मा से सर्वथा भिन्न होना कहा था, ये दोनों कथन दोषयुक्त हैं ऐसा दृढ़ करने के लिये ऐसी पद्धति यहाँ ग्रहण की है।

आगे गाथा २१८-२१९ में शंकाकार फिर से कहता है कि जब नौ तत्त्वों में सम्यग्दृष्टि को निश्चय से मात्र आत्मा की उपलब्धि होती है और वही शुद्ध उपलब्धि है तो फिर सम्यग्दर्शन का विषय-नौ पदार्थ किस प्रकार बन सकेंगे ? उसका समाधान गाथा २२० से २२३ में ऐसा किया है कि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनों को नौ पदार्थों का अनुभव तो है परन्तु मिथ्यादृष्टि को वह (अनुभव) विशेषरूप (अर्थात् विभावभावरूप पर्यायरूप) तथा सम्यग्दृष्टि को वह (अनुभव)

सामान्यरूप (परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मारूप) होता है इसलिए उन दोनों के उस अनुभव के स्वाद का अन्तर है और यह बात गाथा २२४ से २२५ में दृष्टान्त देकर सिद्ध की है।

नव तत्त्वों में सामान्यरूप आत्मा को सम्यग्दृष्टि कैसा जानता है, वह गाथा १९४ से १९६ में बतलाया है और तत्पश्चात् शुद्धनय के विषयरूप आत्मा का स्वरूप श्री समयसार की गाथा १४ को अनुसरण कर गाथा २३४ से २३७ में दिया है, और गाथा ४०३ तथा पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध गाथा ५३२ के भावार्थ में भी शुद्धनय के आश्रय से ही धर्म होता है ऐसा कहा है (अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है ऐसा समझना)।

इस प्रकार भूतार्थनय के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन प्रगट हो सकता है, ऐसा इस गाथा में बतलाया है। यह कथन अध्यात्म भाषा से है, आगम भाषा में उपादान तथा निमित्त दोनों को बतलाया जाता है। इसलिए वहाँ 'जीव और कर्म' इत्यादि की व्यवस्था कैसी हो, तब सम्यग्दर्शन प्रगट हो? यह बतलाया जाता है।'' अर्थात् दृष्टि के विषयरूप शुद्धात्मा की उपलब्धि नौ तत्त्व को जानने से किस प्रकार होती है वह यहाँ प्रत्येक को स्पष्ट समझाया है।

गाथा १९२ अन्वयार्थ–'जीव के स्वरूप को चेतना कहते हैं, वह चेतना यहाँ सामान्यरूप से अर्थात् द्रव्यदृष्टि से निरन्तर एक प्रकार होती है (उसे ही परमपारिणामिकभाव, शुद्धात्मा, कारणशुद्धपर्याय इत्यादि नामों से पहिचाना जाता है, वह वस्तु का सामान्य भाव है अर्थात् वस्तु को पर्याय से देखने पर उस पर्याय का सामान्य भाव है।) तथा विशेषरूप से अर्थात् पर्यायदृष्टि से वह चेतना क्रमपूर्वक दो प्रकार की है (अर्थात् औदयिक, उपशम, क्षयोपशमभावरूप अशुद्ध अथवा क्षायिकभावरूप शुद्ध ऐसी दो प्रकार की होती है) परन्तु वह युगपत् अर्थात् एक साथ नहीं (अर्थात् जब क्षायिकभाव विशेषभावरूप होता है तब वह औदयिक इत्यादिरूप नहीं होता अर्थात् दोनों साथ नहीं होते।)'

अर्थात् शुद्ध तत्त्व अर्थात् परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा वह कहीं नव तत्त्वों से विलक्षण अर्थात् भिन्न अर्थान्तररूप नहीं परन्तु केवल नव तत्त्व सम्बन्धी विकारों को कम करते ही अर्थात् गौण करते ही वे नव तत्त्व ही शुद्ध हैं, अर्थात् वह परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा ही है अर्थात् वही दृष्टि का विषयरूप है, अर्थात् इस अपेक्षा से नव तत्त्व को जानने पर सम्यग्दर्शन कहा जाता है क्योंकि स्थूल से ही सूक्ष्म में जाया जाता है अर्थात् प्रगट से ही अप्रगट में जाया जाता है अर्थात् व्यक्त से ही अव्यक्त में जाया जाता है, यही नियम है।

⁂

१८

सम्यग्दर्शन का लक्षण

अब सम्यग्दर्शन का लक्षण बतलाते हैं; पंचाध्यायी उत्तरार्ध की गाथायें –

गाथा २१५ अन्वयार्थ–''तथा केवल आत्मा की उपलब्धि (अर्थात् 'मैं आत्मा हूँ' ऐसी समझ) भी सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं बन सकती परन्तु यदि वह उपलब्धि 'शुद्ध' विशेषण सहित हो अर्थात् शुद्ध आत्मोपलब्धि हो (अर्थात् मात्र 'शुद्धात्मा' में ही 'मैंपना' हो) तो ही सम्यग्दर्शन का लक्षण हो सकता है। यदि वह आत्मोपलब्धि अशुद्ध हो तो वह सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं बन सकती।''

हमने जो भेदज्ञान की बात पूर्व में की है, वही यहाँ बतलायी है, भेदज्ञानरूप स्व और पर दो अपेक्षा से होते हैं; एक, परद्रव्यरूप कर्म, शरीर, घर, मकान, दुकान, पत्नी, पुत्र इत्यादि से मैं भिन्न हूँ। ऐसा अन्य द्रव्य के साथ का भेदज्ञानरूप स्व–पर होता है और उसके बाद का जो दूसरा स्व–पर है, वही सम्यग्दर्शन का कारण और लक्षण है और वह दूसरे भेदज्ञानरूप स्व–पर में, स्वरूप मात्र शुद्धात्मा वह स्व और पररूप समस्त अशुद्धभाव जो कि कर्म (पुद्गल) के निमित्त से होते हैं; वे अशुद्धभाव होते तो हैं मुझमें ही अर्थात् आत्मा ही उन भावरूप परिणमता है, परन्तु उन भावों में 'मैंपना' करने योग्य नहीं है, क्योंकि वे पर के निमित्त से होते हैं और दूसरा वे क्षणिक हैं क्योंकि वे सिद्धों के आत्मा में उपलब्ध नहीं हैं। इसलिए वे भाव त्रिकालरूप नहीं हैं और इसलिए मात्र त्रिकाली ध्रुवरूप शुद्धात्मा कि जो तीनों काल में प्रत्येक जीव में उपलब्ध है और उसी अपेक्षा से 'सर्व जीव स्वभाव से सिद्ध समान ही हैं' – ऐसा कहा जाता है उस भाव में ही अर्थात् उस 'शुद्धात्मा' में ही 'मैंपना' करने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और इसलिए ही शुद्ध आत्मा की उपलब्धि को सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा है।

गाथा २२१ अन्वयार्थ–'वस्तु (अर्थात् पूर्ण वस्तु, उसका कोई एक भाग ऐसा नहीं) सम्यग्ज्ञानियों को सामान्यरूप से (परमपारिणामिकभावरूप से, शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के विषयरूप से, शुद्धात्मरूप से अर्थात् कारणशुद्धपर्यायरूप से) अनुभव में आती है, इसलिए वह वस्तु (अर्थात् पूर्ण वस्तु) केवल सामान्यरूप से शुद्ध कही जाती है तथा विशेष भेदों की अपेक्षा से अशुद्ध कहलाती है।'

भावार्थ–'मिथ्यादृष्टि जीव को राग तथा पर के साथ एकत्वबुद्धि रहने से परवस्तु में इष्ट–

अनिष्टपने की कल्पना रहा करती है तथा वह ऐसे अज्ञानमय राग-द्वेष के कारण से वस्तु के वस्तुपने का प्रतिभास न करके मात्र इष्ट-अनिष्टपने रूप से ही (अर्थात् मात्र विशेषभावों का ही अनुभव करता है, क्योंकि वह पर्यायदृष्टि ही होता है) वस्तु का अनुभव करता है, तब सम्यग्दृष्टि जीव को अज्ञानमय राग-द्वेष का अभाव (अर्थात् उसे मात्र शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि होने से, राग-द्वेष गौण करके, शुद्ध का ही अनुभव करता है, इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव को अज्ञानमय राग-द्वेष का अभाव) हुआ होने से वह परवस्तु में इष्ट-अनिष्ट कल्पना से रहित होकर वस्तुपने का ही अनुभव करता है (मात्र शुद्धात्मा का-सामान्यभाव का ही अनुभव करता है)।'

गाथा २३४-२३७ अन्वयार्थ-'एक ज्ञान का ही पात्र होने से तथा बद्धस्पृष्टादि भावों का अपात्र होने से (अर्थात् उनमें 'मैंपना' नहीं होने से) सम्यग्दृष्टि अपने को प्रत्यक्षपूर्वक स्पष्ट प्रकार से विशेष (विभावभाव) रहित, अन्य के संयोगरहित, चलाचलतारहित तथा अन्यपने से रहित (अर्थात् औदयिक आदि भावों से रहित) स्वाद का आस्वाद करता है। तथा बन्धरहित तथा अस्पृष्ट, शुद्ध, सिद्ध समान (इसीलिए उसे देश सिद्धत्व का अनुभव होता है), शुद्ध स्फटिक समान, सदा आकाश समान परिग्रह रहित, इन्द्रियों से उपेक्षित अनन्त ज्ञान-दर्शन-वीर्यमय अतीन्द्रिय सुखादिक अनन्त स्वाभाविक गुणों सहित अपने आत्मा का श्रद्धान करनेवाला होता है, इसलिए यद्यपि वास्तव में सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानमूर्तिवाला है तो भी प्रसंग से अर्थात् पुरुषार्थ की निर्बलता से उसे अन्य पदार्थों की भी इच्छा हो जाती है, तथापि उसे कृतार्थ जैसा परम उपेक्षाभाव वर्तता है।'

* * *

१९

सम्यग्दृष्टि को भोग बन्ध का कारण नहीं

आगे, चौथे और पाँचवें गुणस्थानयुक्त जीव भोग भोगता है तो क्यों भोगता है और उसमें उसे बन्ध नहीं, वह किस अपेक्षा से कहा जाता है, उसका स्पष्टीकरण करते हैं और कहते हैं कि इन्द्रियजन्य सुख, वह वास्तव में तो दुःख ही है।

गाथा २३९ अन्वयार्थ-'क्योंकि सुख जैसे ज्ञात होनेवाले ये इन्द्रियजन्यसुख, दुःखरूप फल को देनेवाले होने से दुःखरूप ही है। इस कारण से वे सुखाभास त्यागने योग्य है, तथा सर्वथा अनिष्ट उन दुःखों के जो कर्म, हेतु (निमित्त) हैं, वे भी त्यागने योग्य हैं (अर्थात् दुःखों के निमित्त जो कर्म हैं, वे भी त्यागने योग्य हैं)'

जो जीव अज्ञानी हैं, उन्हें तो इन्द्रियजन्यसुखरूप सुखाभास प्रिय होने से नियम से दुःखरूप ही है क्योंकि दुःख का जो कारण है, वैसे कर्म ऐसे सुखों के प्रति आकर्षण से और ऐसे सुखों को रजपच कर भोगने से बँधते हैं कि जो कालान्तर में दुःख देनेवाले ही बनते हैं। जबकि आत्मज्ञानी ऐसे सुखों को उपेक्षा भाव से-अपनी निर्बलता समझकर भोगता है और इस कारण से उसे अल्पबन्ध होता अवश्य है परन्तु उस अल्प की अपेक्षा को नहींवत् अर्थात् बन्ध नहीं होता ऐसा ही कहा जाता है क्योंकि उसे उस सुख में 'मैंपना' नहीं होता और जैसे रोगी को दवा के लिये आदर रोग मिटे तब तक ही होता है, उसी प्रकार आत्मज्ञानी को भी इन्द्रियजन्य सुख का आदर अपने पुरुषार्थ की निर्बलता है, तब तक ही होता है और आत्मज्ञानी ऐसे सुख को सेवन करता हुआ भी उसे अपने पुरुषार्थ की निर्बलता समझकर पुरुषार्थ में वीर्य स्फुरित करने को अन्तर से उद्यमवन्त होता है। इसलिए इसी अपेक्षा से उन सुखों को वह भोगने पर भी, उसे बन्धकारक नहीं है ऐसा कहा जाता है।

गाथा २५६ अन्वयार्थ-'जैसे जौंक को दूषित रक्त चूसने से तृष्णा के बीजभूत रति देखने में आती है, इसी प्रकार (अज्ञानी) संसारी जीवों में भी उन विषयों में सुहितपना (अच्छा मानने से, आदर होने से, आकर्षण होने से) मानने से तृष्णा के बीजभूत रति (आसक्ति) देखने में आती है।' अर्थात् विषयों की ऐसी आसक्ति छोड़ने योग्य है, यह बात अवश्य ध्यान में रखने जैसी है, क्योंकि-

गाथा २५८ अन्वयार्थ-'सम्पूर्ण कथन का सारांश यह है कि -यहाँ जगत जिसे सुख कहता है, वह सर्व दुःख ही है तथा वह दुःख आत्मा का धर्म नहीं होने से सम्यग्दृष्टियों को उस दुःखरूप

सांसारिक सुखों की अभिलाषा नहीं होती।' अर्थात् सम्यग्दृष्टियों को सुख के आकर्षण का अभिप्राय नहीं होता।

गाथा २७१ से २७६ अन्वयार्थ–'जैसे रोग की प्रतिक्रिया करता हुआ कोई रोगी पुरुष उस रोग अवस्था में रोग के पद को नहीं चाहता अर्थात् सरोग अवस्था को नहीं चाहता (अर्थात् ज्ञानी स्वयं जानता है कि यह जो मैं राग–द्वेषरूप परिणमता हूँ, वह मेरी रोगग्रस्त अवस्था है, क्योंकि उसने शुद्धात्मा का स्वाद अनुभव किया है तो बारम्बार वह वैसी रागग्रस्त=रोगग्रस्त अवस्था क्यों चाहेगा? अर्थात् नहीं चाहता।) तो फिर दूसरे समय रोग उत्पन्न होने की इच्छा के विषय में (अर्थात् नवीन कर्म बन्ध हो, ऐसे कारणों में तो वह किसलिए प्रवर्तेगा? अर्थात् पुरुषार्थ की कमजोरी न हो तो प्रवर्तेगा ही नहीं) तो कहना ही क्या? अर्थात् फिर से रोग की उत्पत्ति तो वह चाहनेवाला ही नहीं है। इसी प्रकार जब भावकर्मों द्वारा पीड़ित होता कर्मजन्य क्रियाओं को करनेवाला ज्ञानी किसी भी कर्म पद की इच्छा नहीं करता तो फिर वह इन्द्रियों के विषयों का अभिलाषी है–ऐसा किस न्याय से कहा जा सकता है? – कर्ममात्र को नहीं चाहनेवाले उस सम्यग्दृष्टि को वेदना का प्रतिकार भी असिद्ध नहीं है (अर्थात् प्रतिकार होता है) क्योंकि कषायरूप रोगसहित उस सम्यग्दृष्टि को वेदना का प्रतिकार नवीन रोगादि को उत्पन्न करने में कारणरूप नहीं कहा जा सकता। (अर्थात् उसे उस वेदना का प्रतिकार अर्थात् रोग की दवारूप से सेवित भोग नवीन कर्मों के बन्धरूप नहीं कहे जा सकते), वह सम्यग्दृष्टि भोगों का सेवन करते होने पर भी वास्तव में भोगों का सेवन करनेवाला नहीं कहा जाता क्योंकि रागरहित (अर्थात् राग में 'मैंपना' नहीं है, ऐसा सम्यग्दृष्टि) जीव को कर्ताबुद्धि के बिना किये हुए कर्म राग के कारण नहीं हैं। यद्यपि कोई–कोई सम्यग्दृष्टि जीव अर्थात् जघन्यवर्ती (अर्थात् चौथे गुणस्थानवाले) सम्यग्दृष्टि को कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतना होती है (अर्थात् कर्ता–भोक्ताभाव देखने को मिलता है) तो भी वास्तव में वह ज्ञानचेतना ही है (क्योंकि उस दिखायी देते कर्ता–भोक्ताभाव में 'मैंपना' न होने से उसे ज्ञानचेतना ही है) कर्म में तथा कर्मफल में रहनेवाली चेतना का फल बन्ध होता है, परन्तु उस सम्यग्दृष्टि को अज्ञानमय राग का अभाव होने से (अर्थात् राग में 'मैंपना' का अभाव होने से) बन्ध नहीं होता इसलिए वह ज्ञानचेतना ही है।'

◆

२०

निमित्त–उपादान की स्पष्टता

अब आगमभाषा से समझाते हैं कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कब होती है? पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध की गाथा–

गाथा ३७८ अन्वयार्थ–'दैव (कर्म) योग से, कालादिक लब्धियों की प्राप्ति होने पर संसार-सागर (का किनारा) निकट आने पर अथवा भव्यभाव का विपाक होने पर जीव, सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है।'

यहाँ जब सम्यग्दर्शन होता है तब यथार्थ निमित्त का ज्ञान कराया है, अर्थात् कार्यरूप से तो उपादान स्वयं ही परिणमता है परन्तु तब यथार्थ निमित्त की उपस्थिति नियम से होती ही है। इसलिए कहा जा सकता है कि 'कार्य निमित्त से तो होता ही नहीं, परन्तु निमित्त के बिना भी होता ही नहीं' और इसीलिए जिनागम में जीव को पतन के कारणभूत निमित्तों से दूर रहने का उपदेश स्थान-स्थान पर दिया गया है और वह योग्य ही है।

अन्यथा कोई एकान्त से ऐसा माने कि निमित्त तो परम अकर्ता ही है, और स्वच्छन्द से चाहे जैसे निमित्तों का सेवन करे, तो उसे नियम से मिथ्यात्वी और अनन्त संसारी ही समझना क्योंकि उसे निमित्त का यथार्थ ज्ञान ही नहीं है। इसीलिए कहा है कि निश्चय से कार्य निमित्त से तो होता ही नहीं क्योंकि उपादान स्वयं ही कार्यरूप से परिणमता है, नहीं कि निमित्त परन्तु कार्य निमित्त के बिना भी होता ही नहीं क्योंकि जब कोई भी कार्य होता है तब उसके योग्य निमित्त की उपस्थिति अवश्य होती ही है–अविनाभावरूप से होती ही है और इसीलिए मुमुक्षु जीव विवेक से हमेशा निर्बल निमित्तों से बचने का ही प्रयास करता है, जो कि उसके पतन का कारण बन सकते हैं और यही निमित्त-उपादान की यथार्थ समझ है; निमित्त-उपादान की विशेष छनावट आगे समयसार के निमित्त-उपादान के अधिकार में भी करेंगे।

◆

२१

उपयोग और लब्धिरूप सम्यग्दर्शन

पंचायध्यायी उत्तरार्द्ध की गाथा–

गाथा ४०४ अन्वयार्थ–''इतना विशेष है कि सम्यग्दर्शन और स्वानुभव इन दोनों में विषम व्याप्ति है क्योंकि 'सम्यग्दर्शन के साथ में उपयोगरूप स्वानुभूति होवे ही' ऐसी समव्याप्ति नहीं है (अर्थात् सम्यग्दर्शन की उपस्थिति के समय स्वात्मानुभूतिरूप अनुभव होता भी है और नहीं भी होता इसलिए समव्याप्ति अर्थात् अविनाभाव उपस्थिति नहीं होती) परन्तु लब्धि में अर्थात् लब्धिरूप (ज्ञान की लब्ध और उपयोगरूप ऐसी दो अवस्थायें होती हैं, उनमें लब्धिरूप अवस्था में) स्वानुभूति के साथ सम्यग्दर्शन की समव्याप्ति है (अर्थात् सम्यग्दर्शन की उपस्थिति में ज्ञान में लब्धिरूप से स्वानुभूति की उपस्थिति अविनाभाव अर्थात् नियम से होती ही है।)''

अर्थात् पूर्व में पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध की गाथा २१५ में बतलाये अनुसार आत्मा की उपलब्धि 'शुद्ध' विशेषणसहित होती है अर्थात् शुद्धोपयोगरूप स्वात्मानुभूतिरूप अनुभवसहित होवे तो ही वह सम्यग्दर्शन का लक्षण हो सकती है। और यदि वह आत्मोपलब्धि अशुद्ध हो तो वह सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं बन सकती परन्तु वह शुद्धोपयोगरूप स्वात्मानुभूतिरूप अनुभव का सातत्य क्षणिक ही होने पर भी उसका सातत्य लब्धरूप तो सम्यग्दर्शन की उपस्थिति के समय नियम से होता ही है।

* * *

२२

स्वानुभूति रहित श्रद्धा

अब, स्वानुभूति रहित श्रद्धा के विषय में बतलाते हैं - पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध की गाथा-

गाथा ४२३ अन्वयार्थ-'स्वानुभूति रहित श्रद्धा (अर्थात् कोई ऐसा माने कि नवतत्त्व की श्रद्धा, वही सम्यग्दर्शन अथवा सच्चे देव-गुरु-धर्म की श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन मानते हों तो वैसी स्वानुभूति रहित की श्रद्धा) समीचीन (सच्ची-कार्यकारी) श्रद्धा नहीं होती इसलिए जो सम्यग्दर्शन के लक्षणभूत श्रद्धा योगिक रूढ़ि-निरुक्ति से (अर्थात् स्वानुभूतिरूप योगसहित की) सिद्ध अर्थवाली है (अर्थात् सच्ची है-कार्यकारी है) वह भी वास्तव में स्वानुभूति की भाँति अविरुद्ध कथन है (इसलिए श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन, वह स्वानुभूतिरूप सम्यग्दर्शन ही है)।'

अर्थात् स्वानुभूति रहित श्रद्धा कार्यकारी नहीं है इसलिए पूर्व में बतलाये अनुसार मात्र व्यवहारनय को ही मान्य करनेवाले बहुभाग जैन ऐसा मानते हैं कि-सम्यग्दर्शन अर्थात् सात/नौ तत्त्वों की (स्वात्मानुभूति रहित) श्रद्धा अथवा सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की (स्वात्मानुभूति रहित) श्रद्धा। सम्यग्दर्शन की यह व्याख्या व्यवहारनय के पक्ष की है अर्थात् वैसी स्वानुभूति रहित श्रद्धा समीचीन (सच्ची-कार्यकारी) श्रद्धा नहीं होती इसलिए जो सम्यग्दर्शन के लक्षणभूत श्रद्धा यौगिक रूढ़ि-निरुक्ति से अर्थात् स्वात्मानुभूतिरूप योगसहित की सिद्ध अर्थवाली है अर्थात् सच्ची है=कार्यकारी है और वह समीचीन (सच्ची-कार्यकारी) श्रद्धा भी वास्तव में स्वानुभूति की भाँति अविरुद्ध कथन है अर्थात् वैसी श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन वह स्वानुभूतिरूप सम्यग्दर्शन ही है अर्थात् जो एक को अर्थात् आत्मा को जानता है, वही सर्व को अर्थात् सात/नौ तत्त्वों को और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को जानता है क्योंकि एक आत्मा को जानते ही वह जीव सच्चे देवतत्त्व का आंशिक अनुभव करता है और इसीलिए वह सच्चे देव को अन्तर से पहिचानता है और ऐसे सच्चे देव को जानते ही अर्थात् (स्वात्मानुभूति सहित की) श्रद्धा होते ही वह जीव वैसा देव बनने के मार्ग में चलनेवाले सच्चे गुरु को भी अन्तर से पहिचानता है और साथ ही साथ वह जीव वैसे देव बनने का मार्ग बतलानेवाले सच्चे शास्त्र को भी पहिचानता है।

निश्चय सम्यग्दर्शन की सच्ची व्याख्या ऐसी होने पर भी व्यवहारनय के पक्षवाले को सम्यग्दर्शन की ऐसी सच्ची व्याख्या मान्य नहीं होती अथवा वे ऐसी व्याख्या का ही विरोध करते हैं और इसलिए वे सम्यग्दर्शन अर्थात् सात/नौ तत्त्वों की कही जाती (स्वात्मानुभूति रहित की)

श्रद्धा अथवा सच्चे देव–गुरु–शास्त्र की कही जाती (स्वात्मानुभूति रहित की) श्रद्धा इतना ही मानते होने से उन्हें स्वात्मानुभूति रहित की श्रद्धा और स्वात्मानुभूति सहित की श्रद्धा दोनों का अन्तर ज्ञात नहीं होता अथवा ज्ञात नहीं करना चाहते; इसलिए वे सम्यग्दर्शन जो कि धर्म का मूल है, उसके विषय में ही अनजान रहकर पूरी जिन्दगी धर्मक्रिया उत्तम रीति से करने पर भी संसार के अन्त करनेवाले धर्म को प्राप्त नहीं करते कि जो करुणा उत्पन्न करनेवाली बात है।

◆

२३

सम्यग्दृष्टि जीव का निर्विचिकित्सा गुण

सम्यग्दृष्टि जीव, मात्र शुद्धात्मा में ही 'मैंपना' करता होने पर भी स्वयं को दूसरे संसारी जीव, जैसा ही अर्थात् कर्मों से मलिन भी अनुभव करता है और इसीलिए वह अपने को अन्य संसारी जीवों से ऊँचा मानकर उनके प्रति घृणा इत्यादि के भाव नहीं करता, यही उसका निर्विचिकित्सा गुण है, ऐसा बताते हैं, वह अन्य सर्व संसारी जीवों को भी अपने जैसा ही अर्थात् स्वरूप से सिद्ध समान ही समझता (जानता) है।

पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध की गाथा–

गाथा ५८४ अन्वयार्थ–'जैसे जल में कुछ (गन्दगी–मलिनता) रहती है। ठीक इसी प्रकार जब तक जीव में अशुचिरूप ऐसे कर्म हैं, तब तक मैं (अर्थात् सम्यग्दृष्टि=ज्ञानी) और वह सर्व संसारी जीव सामान्यरूप से (अर्थात् समान रीति से) निश्चयपूर्वक कर्मों से मलिन है (ऐसा सम्यग्दृष्टि का निर्विचिकित्सा गुण)।' अर्थात् सम्यग्दृष्टि=ज्ञानी जीव को किसी भी जीव के प्रति तुच्छ भाव नहीं होता परन्तु सर्व जीवों के प्रति उन्हें समभाव=साम्यभाव होता है, वही सम्यग्दृष्टि जीव का निर्विचिकित्सा गुण है।

◆

२४

सम्यग्दर्शन के लिये योग्यता

सम्यग्दर्शन के लिये जीव की योग्यता के सन्दर्भ में बतलाते हैं, पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध की गाथायें

गाथा ७२४ अन्वयार्थ–'जो आठों मूलगुण (बड़ का टेटा, पीपल, कटुमर, ऊमर, तथा पाकर इन पाँचों क्षीर वृक्ष को उदम्बर कहते हैं, ये त्रस हिंसा के स्थान है, इनका त्याग तथा तीन 'मकार' अर्थात् मधु, माँस और मदिरा, इन तीन का नियम से त्याग वह अष्ट मूलगुण है; अथवा पाँच अणुव्रतों का पालन और मद्य, माँस, मधु का निरतिचार त्याग, वह श्रावक के अष्ट मूलगुण हैं – पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के श्रावकधर्म प्रकाश के प्रवचन, पृष्ठ ४५) स्वभाव से अथवा कुल परम्परा से भी आता है अर्थात् गृहस्थों को प्राप्त होता है तथा यह स्पष्ट है कि इन मूलगुणों के बिना जीवों को सर्व प्रकार के व्रत तथा सम्यक्त्व नहीं हो सकते।' अर्थात् मूलगुणों को जीव की सम्यग्दर्शन के लिये योग्यतारूप कहा है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक ६६ के अनुसार 'मुनियों में उत्तम गणधरादि, मद्य त्याग, मांस त्याग और मधु त्याग के साथ पाँच अणुव्रतों को गृहस्थों के आठ मूलगुण कहते हैं।'

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के श्रावकधर्म प्रकाश के प्रवचन पृष्ठ ४५ पर आगे बतलाते हैं कि 'यहाँ श्रावक को मद्य, माँस इत्यादि का त्याग होना कहा, परन्तु यह ध्यान रखना कि पहली भूमिका में साधारण जिज्ञासु को भी मद्य, माँस, मधु, रात्रिभोजन इत्यादि तीव्र पाप के स्थानों का तो त्याग ही होता ही है और श्रावक को तो प्रतिज्ञापूर्वक-नियम से उनका त्याग होता है।'

गाथा ७४० अन्वयार्थ–'गृहस्थों को अपनी शक्ति अनुसार प्रतिमारूप से व्रत अथवा बिना प्रतिमारूप से व्रत, इस प्रकार दोनों प्रकार का संयम भी पालन करना चाहिए।' अर्थात् सर्व जनों को मात्र आत्मलक्ष्य से अर्थात् आत्म प्राप्ति के लिये संयम भी पालन करना चाहिए।

यही बात परमात्मप्रकाश-मोक्षाधिकार गाथा ६४ में इस प्रकार बतलायी है कि 'पंच परमेष्ठी को वन्दन, अपने अशुभकर्मों की निन्दा और अपराधों की प्रायश्चित्तादि (प्रतिक्रमण) विधि से निवृत्ति यह सब पुण्य का कारण है, मोक्ष का कारण नहीं; इसलिए पहली अवस्था में पाप को दूर करने के लिये ज्ञानी पुरुष यह सब करते हैं, कराते हैं और करनेवाले को अच्छा जानते हैं तो भी निर्विकल्प शुद्धोपयोग अवस्था में ज्ञानी जीव इन तीनों में से एक भी न करे, न कराये और करनेवाले को भला भी न जाने। (क्योंकि निर्विकल्प शुद्धोपयोग अवस्था में ज्ञानी जीव को कोई विकल्प ही नहीं होते)।' अर्थात् भूमिकानुसार उपदेश होता है, अन्यथा नहीं, एकान्त से नहीं।

* * *

२५

शुभोपयोग निर्जरा का कारण नहीं

पंचाध्यायी उत्तरार्ध की गाथा–

गाथा ७६२ अन्वयार्थ–'बुद्धि की मन्दता से ऐसी भी आशंका नहीं करना कि शुभोपयोग, एकदेश से भी निर्जरा का कारण होता है क्योंकि शुभ उपयोग, अशुभ को लानेवाला होने से (अर्थात् जो शुभ उपयोग में धर्म समझते हैं और शुभ उपयोग से भी निर्जरा मानते हैं ऐसा एक वर्ग जैन समाज में हैं, उन्हें यहाँ समझाया है कि स्वात्मानुभूतिरूप निश्चय सम्यग्दर्शन के बिना शुभ उपयोग नियम से आत्मा में अल्प शुभ के साथ–साथ मोहनीयादि घातिकर्मों का आस्रव भी कराता है और वह मोहनीयादि घातिकर्म नियम से जीव को दु:ख के करनेवाले हैं, अर्थात् अशुभ को लानेवाले हैं अर्थात् शुभ उपयोग जीव को संसार से मुक्त नहीं कराता ऐसा समझाना है। परन्तु यहाँ शुभ उपयोग का निषेध नहीं समझना, नहीं तो लोग स्वच्छन्द से अशुभ ही आचरण करेंगे; यहाँ उद्देश्य शुभ छुड़ाकर अशुभ में ले जाने का नहीं परन्तु निर्जरा मात्र शुद्ध उपयोग से ही होती है ऐसा बतलाना है और इसीलिए बतलाया है कि शुभ उपयोग) वह निर्जरा का हेतु नहीं हो सकता तथा न तो वह शुभ भी कहा जा सकता है।'

इसलिए शुभ उपयोग से निर्जरा नहीं समझना और इस गाथा से शुभ का निषेध भी नहीं समझना अर्थात् शुभ उपयोग वह शुद्ध उपयोग का (निर्जरा का) कारण नहीं परन्तु वह शुभ उपयोग शुभभावों का (अर्थात् वीतराग देव–गुरु–शास्त्र के संयोग का) कारण अवश्य है, इसलिए मात्र–मात्र आत्मा के लक्ष्य से अर्थात् आत्मा की प्राप्ति के लिये (सम्यग्दर्शन के लिये) जो योग्यतारूप शुभ उपयोग है, वह अपेक्षा से आचरने योग्य है, क्योंकि जीव को अशुभ उपयोग में रहने का उपदेश तो कोई भी शास्त्र देते नहीं और इसीलिए पुण्य (शुभ) को हेय समझकर स्वच्छन्द से कोई अशुभ उपयोगरूप परिणमता हो तो वह अपने अनन्त संसार को बढ़ाने का ही उपाय कर रहा है ऐसा समझना।

यहाँ शुभ उपयोग को निर्जरा का कारण माना नहीं है, क्योंकि गुणश्रेणी निर्जरा का एकमात्र कारण शुद्धोपयोग ही है, इस अपेक्षा से शुभ उपयोग (पुण्य) हेय है परन्तु कोई स्वच्छन्द से अन्यथा समझकर यदि पुण्य को हेय कहकर पापरूप परिणमेगा तो ऐसा तो किसी भी आचार्य भगवन्तों का उपदेश ही नहीं है और ऐसी अपेक्षा भी नहीं है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक १४८ में भी

बतलाया है कि 'पाप जीव का शत्रु है और धर्म जीव का मित्र है, ऐसा निश्चय करता हुआ श्रावक यदि शास्त्र को जानता है, तो वह निश्चय से श्रेष्ठ ज्ञाता अथवा कल्याण का ज्ञाता होता है।' और आत्मानुशासन गाथा ८ में भी बतलाया है कि 'पाप से दु:ख और धर्म से सुख यह बात लौकिक में भी जगत प्रसिद्ध है और सर्व समझदार मनुष्य भी ऐसा ही मानते हैं तो जो सुख के अर्थी हों, उन्हें पाप छोड़कर निरन्तर धर्म अंगीकार करना।'

इसलिए नियम से मात्र-मात्र आत्मलक्ष्य से शुभ में ही रहना योग्य है ऐसा हमारा अभिप्राय है जैसा कि इष्टोपदेश गाथा ३ में कहा है कि 'व्रतों द्वारा देवपद प्राप्त करना अच्छा है परन्तु अरे! अव्रतों द्वारा नरकपद प्राप्त करना अच्छा नहीं। जैसे छाया और धूप में बैठकर राह देखनेवाले दोनों (पुरुषों) में बड़ा अन्तर है, वैसे (व्रत और अव्रत का आचरण करनेवाले दोनों पुरुषों में बड़ा अन्तर है)।'

आगे आत्मानुशासन गाथा २३९ की टीका में भी पण्डित श्री टोडरमलजी बतलाते हैं कि 'निश्चयदृष्टि से देखने पर एक शुद्धोपयोग ही उपादेय है। शुभाशुभ सर्व विकल्प त्याज्य है तथापि ऐसी तथारूप दशा सम्पन्नता प्राप्त न हो तब तक उसी दशा की (शुद्धोपयोगरूप दशा की) प्राप्ति के लक्ष्यपूर्वक प्रशस्तयोग (शुभ उपयोगरूप) प्रवृत्ति उपादेय है अर्थात् शुभ वचन, शुभ अन्त:करण, और शुभकाया परिस्थिति आदरणीय है-प्रशंसनीय है परन्तु मोक्षमार्ग का साक्षात् कारण नहीं तथापि शुद्धोपयोग के प्रति वृत्ति का प्रवाह कुछ अंश में लक्षित हुआ है, ऐसे लक्ष्यवान जीवों को परम्परा से कारणरूप होता है।' और आत्मानुशासन गाथा २४० में भी बतलाया है कि 'प्रथम अशुभोपयोग छूटे तो उसके अभाव से पाप और तज्जनित प्रतिकूल व्याकुलतारूप दु:ख स्वयं दूर होता है और अनुक्रम से शुभ के भी छूटने से पुण्य, तथा तज्जनित अनुकूल व्याकुलता-जिसे संसार परिणामी जीव सुख कहते हैं, उसका भी अभाव होता है...' इसलिए कोई स्वच्छन्दता से अशुभ उपयोगरूप न परिणमे ऐसी हमारी प्रार्थना है क्योंकि ऐसा करने से तो आपके भव का भी ठिकाना नहीं रहेगा, जो बात अत्यन्त करुणा उपजाने योग्य है।

◆

२६

सम्यग्दर्शन बिना द्रव्य चारित्र

पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध की गाथा–

गाथा ७६९ अन्वयार्थ–'तथा जो सम्यग्दर्शन बिना द्रव्यचारित्र तथा श्रुतज्ञान होता है, वह न तो सम्यग्ज्ञान है तथा न सम्यक्‌चारित्र है, अगर है तो वह ज्ञान तथा चारित्र, मात्र कर्मबन्ध को ही करनेवाले हैं।'

अर्थात् यहाँ प्रथम बतलाये अनुसार कोई अपने को द्रव्यचारित्र से ही अथवा क्षयोपशम ज्ञान से ही हम मोक्षमार्ग में ही हैं ऐसा समझते हों और ऐसा समझाते हों तो उनके लिये लाल बत्ती समान यह गाथा है। अर्थात् किसी को भी अभ्यासरूप द्रव्यचारित्र लेने की कुछ भी मनाही नहीं है परन्तु उससे यदि कोई अपने को कृतकृत्य समझते हों अथवा समझाते हों और स्वयं को छठा अथवा सातवाँ गुणस्थानक मानते हों अथवा मनवाते हों और श्रावक अपने को पाँचवें गुणस्थानक में स्थित समझते हों अथवा समझाते हों तो उनके लिये यह गाथा लाल बत्ती समान अर्थात् सावधान करने के लिये है। इसलिए यदि कोई ऐसा न समझकर, अपने को मात्र आत्मलक्ष्य से अर्थात् आत्मप्राप्ति के लिये अभ्यासरूप चारित्र मानते, समझते हों और उसके लिये ही श्रुतज्ञान आराधते हों तो वे कर्मबन्ध के कारण से आंशिक बच सकते हैं और पूर्व में बतलाये अनुसार अपना कल्याण भी कर सकते हैं।

* * *

२७

स्वपर विषय का उपयोग करनेवाला भी आत्मज्ञानी होता है

पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध की गाथायें–

गाथा ८४५ अन्वयार्थ–'उस क्षायोपशमिक ज्ञान का विकल्पपना (अर्थात् परपदार्थ को जाननेरूप उपयोग) ज्ञान चेतना का बाधक कारण नहीं हो सकता (अर्थात् यदि कोई ऐसा मानते हों कि जीव पर को जानता है, ऐसा मानने से मिथ्यात्वी हो जाते हैं अथवा जीव पर को जानता है ऐसा मानने से सम्यग्दर्शन को बाधा होती है अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं होता, तो यहाँ समझाते हैं कि ज्ञान का पर को जानना, वह सम्यग्दर्शन के लिये बाधक कारण नहीं है) क्योंकि जिस गुण की जो पर्याय होती है, वह कथंचित् तद्रूप (उस गुणरूप) ही होती है इसलिए क्षायोपशमिक ज्ञान का विकल्प ज्ञान चेतनारूप शुद्धज्ञान का शत्रु नहीं है।'

इसलिए जब ज्ञान पर को जानता है तब वह ज्ञानगुण स्वयं ही उस आकार से होता होने पर भी वह अपना स्वत: सिद्ध अर्थात् ध्रुवरूप अर्थात् ज्ञानपना नहीं छोड़ता और इसीलिए ही उस पर को जाननेरूप ज्ञानगुण का परिणमन ज्ञान सामान्यरूप ज्ञानचेतना का (शुद्धज्ञान का) शत्रु नहीं, बाधक नहीं, ऐसा समझकर ऐसा डर हो तो अवश्य निकाल देना आवश्यक है; यही बात आगे दृढ़ कराते हैं–

गाथा ८५८ अन्वयार्थ–'ज्ञानोपयोग के स्वभाव की महिमा ही कोई ऐसी है कि वह (ज्ञानोपयोग) प्रदीप की भाँति स्व तथा पर दोनों के आकार का एक साथ प्रकाशक है।' इस गाथा में ज्ञान का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव दर्शाया है और उसे ही ज्ञान की महिमा भी बतलायी है।

गाथा ८६० अन्वयार्थ–'जो स्वात्मोपयोगी ही है, वही नियम से उपयुक्त है ऐसा नहीं (अर्थात् जो मात्र स्व उपयोगी है, वही सम्यग्दृष्टि है ऐसा नहीं) तथा जो परपदार्थोपयोगी है, वही निश्चय से उपयुक्त है ऐसा नहीं (अर्थात् जो मात्र पर को जानता है वही सम्यग्दृष्टि है, ऐसा भी नहीं) परन्तु उभय (दोनों) विषय को विषय करनेवाला ही (जाननेवाला ही) उपयुक्त अर्थात् उपयोग करनेवाला होता है –ऐसा नियम है, इस प्रकार क्रिया का अध्याहार करना चाहिए।' अर्थात् सम्यग्ज्ञान स्व-पर के ज्ञान और विवेकसहित ही होता है, अन्यथा नहीं।

भावार्थ–'मात्र स्व-विषय का या मात्र पर विषय का ही उपयोग करनेवाला कोई

उपयोगवाला होता है ऐसा नहीं, परन्तु स्व–पर विषय का उपयोग करनेवाला भी आत्मज्ञानी होता है।'

इसलिए जीव पर को जानता है, ऐसा मानने से मिथ्यात्वी हो जाते हैं अथवा जीव पर को जानता है ऐसा मानने से सम्यग्दर्शन को बाधा आती है अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं होता ऐसा कोई डर हो तो छोड़ देना और उल्टा ज्ञान (आत्मा) पर को जानता है ऐसा कहने–मानने में कुछ भी दिक्कत नहीं क्योंकि वही ज्ञान की पहिचान है। अन्यथा तो वह ज्ञान ही नहीं है।

गाथा ८७७ अन्वयार्थ–'रागादि भावों के साथ बन्ध की व्याप्ति है परन्तु ज्ञान के विकल्पों के साथ बन्ध की व्याप्ति नहीं (अर्थात् आत्मा पर को जाने तो उससे कुछ बन्ध ही नहीं, मात्र वह=आत्मा उसमें राग–द्वेष करे, उससे ही बन्ध होता है, और इसलिए मात्र पर का जानना अथवा जानने में आना, उसमें बन्ध की व्याप्ति नहीं अर्थात् उससे कुछ भी बन्ध नहीं) अर्थात् ज्ञान विकल्पों के साथ इस बन्ध की अव्याप्ति ही है परन्तु रागादिकों के साथ जैसी बन्ध की व्याप्ति है, वैसी ज्ञानविकल्पों के साथ व्याप्ति नहीं।'

इसलिए आत्मा वास्तव में अपने ज्ञान में रचित आकारों को ही जानता है पर को नहीं जानता (आँख की कीकी की तरह) ऐसी ज्ञान की व्यवस्था होने पर भी, अर्थात् आत्मा परसम्बन्धी के अपने ज्ञेयाकारों को ही जानता है और वैसा पर का जानना किसी भी प्रकार से सम्यग्दर्शन में बाधक नहीं है तथा वैसा पर का जानना किसी भी प्रकार से बन्ध का कारण नहीं है; अपितु वह अपेक्षा से स्व में जाने की सीढ़ी अवश्य है कि जो बात पूर्व में हमने विस्तार से समझायी ही है क्योंकि स्थूल से ही सूक्ष्म में जाया जाता है अर्थात् प्रगट से ही अप्रगट में जाया जाता है अर्थात् व्यक्त से ही अव्यक्त में जाया जाता है यही नियम है।

❦

२८

प्रवचनसार-अनुसार सम्यग्दर्शन का विषय

गाथा ३३ टीका-'जैसे भगवान, युगपत् परिणमते समस्त चैतन्य विशेषोंवाले केवलज्ञान द्वारा, अनादिनिधन-निष्कारण-असाधारण-स्वसंवेद्यमान-चैतन्य सामान्य जिसकी महिमा है तथा चेतक स्वभाव द्वारा एकपना होने से जो केवल (अकेला, अमिश्रित, शुद्ध, अखण्ड) है...'

ऐसा है सम्यग्दर्शन का विषय और वह चैतन्य सामान्य होने से अर्थात् उसमें सर्व विशेषभावों का अभाव होने से ही शुद्धात्मा को=दृष्टि के विषय को अलिंगग्राह्य कहा है अर्थात् इसी अपेक्षा से अलिंगग्रहण के बोल समझना आवश्यक है, अन्यथा नहीं अर्थात् एकान्त से नहीं क्योंकि एकान्त तो अनन्त परावर्तन का कारण होने में सक्षम है।

गाथा ८० भावार्थ-''अरिहन्त भगवान और अपना आत्मा निश्चय से समान है; और अरिहन्त भगवान मोह-राग-द्वेषरहित होने के कारण उनका स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट है, इसलिए यदि जीव द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से उन (अरिहन्त भगवान के) स्वरूप को मन द्वारा प्रथम समझ ले तो 'यह जो 'आत्मा' 'आत्मा' ऐसा एकरूप (कथंचित् सदृश) त्रिकालिक प्रवाह वह द्रव्य है, उसका जो एकरूप रहनेवाला चैतन्यरूप विशेषण वह गुण है, और उस प्रवाह में जो क्षणवर्ती व्यतिरेक, वह पर्याय है।' ऐसा अपना आत्मा भी द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से उसे मन द्वारा ख्याल में आता है। इस प्रकार त्रिकालिक निज आत्मा को मन द्वारा ख्याल में लेकर पश्चात्-जैसे मोतियों को और सफेदी को हार में ही अन्तर्गत करके केवल हार को जानने में आता है, वैसे-आत्मपर्यायों को और चैतन्यगुण को आत्मा में ही अन्तरगर्भित करके (सम्यग्दर्शन का विषय) केवल आत्मा को जानने पर परिणामी-परिणाम-परिणति के भेद का विकल्प नष्ट होता जाने से जीव निष्क्रिय चिन्मात्रभाव को (शुद्धोपयोग) प्राप्त करता है और इससे मोह (दर्शनमोह) निराश्रय होता हुआ विनाश को प्राप्त होता है।

यदि ऐसा है, तो मोह की सेना पर विजय प्राप्त करने का उपाय मैंने प्राप्त किया है''-ऐसा कहा, अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त किया।

श्लोक ७ -'जिसने अन्य द्रव्य से भिन्नता द्वारा (प्रथम भेदज्ञान) आत्मा को एक ओर हटा लिया है (अर्थात् परद्रव्य से अलग दिखाया है) तथा जिसने समस्त विशेषों के समूह को सामान्य में मग्न किया है (द्वितीय भेदज्ञान) (अर्थात् समस्त पर्यायों को द्रव्य के भीतर डूबा हुआ

दिखाया है)–ऐसा जो यह उद्धत मोह की लक्ष्मी को (रिद्धि को, शोभा को) लूट लेनेवाला शुद्धनय (अर्थात् शुद्धोपयोग, अर्थात् सम्यग्दर्शन=स्वात्मानुभूति) उसने उत्कट विवेक द्वारा तत्व को (आत्मस्वरूप) को विविक्त (प्रगट) किया है।' अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है।

गाथा २४० टीका–'जो पुरुष अनेकान्त केतन (अनेकान्तयुक्त) आगम ज्ञान के बल से, सकल पदार्थों के ज्ञेयाकारों के साथ मिश्रित होता हुआ विशद एक ज्ञान (ज्ञेयाकार अर्थात् ज्ञानाकार जो कि ज्ञान के ही बने हुए होने से उन आकारों को गौण करते ही ज्ञान सामान्यमात्र 'शुद्धात्मा' जो कि सम्यग्दर्शन का विषय है, वही प्राप्त होता है।) जिसका आकार है, ऐसे आत्मा को ('शुद्धात्मा' को) श्रद्धान और अनुभव करता हुआ (अर्थात् श्रद्धा और अनुभव का विषय एक ही है), आत्मा में ही नित्य निश्चल वृत्ति को इच्छता हुआ....' यहाँ सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की विधि बतलायी है।

◆

२९

नियमसार–अनुसार सम्यग्दर्शन का विषय

अब हम श्री नियमसार शास्त्र से जानेंगे कि सम्यग्दर्शन का विषय क्या है और सम्यग्दृष्टि किसका वेदन करता है? वह किन भावों में रक्त होता है? इत्यादि

श्लोक २२–'सहज ज्ञानरूपी साम्राज्य जिसका सर्वस्व है ऐसा शुद्ध चैतन्यमय अपने आत्मा को जानकर (अर्थात् शुद्धद्रव्यार्थिकनय से अपने को शुद्धात्मा जानकर) मैं यह निर्विकल्प होऊँ' अर्थात् शुद्ध चैतन्यमय आत्मा, वही सम्यग्दर्शन का विषय है क्योंकि उसे भाते ही जीव निर्विकल्प होता है।

श्लोक २३–'दृशि ज्ञप्ति वृत्तिस्वरूप (दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप परिणमित) ऐसा जो एक ही चैतन्य सामान्यरूप (अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के विषयरूप मात्र सामान्य जीव–शुद्धात्मा–परमपारिणामिकभाव) निज आत्मतत्त्व, वह मोक्षेच्छुकों को (मोक्ष का) प्रसिद्ध मार्ग है; इस मार्ग के बिना मोक्ष नहीं है।'

अर्थात् यह सामान्य जीवमात्र की जिसे सहज परिणामी अथवा तो परमपारिणामिकभावरूप भी कहा जाता है, वह ही दृष्टि का विषय है, अर्थात् सम्यग्दर्शन का विषय है और उससे ही सम्यग्दर्शन होने पर उसे ही प्रसिद्ध मोक्ष का मार्ग कहा क्योंकि सम्यग्दर्शन से ही उस मार्ग में प्रवेश है।

श्लोक २४–'परभाव होने पर भी (अर्थात् विभावरूप औदयिकभाव होने पर भी, उन औदायिकभाव को शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से परभाव बतलाया है क्योंकि वे कर्मों अर्थात् पर की अपेक्षा से=निमित्त से होते हैं), सहज गुणमणि की खानरूप और पूर्ण ज्ञानवाले शुद्धात्मा को (परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा को) एक को जो (भेदज्ञान को करके) तीक्ष्ण बुद्धिवाला शुद्धदृष्टि (अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिक चक्षु से) पुरुष भजता है (अर्थात् उस शुद्धभाव में 'मैंपना' करता है), वह पुरुष परमश्री रूपी कामिनी का (मुक्ति सुन्दरी का) बल्लभ बनता है' अर्थात् जीव शुद्धात्मा में एकत्व करके सम्यग्दर्शन प्राप्त होने से मोक्षमार्ग में प्रवेश पाकर अवश्य मुक्ति को प्राप्त करता है।

श्लोक २५–'इस प्रकार पर गुण पर्यायें होने पर भी (अर्थात् आत्मा औदयिकभावरूप से परिणमता होने पर भी, अर्थात् आत्मा अशुद्धरूप से परिणमा होने पर भी) उत्तम पुरुषों के हृदयकमल में (अर्थात् मन में) कारण आत्मा विराजमान है (अर्थात् परमपारिणामिकभावरूप कारण परमात्मा

विराजता है–लक्ष्य में रहता है)। अपने से उत्पन्न ऐसे उस परमब्रह्मस्वरूप समयसार को–कि जिसे तू भज रहा है (अर्थात् जिसमें तू 'मैंपना' कर रहा है) उसे, हे भव्य शार्दूल! (भव्योत्तम) तू शीघ्र भज (मात्र उसी में उपयोग रख), तू वह है।'

आचार्य भगवन्त कहते हैं कि 'तू वह है' अर्थात् तू मात्र उसमें ही 'मैंपना' (एकत्व) कर, कि जो सम्यग्दर्शन का विषय है और उसका ही अनुभव होने से सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है, इसलिए कहते हैं कि तू वह है, यही सम्यग्दर्शन की विधि है।

श्लोक २६–'जीवत्व क्वचित् सद्गुणों सहित विलसता है–दिखायी देता है, क्वचित् अशुद्धरूप गुणों सहित विलसता है (अर्थात् कोई जीव प्रगट गुणों सहित जानने में आता है और किसी के गुण अशुद्ध रूप से परिणमित होने से अशुद्ध भासित होता है), क्वचित् सहज पर्यायों सहित विलसता है (अर्थात् कोई कार्यसमयसाररूप परिणमित हुआ होता है) और क्वचित् अशुद्ध पर्यायों सहित विलसता है (अर्थात् कोई जीव संसार में अशुद्ध पर्यायोंसहित परिणमित हुए ज्ञात होते हैं)। इन सबसे सहित होने पर भी (अर्थात् कोई प्रगट भाव शुद्धरूप से है अथवा कोई प्रगटभाव अशुद्धरूप होने पर भी) जो इन सबसे रहित है (अर्थात् जो शुद्ध, अशुद्ध भावोंरूप बताये हुए समस्त विशेष भावों से रहित है अर्थात् औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभावों से रहित है) ऐसे इस जीवत्व को (अर्थात् परमपारिणामिकभावरूप परिणमते शुद्धात्मरूप कारणसमयसार को–कारण शुद्धपर्याय को) में सकल अर्थ की सिद्धि के लिये सदा नमता हूँ, भाता हूँ।' क्योंकि वह सम्यग्दर्शन का विषय है और इसीलिए उस भाव में ही 'मैंपना' करने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है कि जिससे मोक्ष यात्रा का प्रारम्भ होता है और काल से मोक्ष होते ही सकल अर्थ की सिद्धि होती है, ऐसा भाव इस गाथा में व्यक्त किया है।

श्लोक ३०–'सकल मोहरागद्वेषवाला जो कोई पुरुष परम गुरु के चरणकमलयुगल की सेवा के प्रसाद से (अर्थात् परम गुरु से तत्त्व समझकर)–निर्विकल्प सहज समयसार को (अर्थात् परम पारिणामिकभावरूप कारणसयसार को) जानता है, वह पुरुष परमश्रीरूपी सुन्दरी का प्रियकान्त होता है।' अर्थात् इस काल में इस निर्विकल्प सहज समयसार को जाननेवालों को परम गुरु कहा है, क्योंकि इस काल में सम्यग्दर्शनयुक्त जीव बहुत ही अल्प होते हैं और ऐसे परम गुरु के कहे अनुसार निर्विकल्प सहजसमयसार को जो जानता है अर्थात् अनुभव करता है, वह सम्यग्दर्शनयुक्त होकर नियम से मुक्त होता है।

श्लोक ३४–'(हमारे आत्मस्वभाव में) विभाव असत् होने से (अर्थात् अभी भले हमारे

आत्मा में औदयिकभावरूप विभाव हो, परन्तु वह क्षणिक है, वह तीनों काल रहनेवाला नहीं है, इसलिए असत् है) उसकी हमें चिन्ता नहीं है, हम तो हृदयकमल में स्थित (अर्थात् मन में जो शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के विषयरूप सहज समयसाररूप मेरा स्वरूप है, उसमें स्थित), सर्व कर्म से विमुक्त, शुद्ध आत्मा का एक का सतत अनुभवन करते हैं, क्योंकि अन्य किसी प्रकार से मुक्ति नहीं है, नहीं है, नहीं ही है।' अर्थात् अन्य कोई भाव उपादेय नहीं, अन्य कोई भाव भजने योग्य नहीं; एकमात्र शुद्धात्मा को भजते ही, अनुभव करते ही और उसमें ही स्थिरता करते ही, मुक्ति सहज ही है। अन्य किसी प्रकार से नहीं, नहीं, नहीं ही है (वजन देने के लिये तीन बार 'नहीं' कहा है।)

गाथा १९ अन्वयार्थ–'द्रव्यार्थिकनय से जीव पूर्व कथित पर्यायों से व्यतिरिक्त (रहित) है; पर्यायनय से जीव उस पर्याय से संयुक्त है, इस प्रकार जीव दोनों नयों से संयुक्त है।'

अर्थात् एक ही संसारी जीव को देखने की=अनुभव करने की दृष्टिभेद से भेद है, उस जीव में कोई भाग शुद्ध अथवा कोई भाग अशुद्ध–ऐसा नहीं है परन्तु अपेक्षा से अर्थात् द्रव्यदृष्टि से अथवा पर्यायदृष्टि से वही जीव अनुक्रम से शुद्ध अथवा अशुद्ध भासित होता है; इसलिए यदि कुछ करना हो तो, वह मात्र दृष्टि बदलनी है, अन्य कुछ नहीं।

श्लोक ३६–'जो दो नयों के सम्बन्ध का उल्लंघन न करते हुए (अर्थात् कोई भी बात अपेक्षा से समझनेवाले अर्थात् एकान्त से शुद्ध अथवा एकान्त से अशुद्ध कहनेवाले–माननेवाले, वे दोनों मिथ्यात्वी हैं जबकि अपेक्षा से शुद्ध और अपेक्षा से अशुद्ध माननेवाले–कहनेवाले नयों के सम्बन्ध को नहीं उल्लंघते हुए जीव समझना) परम जिन के पादपंकजयुगल में मत्त हुए भ्रमर समान है (अर्थात् ऐसे जीव परम जिनरूप ऐसे अपने शुद्धात्मा में–परमपारिणामिकभाव में–कारणसमयसार में–कारणशुद्धपर्याय में मत्त हैं) ऐसे जो सत्पुरुष वे शीघ्र समयसार को (कार्यसमयसार को) अवश्य प्राप्त करते हैं। पृथ्वी पर मत के कथन से सज्जनों को क्या काम है (अर्थात् जगत के जैनेतर दर्शनों के मिथ्या कथनों से सज्जनों को क्या लाभ है?)' अर्थात् जो कोई दर्शन इस शुद्धात्मरूप कारणसमयसार को अन्य किसी प्रकार से अर्थात् एकान्त से शुद्ध समझता है अथवा एकान्त से अशुद्ध समझता है, वह भी जैनेतर दर्शन ही है अर्थात् मिथ्यादर्शन ही है।

* * *

३०

ध्यान के विषय में

अब हम थोड़ा सा ध्यान के विषय में समझकर आगे बढ़ेंगे। कोई भी वस्तु–व्यक्ति–परिस्थिति आदि पर मन का एकाग्रतापूर्वक का चिन्तवन ध्यान कहलाता है। हमने अभी तक देखा कि मन का सम्यग्दर्शन में बहुत ही महत्त्व है, जैसे कि समाधितन्त्र गाथा ३५ में बतलाया है कि 'जिसका मनरूपी जल राग–द्वेषादि तरंगों से चंचल नहीं होता, वह आत्मा के यथार्थस्वरूप को देखता है–अनुभव करता है, उस आत्मतत्त्व को दूसरा मनुष्य–रागद्वेषादि से आकुलित चित्तवाला (मनवाला) मनुष्य देख नहीं सकता।' अर्थात् सम्यग्दर्शन का विषय, वह भी मन से ही चिन्तवन होता है और अतीन्द्रिय स्वानुभूति के काल में भी वह भाव मन ही अतीन्द्रियज्ञानरूप परिणमता है।

इसीलिए मन किस विषय पर चिन्तवन करता है अथवा मन किन विषयों में एकाग्रता करता है, उस पर ही बन्ध और मोक्ष का आधार है। जैसा कि परमात्मप्रकाश–मोक्षाधिकार गाथा १४० में बतलाया है कि 'पाँच इन्द्रियों के स्वामी मन को तुम वश में करो, उस मन के वश होने से वे पाँच इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं। जैसे कि वृक्ष के मूल का नाश होने पर पत्र नियम से सूख जाते हैं।' अर्थात् मन ही बन्ध का कारण है और मन ही मुक्ति का कारण है।

यह बात किसी को एकान्त से नहीं समझना, यह बात अपेक्षा से कहने में आयी है, क्योंकि जो मन है, वही सम्यग्दर्शन का निमित्त कारण है और बन्ध का भी निमित्त कारण है, इस अपेक्षा से विवेकपूर्वक यह बात कहने में आयी है। जैसा कि परमात्मप्रकाश–मोक्षाधिकार गाथा १५७ में बतलाया है कि 'जिन्होंने मन को शीघ्र ही वश में करके अपने आत्मा को परमात्मा में नहीं मिलाया (अर्थात् स्वात्मानुभूति नहीं की), हे शिष्य! जिनकी ऐसी शक्ति नहीं, वह योग से क्या कर सकेगा? (अर्थात् ऐसे जीव अध्यात्मयोग से स्वात्मानुभूतिरूप लाभ नहीं ले सकते)' इस प्रकार मोक्षमार्ग में मन का अत्यन्त ही महत्त्व होने से बहुत ग्रन्थों में ध्यान के विषय में बहुत अधिक बतलाया गया है, परन्तु यहाँ उसका मात्र थोड़ा सा उल्लेख करके हम आगे बढ़ेंगे।

ध्यान शुभ, अशुभ और शुद्धरूप तीन प्रकार से होता है, उसके चार प्रकार हैं – आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान; इन चार प्रकारों के भी अन्तर प्रकार हैं। मिथ्यात्वी जीवों को आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान नामक दो अशुभध्यान सहज ही होते हैं क्योंकि वैसे ही ध्यान के, उन्हें अनादि के संस्कार हैं, तथापि वे प्रयत्नपूर्वक मन को अशुभ में जाने से रोक सकते हैं। उस

मन को अशुभ में जाने से रोकने की ऐसी विधियाँ हैं, जैसे कि-आत्मलक्ष्य से शास्त्रों का अभ्यास, आत्मस्वरूप का चिन्तवन, छह द्रव्यों रूप लोक का चिन्तवन, नव तत्त्वों का चिन्तवन, भगवान की आज्ञा का चिन्तवन, कर्म-विपाक का चिन्तवन, कर्म की विचित्रता का चिन्तवन, लोक के स्वरूप का चिन्तवन इत्यादि वह कर सकता है। ऐसा मिथ्यात्वी जीवों का ध्यान भी शुभरूप धर्मध्यान कहलाता है, नहीं कि शुद्धरूप धर्मध्यान; इसलिए उसे अपूर्व निर्जरा का कारण नहीं माना है क्योंकि अपूर्व निर्जरा के लिये वह ध्यान सम्यग्दर्शनसहित होना आवश्यक है अर्थात् शुद्धरूप धर्मध्यान होना आवश्यक है। सम्यग्दृष्टि को इसके उपरान्त शुद्धात्मा का ध्यान मुख्य होता है कि जिससे वह गुणश्रेणी निर्जरा द्वारा गुणस्थानक आरोहण करते-करते आगे शुक्लध्यानरूप अग्नि से सर्वघाती कर्मों का नाश करके केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करता है और क्रम से सिद्धत्व को पाता है।

धर्मध्यान के अन्तर प्रकारोंरूप समस्त ध्यान के प्रकार में आत्मा ही केन्द्र में है, जिससे कोई भी सम्यक् ध्यान उसे ही कहा जाता है कि जिसमें आत्मा ही केन्द्र में हो और आत्मप्राप्ति ही उसका लक्ष्य हो। बहुत से ऐसा मानते हैं कि आत्मज्ञान अर्थात् सम्यग्दर्शन ध्यान के बिना होता ही नहीं तो उन्हें हम कहते हैं कि वास्तव में सम्यग्दर्शन भेदज्ञान के बिना होता ही नहीं, ध्यान के बिना तो होता है। इसलिए सम्यग्दर्शन के लिए आवश्यकता वह ध्यान नहीं परन्तु शास्त्रों से भलीभाँति निर्णय किये हुए तत्त्व का ज्ञान और सम्यग्दर्शन के विषय का ज्ञान तथा वह ज्ञान होने के बाद यथार्थ भेदज्ञान होने से ही परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा में 'मैंपना' होने से (सोहऽम होने से) ही स्वात्मानुभूतिपूर्वक सम्यग्दर्शन प्रगट होता है; इसलिए आग्रह ध्यान का नहीं परन्तु यथार्थ तत्त्वनिर्णय का रखना आवश्यक है और वही करने योग्य है।

अन्यमति के ध्यान, जैसे कि-कोई एक बिन्दु पर एकाग्रता करावे, तो कोई श्वासोच्छ्वास पर एकाग्रता करावे अथवा तो अन्य किसी प्रकार से, परन्तु जिससे देहाध्यास ही दृढ़ होता हो ऐसे कोई भी ध्यान वास्तव में तो आर्त्तध्यानरूप ही है। ऐसे ध्यान से मन को थोड़ी सी शान्ति मिलती होने से लोग ठगा जाते हैं और उसे ही सच्चा ध्यान मानने लगते हैं। दूसरा श्वासोच्छ्वास देखने से और उसका अच्छा अभ्यास हो, उसे कषाय का उद्भव हो, उसका ज्ञान होने पर भी, स्वयं कौन है, इसका स्वात्मानुभूतिपूर्वक का ज्ञान नहीं होने से, ऐसे समस्त ही ध्यान आर्त्तध्यानरूप ही परिणमते हैं। उस आर्त्तध्यान का फल है तिर्यंच गति, जबकि क्रोध, मान, माया-कपटरूप ध्यान, वह रौद्रध्यान है और उसका फल है नरकगति; धर्मध्यान के अन्तर प्रकारों में आत्मा ही केन्द्र में होने से ही उसे सम्यक्ध्यान कहा जाता है।

मन को जाँच करने के लिये, स्वयं को क्या रुचता है? यह जाँच करना, यह है आत्म प्राप्ति का थर्मामीटर–बेरोमीटर। इस प्रश्न का उत्तर चिन्तवन करना, जब तक उत्तर में कुछ भी सांसारिक इच्छा/आकांक्षा हो, वहाँ तक अपनी गति संसार की ओर समझना और जब उत्तर–एकमात्र आत्मप्राप्ति, ऐसा हो तो समझना कि आपके संसार का किनारा बहुत निकट आ गया है; इसलिए उसके लिए पुरुषार्थ बढ़ाना।

◆

३१

साधक को सलाह

साधक आत्मा को सर्व प्रथम तो अपना लक्ष्य दुनिया से हटाकर 'मैं और कर्म' इतना जरूर समझ लेना आवश्यक है क्योंकि अनादि से जो मेरा परिभ्रमण चलता है, वह कर्मों के कारण ही है। वे कर्म कहीं मात्र पुद्‍गलरूप नहीं, वे कर्म अर्थात् मेरे ही पूर्व में किये गये भाव हैं, कि जिनके निमित्त से ये पुद्‍गल कर्मरूप परिणमित हुए हैं। इसलिए समझना यह है कि मुझे यदि किसी ने सबसे अधिक दुःखी किया हो तो वह मात्र और मात्र 'मैं' ही हूँ अर्थात् वह मात्र मेरे ही पूर्व में किये हुए भाव हैं, कि जिनके निमित्त से, पुद्‍गल कर्मरूप हुए और उन पुद्‍गलरूप कर्मों का उदय होने से ही मैं उनके निमित्त से परिणमनकर दुःखी हुआ।

यदि व्यवस्था ऐसी ही होवे तो मैं ऐसा कैसे विचार कर सकता हूँ कि किसी अन्य व्यक्ति ने मुझे दुःखी किया है अथवा मेरा अहित किया है, क्योंकि ऐसा विचारने से ही उस व्यक्ति के साथ के सांकलरूप सम्बन्ध में एक नयी कड़ी जुड़ती है और मेरे नये कर्म बँधते हैं कि जिनके उदय के समय फिर से इसी प्रकार नये कर्म बाँधने की सम्भावना खड़ी ही रहेगी, ऐसे अनुबन्ध को ही अनन्तानुबन्धी कषाय कहा जाता है।

दूसरों का दोष देखने से आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान होता है, वह न हो इसके लिये साधक जीव को दुःख के काल में ऐसा विचारना कि 'अहो! मैंने ऐसा दुष्कृत्य पूर्व में किया था! तो उसके लिये मेरा मिच्छामि दुक्कडम् (यह है प्रतिक्रमण) उसके लिये मैं पश्चात्पूर्वक मेरी निन्दा करता हूँ और अब मैं भविष्य में ऐसे भाव कभी भी नहीं करूँ ऐसी प्रतिज्ञा (प्रत्याख्यान) करता हूँ (यह है प्रत्याख्यान) और जो व्यक्ति मुझे मेरे ऐसे भावों से (कर्मों से) छुड़ाने में निमित्त हुए हैं, वे मेरे परम उपकारी हैं, इसलिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।' ऐसा विचारने से उस व्यक्ति के प्रति नहीं रोष आयेगा या नहीं अभाव आयेगा। आयेगी तो मात्र कृतज्ञता आयेगी। और मैं आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान से बचकर शुभभावरूप धर्मध्यान में स्थित रहने से एक तो उस व्यक्ति के साथ की सांकल टूट जायेगी (वैर छूट जायेगा) और नये दुःखदायक कर्मों का बन्ध रूक जायेगा। इसलिए मुमुक्षु जीव को ऐसा ही विचारना चाहिए और स्वयं को तथा सबको मात्र शुद्धात्मा देखनेरूप (जैसा पूर्व अपेक्षा से समझाया है वैसा, एकान्त नहीं) भाव में रहकर तत्त्व का निर्णय और सम्यग्दर्शन ही करनेयोग्य है।

यहाँ कोई कहे कि आप तो शुभ की बात कर रहे हो? उन्हें हम कहते हैं कि कोई भी जीव निरन्तर कोई न कोई (शुभ अथवा अशुभ) ध्यान/भाव करके अनन्तानन्त कर्म से बँध ही रहा है और यदि वह प्रयत्नपूर्वक आत्मलक्ष्य से शुभ में नहीं रहे तो नियम से अशुभ में ही रहेगा कि जिसका फल नरकगति तथा अनन्त काल की तिर्यंच गति है; जबकि एकमात्र आत्मलक्ष्य से जो जीव शुभ में प्रयत्नपूर्वक रहता है, उसे मनुष्यगति, देव-शास्त्र-गुरु तथा केवली प्ररूपित जिनधर्म इत्यादि मिलने की सम्भावनायें खड़ी रहती हैं और उसके कल्याण के दरवाजे खुले रहते हैं और इसीलिए अर्थात् इसी अपेक्षा से हम आत्मलक्ष्य से शुभ में रहने को कहते हैं, परन्तु उसमें एकमात्र लक्ष्य आत्मप्राप्ति ही होना चाहिए, अन्यथा शुभभाव भी अशुभभाव की तरह ही जीव को बाँधता है और अनन्त संसार में भटकाता है, अनन्त दुःखों का कारण बनता है।

कोई ऐसा माने कि मुमुक्षु जीव को योग्यता उसके काल में हो जायेगी, उसके लिये प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है; तो उनसे हम प्रश्न करते हैं कि आप जीवन में पैसा, प्रतिष्ठा, परिवार इत्यादि के लिये प्रयत्न करते हो? या फिर आप कहते हो कि वे उनके काल में आ जायेंगे, बोलो आ जायेंगे? तो उत्तर अपेक्षित ही मिलता है कि हम उनके लिये प्रयत्न करते हैं। तो हम प्रश्न करते हैं कि जो वस्तु अथवा संयोग कर्म अनुसार अपने आप आकर मिलनेवाले हैं, उनके लिये आप बहुत ही प्रयत्न करते हो, परन्तु जो आत्मा के घर का है, ऐसा पुरुषार्थ अर्थात् प्रयत्नपूर्वक आत्मा के उद्धार के लिये ऊपर बतलाया हुआ तथा; अन्य आचरण जीवन में करने में उपेक्षा सेवन करते हो, तो आप जैन सिद्धान्त की अपेक्षा न समझकर उन्हें अन्यथा ही समझे हो, ऐसा ही कहना पड़ेगा, क्योंकि जैन सिद्धान्तानुसार कोई भी कार्य होने के लिये पाँच समवाय का होना आवश्यक है और उनमें आत्मस्वभाव में पुरुषार्थ, वह उपादान कारण होने से, यदि आप उसकी उपेक्षा करके मात्र निमित्त की राह देखकर बैठे रहोगे अथवा नियति के समक्ष देखकर बैठे रहोगे तो आत्मप्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है। इसलिए मुमुक्षु जीव को अपना पुरुषार्थ अधिक में अधिक आत्मधर्म क्षेत्र में प्रवर्तन करना आवश्यक है और थोड़ा सा (अल्प) ही काल जीवन की आवश्यकताओं को अर्जित करने में डालना, यह प्रथम आवश्यकता है।

जैसे आत्मानुशासन गाथा ७८ में बतलाया है कि 'हे जीव! आत्मकल्याण के लिये कुछ यत्न कर! कर! क्यों षठ होकर प्रमादी बन रहा है? जब वह काल अपनी तीव्र गति से आ पहुँचेगा तब यत्न करने पर भी वह रुकेगा नहीं ऐसा तू निश्चय समझ। कब, कहाँ से और किस प्रकार वह काल अचानक आ चढ़ेगा, इसकी भी किसी को खबर नहीं है। वह दुष्ट यमराज, जीव को

कुछ भी सूचना पहुँचाये बिना अचानक हमला करता है, उसका कुछ तो ख्याल कर। काल की अप्रहत अरोक गति के समक्ष मंत्र तंत्र औषधादि सर्व साधन व्यर्थ हैं।' अर्थात् आत्मकल्याण के लिये ही सर्व पुरुषार्थ आदरना।

आगे आत्मानुशासन गाथा १९६ में भी बतलाया है कि 'अहो! जगत के मूर्ख जीवों को क्या कठिन है? वे जो अनर्थ करें, उसका आश्चर्य नहीं, परन्तु न करे वही वास्तव में आश्चर्य। शरीर को प्रतिदिन पोसते हैं, साथ ही साथ विषयों को भी वे सेवन करते हैं। उन मूर्ख जीवों को कुछ भी विवेक नहीं कि विषपान करके अमरत्व चाहते हैं! सुख चाहते हैं! अविवेकी जीवों को कुछ भी विवेक या पाप का भय नहीं है तथा विचार भी नहीं है....'

हम जब पाप-त्याग के विषय में बतलाते हैं, तब कोई ऐसा पूछता है कि रात्रिभोजन त्याग इत्यादि व्रत अथवा प्रतिमायें तो सम्यग्दर्शन के बाद ही होते हैं तो हमें उस रात्रिभोजन का क्या दोष लगेगा? तो उन्हें हमारा उत्तर होता है कि-रात्रिभोजन का दोष सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि को अधिक ही लगता है क्योंकि मिथ्यादृष्टि उसे रच-पचकर सेवन करता होता है जबकि सम्यग्दृष्टि को तो आवश्यक न हो, अनिवार्यता न हो तो ऐसे दोषों का सेवन ही नहीं करता और यदि किसी काल में ऐसे दोषों का सेवन करता है तो भी भीरुभाव से और रोग की औषध के रूप में करता है, नहीं कि आनन्द से अथवा स्वच्छन्द से, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव को तो भोजन करना पड़ता है वह भी मजबूरीरूप लगता है, रोगरूप लगता है और उससे शीघ्र छुटकारा ही चाहता है।

इसलिए किसी भी प्रकार का छल किसी को धर्म शास्त्रों में से ग्रहण नहीं करना, क्योंकि धर्मशास्त्रों में प्रत्येक बात अपेक्षा से होती है, इसलिए व्रत और प्रतिमायें पाँचवें गुणस्थान में कही है, उसका अर्थ ऐसा नहीं निकालना कि अन्य कोई निम्न भूमिकावाले उसे अभ्यास के लिए अथवा तो पाप से बचने के लिये ग्रहण नहीं कर सकते। बल्कि सबको अवश्य ग्रहण करने योग्य ही है, क्योंकि जिसे दु:ख प्रिय नहीं ऐसे जीव दु:ख के कारणरूप पाप किस प्रकार आचरण कर सकते हैं? अर्थात् आचरण कर ही नहीं सकते।

समझने की बात मात्र इतनी ही है कि सम्यग्दर्शन के पहले अणुव्रती अथवा तो महाव्रती, वह अपने को अनुक्रम से पाँचवें अथवा छठे-सातवें गुणस्थान में न समझकर (मानकर) मात्र आत्मार्थ (अर्थात् आत्मा की प्राप्ति के लिये) अभ्यासरूप ग्रहण किये हुए अणुव्रती अथवा महाव्रती समझना (मानना) और लोगों को भी वैसा ही बतलाना कि जिससे लोगों को ठगने का दोष भी नहीं लगे।

इसलिए शास्त्र में से किसी भी प्रकार का छल अथवा विपरीत अर्थात् ठगने की बात ग्रहण नहीं करना परन्तु उसे यथार्थ अपेक्षा से समझना प्रत्येक मुमुक्षुओं के लिये अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि प्रत्येक शास्त्र में स्पष्ट कहने में आया है कि गिरने का अर्थात् निचली श्रेणी में जाने का तो कोई उपदेश दे ही नहीं न? उपदेश तो मात्र ऊपर चढ़ने के लिए ही है अर्थात् कोई पहले गुणस्थानवाला व्रती हो तो उसे व्रत छोड़ना नहीं बतलाया परन्तु उसे अनुकूल गुणस्थान प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित किया है; उसे अन्यथा ग्रहण करके व्रत-प्रत्याख्यान छोड़ देना नहीं, वह तो महा अनर्थ का कारण है। तो ऐसा तो कोई आचार्य भगवन्त उपदेश देते ही नहीं न? अर्थात् कोई देते ही नहीं परन्तु यह तो मात्र वर्तमान काल के मानवों की वक्रता ही है कि वे उसे विपरीतरूप से ग्रहण करते हैं, इसी प्रकार अनादि से हम धर्म को विपरीतरूप से ग्रहण करते आये हैं और इसीलिए अनादि से भटक रहे हैं।

अब तो बस होओ! बस होओ! ऐसी विपरीत प्ररूपणा। जैसे कि पुरुषार्थसिद्धि-उपाय गाथा ५० में भी कहा है कि 'जो जीव यथार्थ निश्चयस्वरूप को जाने बिना (अर्थात् सम्यग्दर्शन को प्राप्त किये बिना) उसे ही (अर्थात् उसे ही मात्र शब्दरूप से ग्रहण करके) निश्चय श्रद्धा से अंगीकार करता है, वह मूर्ख बाह्य क्रिया में आलसी है और बाह्य क्रियारूप आचरण का नाश करता है।'

बहुत साधकों को प्रश्न होता है कि हमें तत्त्व का अभ्यास होने पर भी आत्मा का अनुभव क्यों नहीं होता? अर्थात् सम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता? उन्हें हमारा उत्तर है कि जैसे योग्य कारण दिये बिना कोई भी कार्य नहीं होता, वैसे वैराग्य आये बिना अर्थात् भवरोग से त्रास लगे बिना, सुख की आकांक्षा छोड़े बिना, किसी भी नय का पक्ष अथवा साम्प्रदायिक मान्यता का आग्रह छोड़े बिना और तत्त्व को विपरीतरूप से ग्रहण करके स्वात्मानुभूति अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त होना अति विकट है; इसलिए सर्व साधकों को हमारा निवेदन है कि आप योग्य कारण दो अर्थात् वैराग्यरूप योग्यता पकाओ और पक्ष-आग्रह छोड़कर तत्त्व का यथार्थ निर्णय करोगे तो सम्यग्दर्शनरूप कार्य अवश्य होगा ही, ऐसा हमारा अभिप्राय है।

दूसरा, बहुत साधकों का प्रश्न होता है कि आपको आत्मा का अनुभव हुआ तब क्या हुआ? अर्थात् आत्मा के अनुभव के काल में क्या होता है? उन्हें हमारा उत्तर है कि स्वात्मानुभूति के काल में शरीर से भिन्न ऐसा सिद्ध सदृश आत्मा का अनुभव होता है, जिसमें शरीर का किसी भी प्रकार का अनुभव नहीं होता, जैसे कि - बहुत साधक हमको प्रश्न करते हैं कि हमें प्रकाशमय आत्मा का अनुभव हुआ अथवा कोई कहते हैं कि हम एकदम हल्के फूल जैसे हो गये हों, ऐसा

अनुभव हुआ अथवा कोई कहते हैं कि हम रोमांचित हो गये, इत्यादि। तो ऐसे साधकों को हम बतलाते हैं कि ऐसे भ्रमों से ठगानेयोग्य नहीं है, क्योंकि स्वात्मानुभूति के काल में शरीर का किसी भी प्रकार का अनुभव होता ही नहीं, मात्र सिद्ध सदृश आत्मा का ही अनुभव होता है अर्थात् आंशिक सिद्ध सदृश आनन्द का अनुभव होता है अर्थात् आंशिक सिद्धत्व का ही अनुभव होता है और फिर आत्मा के सन्दर्भ में कोई भी प्रश्न रहता ही नहीं। इतना स्पष्ट अनुभव होता है। अर्थात् स्वात्मानुभूति के बाद शरीर से भेदज्ञान वर्तता होता है। दृष्टान्तरूप से-स्वात्मानुभूति के बाद आप दर्पण के सामने जब भी जाओ तब आप कोई त्राहित व्यक्ति को निहारते हों ऐसा भाव आता है।

सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के बाद, प्रवचनसार गाथा २०२ के अनुसार, सम्यग्दृष्टि जीव का विकास क्रम ऐसा होता है - 'सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूप को जानता है, अनुभव करता है, अन्य समस्त व्यवहारभावों से अपने को भिन्न जानता है। जबसे उसे स्व-पर के विवेकरूप भेदविज्ञान प्रगट हुआ था, तब से ही वह सकल विभावभावों का त्याग कर चुका है और तब से ही उसने टंकोत्कीर्ण निजभाव अंगीकार किया है। इसलिए उसे नहीं कुछ भी त्यागना रहा अथवा नहीं कुछ ग्रहण करना-अंगीकार करना रहा। स्वभावदृष्टि की अपेक्षा से ऐसा होने पर भी, पर्याय में वह पूर्वबद्ध कर्मों के उदय के निमित्त से अनेक प्रकार के विभावभावों रूप से परिणमता है। वह विभाव परिणति नहीं छूटती देखकर वह आकुल-व्याकुल भी नहीं होता तथा समस्त विभाव परिणति को टालने का पुरुषार्थ किये बिना भी नहीं रहता। सकल विभाव परिणतिरहित स्वभाव दृष्टि के जोररूप पुरुषार्थ से गुणस्थानों की परिपाटी के सामान्य क्रम अनुसार उसे पहिले अशुभ परिणति की हानि होती है और फिर धीमे-धीमे शुभ परिणति भी छूटती जाती है। ऐसा होने से उस शुभराग के उदय की भूमिका में गृहवास का और कुटुम्ब का त्यागी होकर व्यवहाररत्नत्रयरूप पंचाचारों को अंगीकार करता है। यद्यपि ज्ञानभाव से वह समस्त शुभाशुभ क्रियाओं का त्यागी है, तथापि पर्याय में शुभराग नहीं छूटता होने से वह पूर्वोक्त प्रकार से पंचाचार को ग्रहण करता है।'

जिस धर्म में (अर्थात् जैन सिद्धान्त में) 'सर्व जीव स्वभाव से सिद्धसमान ही हैं'-ऐसा कहा हो, इसलिए सर्व जीवों को अपने समान ही देखते हुए, कहीं भी वैर-विरोध को अवकाश ही कहाँ से होगा? अर्थात् विश्व मैत्री की भावना ही होती है और ऐसे धर्म में धर्म के ही नाम से वैर-विरोध और झगड़ा हो तो, उसमें समझना कि अवश्य हमने धर्म का रहस्य समझा ही नहीं है। इसलिए कहीं भी धर्म के लिये वैर, विरोध या झगड़ा न हो क्योंकि धर्म प्रत्येक की समझ अनुसार प्रत्येक को परिणमनेवाला है और इसीलिए उसमें मतभेद अवश्य रहने ही वाले हैं परन्तु

वे मतभेद को मतभेद से अधिक, कोई राग-द्वेष के कारणरूप वैर, विरोध और झगड़े का रूप देना वह, उसी धर्म के लिये मृत्यु घंट समान है।

इसलिए हम तो सबको एक ही बात बतलाते हैं कि धर्म के नाम से ऐसे वैर, विरोध और झगड़े हो तो उन्हें समाप्त कर देना और सर्व जनों को अपने मन में से भी निकाल देना, अन्यथा वे वैर, विरोध और झगड़े आपको मोक्ष तो दूर, अनन्त संसार का कारण बनेंगे। इसलिए जिसे जो वैर-विरोध हो, उसे क्षमा कर देना ही हितप्रद है और भूल जाना ही हितप्रद है और उसी में ही जिनधर्म का हित समाहित है क्योंकि ऐसा वैर-विरोध और झगड़ा भी धर्म को विपरीतरूप से ग्रहण किया है, उसका ही फल है, अन्यथा जिसने धर्म सम्यक्रूप से ग्रहण किया हो, उसके मन में वैर-विरोध उठे कैसे? अर्थात् मात्र करुणा ही जन्मे, नहीं कि वैर-विरोध अथवा झगड़ा, यह समझने की बात है और इसीलिए सर्वजनों को धर्म निमित्त के वैर, विरोध अथवा झगड़ा भूलकर सत्य धर्म का फैलाव करनेयोग्य है, ऐसा हमारा मानना है।

◆

३२

नियमसार के अनुसार सम्यग्दर्शन और ध्यान का विषय

आगे हम नियमसार की गाथायें तथा श्लोक देखेंगे कि जिसमें सम्यग्दर्शन का विषय और सम्यग्दृष्टि के ध्यान का विषय / स्थिरता का विषय बतलाया है।

गाथा ३८ अन्वयार्थ–'जीवादि बाह्यतत्त्व हेय हैं; कर्मोपाधिजनित गुणपर्यायों से व्यतिरिक्त आत्मा आत्मा को उपादेय है।' यहाँ जो जीवादि विशेषरूप (अर्थात् पर्यायरूप) तत्त्व हेय कहे हैं अर्थात् कर्मों के निमित्त से हुए जीव के विशेष भाव (अर्थात् विभाव पर्यायों) को हेयरूप बतलाया है, उसका अर्थ ऐसा है कि उन भावों में सम्यग्दर्शन के लिये 'मैंपना' नहीं करना इस अपेक्षा से वे हेयरूप हैं। जबकि वे पर्यायें (अर्थात् पूर्ण द्रव्य) में छुपे हुए सामान्यभाव अर्थात् परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा सम्यग्दर्शन का विषय होने से आत्मा को उपादेय है, उसमें ही 'मैंपना' करने योग्य है क्योंकि वह त्रिकाली शुद्धभाव है और शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के चक्षु से आत्मा मात्र उतना ही है, और वैसा ही (शुद्ध ही) है। इसलिए इस शुद्धात्मा के अतिरिक्त समस्त भाव जीव में ही होते होने पर भी, वे अन्य के लक्ष्य से होते होने से, उनमें सम्यग्दर्शन के लिये 'मैंपना' (एकत्व) करने योग्य नहीं है इसलिए इस अपेक्षा से वे जीव के भाव ही नहीं हैं, ऐसा पूर्व में बतलाया है, वही भाव आगे गाथा में दर्शाया है।

श्लोक ६० अन्वयार्थ–'सततरूप से अखण्ड ज्ञान की (अर्थात् जो ज्ञान विकल्पवाला है वह खण्ड-खण्ड है इसलिए उन ज्ञानाकारों को गौण करते ही अखण्ड ज्ञान की प्राप्ति होती है और वही परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा कहलाता है) सद्भावनावाला आत्मा (अर्थात् 'मैं अखण्ड ज्ञान हूँ' ऐसी सच्ची भावना जिसे निरन्तर वर्तती है, वह आत्मा) संसार के घोर विकल्प को नहीं पाता परन्तु निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करता हुआ परपरिणति से दूर, अनुपम, अनघ (दोषरहित, निष्पाप, मलरहित) चिन्मात्र को (चिन्मात्र आत्मा को) प्राप्त करता है।' अर्थात् वह जीव सम्यग्दर्शन को पाता है; वह जीव आत्मज्ञानी होता है।

गाथा ४३ अन्वयार्थ–'आत्मा (परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा) निर्दण्ड, निर्द्वन्द्व, निर्मम, नि:शरीर, निरालम्ब, नीराग, निर्दोष, निर्मूढ, निर्भय है।'

श्लोक ६४ अन्वयार्थ–'जो आत्मा भव्यता द्वारा प्रेरित हो, वह आत्मा भव से विमुक्त होने के हेतु (अर्थात् सम्यग्दृष्टि होने और मोक्षमार्ग में आगे बढ़ने) के लिये निरन्तर इस आत्मा को (अर्थात् ऊपर बतलाये शुद्धात्मा को) भजो कि जो (आत्मा) अनुपम ज्ञान के आधीन है, जो सहज गुणमणि

की खान है, जो (सर्व) तत्त्वों में सार है और जो निज परिणति के सुख सागर में मग्न होता है।'

श्लोक ६६ अन्वयार्थ-'जो अनाकुल है, अच्युत है, जन्म-मृत्यु, रोगादि से रहित है, सहज निर्मल सुखामृतमय है, उस समयसार को (अर्थात् परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा, की जिसे कारणसमयसार अथवा कारणशुद्धपर्याय भी कहा जाता है, उसे) मैं समरस (अर्थात् उसमें ही एकरस होकर, उसमें ही एकत्व करके) द्वारा सदा पूजता हूँ।' अर्थात् मैं सदा समयसाररूप परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा की भावना भाता हूँ।

गाथा ४४ अन्वयार्थ-'आत्मा (शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय ऐसा शुद्धात्मा) निर्ग्रन्थ, निराग, निःशल्य, सर्व दोषविमुक्त, निष्काम, निःक्रोध, निर्मान, और निर्मद है।' आगे आचार्य भगवान कहते हैं कि स्त्री, पुरुष आदि पर्यायें, रस-गन्ध-वर्ण-स्पर्श और संस्थान तथा संहनन इत्यादि रूप पुद्‌गल की पर्यायें तो आत्मा की हैं ही नहीं परन्तु वैसे जो भाव आत्मा में होते हैं, उनमें भी मेरा 'मैंपना' नहीं, उनसे व्यतिरिक्त जो परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा है, उसमें ही मेरा 'मैंपना' है; इसलिए वे जीव कोई भी लिंग से (अर्थात् विशेषरूप परिणमन से-पर्याय से) ग्रहण हो वैसे नहीं हैं, वैसा जीव मात्र अव्यक्तरूप है और वह पूर्व में बतलाये अनुसार भाव मन का विषय होता है और वही शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के विषयरूप शुद्धात्मा की अपेक्षा से 'सर्व जीव स्वभाव से सिद्धसमान ही हैं' ऐसा कहने में आता है और वैसा शुद्धात्मा ही उपादेय है अर्थात् एकत्व करने योग्य है।

श्लोक ७३ अन्वयार्थ-'शुद्धनिश्चयनय से मुक्ति में तथा संसार में अन्तर नहीं है; ऐसा ही वास्तव में, तत्त्व विचारते शुद्ध तत्त्व के रसिक पुरुष कहते हैं।'

अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से जीव तीनों काल सम्पूर्ण शुद्ध ही है, नहीं कि जीव का कोई भाग शुद्ध और दूसरा भाग अशुद्ध। नय पद्धति में पूर्ण द्रव्य (प्रमाण का द्रव्य ही) मलिन पर्यायरूप अथवा पूर्ण शुद्धरूप इत्यादि, अपेक्षा से कहा जाता है और वैसा ही समझ में आता है, अन्यथा एकान्त से नहीं; यदि उसे एकान्त से मलिन अथवा शुद्धरूप मानने में आवे तो वह जैनदर्शन बाह्य ही समझना। आगे आचार्य भगवन्त सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये किस प्रकार से और किससे भेदज्ञान करना है, वह बतलाते हैं। जैसे कि नारकादि पर्यायें, मार्गणास्थान, गुणस्थान, जीवस्थान, बाल वृद्ध इत्यादि शरीर की अवस्थायें, राग-द्वेषरूप कषायें मैं नहीं, मैं उनका कर्ता, कार्यिता नहीं अथवा अनुमोदक भी नहीं अर्थात् उनमें मेरा कोई कर्ताभाव नहीं और उन्हें अच्छा मानता भी नहीं।

गाथा ८२ अन्वयार्थ-'ऐसा भेद अभ्यास होने पर जीव मध्यस्थ होता है (अर्थात् ज्ञानी को लब्ध में शुद्धात्मा और उपयोग में वर्तमान दशा होने से, ज्ञानी उस वर्तमान अशुद्ध दशा में

से मुक्त होने के उपायरूप चारित्र ग्रहण इत्यादि करता है कि जिससे वह साक्षात् शुद्धात्मरूप मुक्ति प्राप्त कर सकता है नहीं कि पुण्य के लक्ष्यरूप चारित्र अर्थात् यह पुरुषार्थ शुद्धात्मा के आश्रय से, कर्मों से मुक्ति प्राप्त करने के लिये ही होता है, अन्यथा नहीं), इसलिए चारित्र होता है। उसे (चारित्र को) दृढ़ करने के निमित्त मैं प्रतिक्रमणादि कहूँगा।'

गाथा ८३ अन्वयार्थ–'वचन रचना को छोड़कर (अर्थात् जो प्रतिक्रमण सूत्ररूप वचन रचना है, वह विकल्परूप होने से उसे छोड़कर निर्विकल्प शुद्धात्मा को भाना, अनुभव करना और उसमें ही स्थिर होना, वही प्रतिक्रमणादि का लक्ष्य है और यदि वह लक्ष्य ही सिद्ध हो जाता हो तो उस वचन रचनारूप प्रतिक्रमण की आवश्यकता पूरी हो जाती है) रागादि भावों का निवारण करके (अर्थात् जीव के रागादि जो भाव हैं उन्हें ध्यान में न लेकर अर्थात् उन्हें गौण करके अर्थात् उन रागादि भावों में मैंपना नहीं करके), जो आत्मा को (परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा को) ध्याता है, उसे (परमार्थ) प्रतिक्रमण होता है।'

गाथा ९२ अन्वयार्थ–'उत्तमार्थ (उत्तम पदार्थ) आत्मा है। (उस शुद्धात्मा में) उसमें स्थित मुनिवर कर्म का नाश करते हैं इसलिए ध्यान ही (शुद्धात्मा का ध्यान ही) वास्तव में उत्तमार्थ का प्रतिक्रमण है।'

श्लोक १२२–'समस्त विभाव को तथा व्यवहारमार्ग के रत्नत्रय को छोड़कर (अर्थात् समस्त विभाव को गौण करके तथा व्यवहार रत्नत्रय के सर्व विकल्प शान्त करके) निज तत्त्ववेदी (निज आत्मतत्त्व को जाननेवाला–अनुभव करनेवाला) मतिमान पुरुष शुद्ध आत्मतत्त्व में नियत (जुड़ा हुआ) ऐसा जो एक निज ज्ञान, दूसरा श्रद्धान और फिर तीसरा चारित्र, उसका आश्रय करता है।'

श्लोक १२३–'आत्मध्यान के अतिरिक्त दूसरा सब घोर संसार का मूल है (अर्थात् ध्यान मात्र शुद्धात्मा का ही श्रेष्ठ है) और ध्यान ध्येयादिक सुतप (अर्थात् ध्यान, ध्येय इत्यादि के विकल्पवाला शुभतप भी) कल्पनामात्र रम्य है (अर्थात् वास्तव में अच्छा नहीं है, कल्पनामात्र अच्छा है); ऐसा जानकर धीमान (बुद्धिमान पुरुष) सहज परमानन्दरूपी पीयूष के पूर में डूबते हुए (लीन होते हुए) ऐसे सहज परमात्मा का (परमपारिणामिकभावरूप कारणपरमात्मा का) एक का आश्रय करता है।'

गाथा ९३ अन्वयार्थ–'(शुद्धात्मा के) ध्यान में लीन साधु सर्व दोषों का परित्याग करते हैं; इसलिए ध्यान ही (उस शुद्धात्मा का ध्यान ही) वास्तव में सर्व अतिचार का प्रतिक्रमण है।'

गाथा ९५ अन्वयार्थ–'समस्त जल्प को (वचन विस्तार को अर्थात् विकल्पों को) छोड़कर

(अर्थात् गौण करके) और अनागत शुभ-अशुभ का निवारण करके (अर्थात् शुभाशुभभावों को गौण करके अर्थात् शुभ-अशुभभावों के विकल्पों को छोड़कर अर्थात् सर्व विभावभावों को गौण करके अर्थात् समयसार गाथा ६ अनुसार का भाव अर्थात् जो प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है, ऐसा एक ज्ञायकभावरूप) जो आत्मा को (अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के विषयरूप शुद्धात्मा को) ध्याता है उसे (निश्चय) प्रत्याख्यान है।' अर्थात् सर्व पुरुषार्थमात्र आत्मस्थिरतारूप चारित्र के लिये ही कि जो साक्षात् केवलज्ञान का कारण है।

गाथा ९६ अन्वयार्थ-'केवलज्ञानस्वभावी केवलदर्शनस्वभावी, सुखमय और केवल - शक्तिस्वभावी वह मैं हूँ - ऐसा ज्ञानी चिन्तवन करते हैं।' अर्थात् ज्ञानी अपने को कारणसमयसाररूप शुद्धात्मा ही अनुभव करते हैं।

श्लोक १२८-'समस्त मुनिजनों के हृदय-कमल का (मन का) हंस ऐसा जो यह शाश्वत् (त्रिकाली शुद्ध) केवलज्ञान की मूर्तिरूप (ज्ञानमात्र), सकल-विमल दृष्टिमय (शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय-शुद्ध द्रव्यदृष्टि का विषय ऐसा शुद्धात्मा), शाश्वत् आनन्दरूप, सहज परम चैतन्यशक्तिमय (परमपारिणामिक ज्ञानमय) परमात्मा जयवन्त है।' अर्थात् उसे ही भाने योग्य है, उसमें ही मैंपना करने योग्य है।

गाथा ९७ अन्वयार्थ-'जो निजभाव को छोड़ता नहीं (अर्थात् परमपारिणामिकभावरूप सहज परिणमन, तीनों काल ऐसा का ऐसा ही होने से अर्थात् उपजने से और वही उसका निजभाव होने से बतलाया है कि वह निजभाव को छोड़ता नहीं और दूसरा ज्ञानी को लब्धरूप से वही भाव रहता होने की अपेक्षा से भी कहा है कि निजभाव को छोड़ता नहीं) कुछ भी परभाव को ग्रहण नहीं करता (अर्थात् किसी भी परभाव में मैंपना न करता होने से उसे ग्रहण नहीं करता ऐसा कहा है), सर्व को जानता देखता है (अर्थात् उसे ज्ञानमात्र भाव में ही 'मैंपना' होने से सर्व को जानता-देखता है, परन्तु पर में 'मैंपना' नहीं करता), वह 'मैं हूँ' (अर्थात् शुद्धात्मा, वह 'मैं हूँ') - ऐसा ज्ञानी चिन्तवन करता है।' अर्थात् अनुभव करता है और ध्याता है अर्थात् वही ध्यान का और सम्यग्दर्शन का विषय है।

श्लोक १२९-'आत्मा, आत्मा में निज आत्मिक गुणोंरूप समृद्ध आत्मा को (अर्थात् शुद्धात्मा को)-एक पंचम भाव को (अर्थात् परमपारिणामिकभावरूप आत्मा को) जानता है और देखता है (अनुभवता है), वह सहज एक पंचम भाव को (अर्थात् आत्मा के सहज परिणमनरूप पंचम भाव-परमपारिणामिकभाव को) उसने छोड़ा ही नहीं और अन्य ऐसे परभाव को (अर्थात्

औदयिक, उपशम और क्षयोपशमभाव को) कि जो वास्तव में पौद्‌गलिक विकार है उसे–वह ग्रहण ही नहीं करता (मैंपना ही करता नहीं)।'

श्लोक १३३–'जो मुक्ति साम्राज्य का मूल है (अर्थात् सम्यग्दर्शन का विषय है क्योंकि सम्यग्दर्शन वह मुक्ति साम्राज्य का मूल है) ऐसे इस निरूपम, सहज परमानन्दवाले चिद्रूप को (चैतन्य के स्वरूप को=सामान्यज्ञानमात्र को) एक को चतुर पुरुषों को सम्यक् प्रकार से ग्रहण करना योग्य है (अर्थात् एक सामान्य ज्ञानमात्र भाव कि जो सहज परिणमनयुक्त परमपारिणामिकभाव है, उसमें ही चतुर पुरुषों को 'मैंपना' करने योग्य है); इसलिए हे मित्र! तू भी मेरे उपदेश के सार को (अर्थात् यही सर्व जिनागमों का सार है अर्थात् समयसार का सार है अर्थात् समयसार को) सुनकर, तुरन्त ही उग्ररूप से इस चैतन्य–चमत्कार के प्रति अपनी वृत्ति कर।'

अर्थात् तू भी उसे ही लक्ष्य में ले और उसमें ही 'मैंपना' कर कि जिससे तू भी आत्मज्ञानीरूप से परिणम जायेगा अर्थात् तुझे भी सम्यग्दर्शन प्रगट होगा अर्थात् यहाँ सम्यग्दर्शन की विधि बतलायी है।

श्लोक १३५–'मेरे सहज सम्यग्दर्शन में, शुद्धज्ञान में, चारित्र में, सुकृत और दुष्कृतरूपी कर्म द्वन्द्व के संन्यास काल में (अर्थात् समयसार गाथा ६ अनुसार का भाव अर्थात् जो प्रमत्त भी नहीं और अप्रमत्त भी नहीं, ऐसा एक ज्ञायकभावरूप) संवर में और शुद्धयोग में (शुद्धोपयोग में) वह परमात्मा ही है (अर्थात् सम्यग्दर्शनादि सबका आश्रय–अवलम्बन शुद्धात्मा ही है कि जो सिद्धसम ही भाव है); मुक्ति की प्राप्ति के लिये जगत में दूसरा कोई भी पदार्थ नहीं है, नहीं है।' अर्थात् दृष्टि के विषय की ही दृढ़ता करायी है।

श्लोक १३६–'जो कभी निर्मल दिखायी देता है कभी निर्मल तथा अनिर्मल दिखायी देता है तथा कभी अनिर्मल दिखायी देता है अर्थात् शुद्धनय (द्रव्यदृष्टि) से निर्मल ज्ञात होता है, प्रमाणदृष्टि से निर्मल तथा अनिर्मल दिखायी देता है और अशुद्धनय (पर्यायदृष्टि) से अनिर्मल दिखायी देता है और इस कारण से अज्ञानी के लिये जो गहन है (इसलिए ही बहुत लोग आत्मा को एकान्त शुद्ध अथवा अशुद्ध धार लेते हैं और दूसरे लोग आत्मा को एक भाग शुद्ध और एक भाग अशुद्ध, ऐसी धारणा कर लेते हैं), वही – कि जिसने निजज्ञानरूपी दीपक से पाप तिमिर को नष्ट किया है वही (अर्थात् जिसने प्रज्ञाछैनी अर्थात् तीक्ष्णबुद्धि से सर्व विभावभावों को गौण करके जो परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा ग्रहण किया है अर्थात् उसमें ही 'मैंपना' किया है और ऐसा करते ही सम्यग्दर्शनरूप दीप प्रगटाकर पाप तिमिर को नष्ट किया है, वही शुद्धात्मा) सत्पुरुषों के (ज्ञानी के) हृदयकमलरूपी घर में (मन में) निश्चयरूप से संस्थित है (भले प्रकार स्थिरता प्राप्त है)।'

गाथा १०२ अन्वयार्थ–'ज्ञानदर्शनलक्षणवाला शाश्वत एक आत्मा मेरा है; शेष सब संयोगलक्षणवाले भाव मुझसे बाह्य हैं।'

ये गाथा भेदज्ञान की गाथा है, इसमें सम्यग्दर्शन के लिये भेदज्ञान किस प्रकार करना यह बतलाया है कि जो 'देखने–जाननेवाला आत्मा है, वह मैं' अन्य सर्व भाव (ज्ञेय) उसमें गौण करने के होने से ही वे भाव बाह्य कहे हैं, क्योंकि उनसे ही भेदज्ञान करना है।

श्लोक १४८–'तत्त्व में निष्णान्त बुद्धिवाले जीव के हृदयकमलरूप अभ्यन्तर में (भाव मन में) जो सुस्थित (भले प्रकार स्थिरता प्राप्त) है, वह सहज तत्त्व (परमपारिणामिकभावरूप सहज परिणामी शुद्ध आत्मा) जयवन्त है (वही सर्वस्व है)। उस सहज तेज ने मोहान्धकार का नाश किया है (अर्थात् दर्शनमोह का उपशम, क्षयोपशम, अथवा तो क्षय किया है) और वह (सहज तेज) (सम्यग्दर्शन का विषय) निज रस के फैलाव से प्रकाशित ज्ञान के प्रकाशमात्र है।'

श्लोक १४९–'और जो (सहज तत्त्व–शुद्धात्मा) अखण्डित है (अर्थात् आत्मा में कोई भाग शुद्ध और कोई भाग अशुद्ध, ऐसा नहीं है, पूर्ण आत्मा–अखण्ड आत्मा ही द्रव्यदृष्टि से शुद्धात्मारूप ज्ञात होता है), शाश्वत है (अर्थात् तीनों काल ऐसा का ऐसा उपजता है=परिणमता है), सकल दोष से दूर है (अर्थात् सकल दोष से भेदज्ञान किया होने से वह शुद्धात्मा सकल–दोष से दूर है), उत्कृष्ट है (अर्थात् सिद्धसदृशभाव है), भवसागर में डूबे हुए जीव समूह को (अर्थात् सर्व संसारी जीवों को) नौका समान है (अर्थात् मुक्ति का कारण है अर्थात् सम्यग्दर्शन का विषय है) और प्रबल संकटों के समूहरूपी दावानल को (अर्थात् किसी भी प्रकार के उपसर्गरूप संकटों में स्वयं शान्त रहने) के लिये जल समान है (अर्थात् शुद्धात्मा का अवलम्बन लेते ही संकट गौण हो जाते हैं, पर हो जाते हैं), उस सहज तत्त्व को मैं प्रमोद से सतत नमस्कार करता हूँ।' अर्थात् प्रमोद से सतत् भाता हूँ, उसका ही ध्यान करता हूँ।

गाथा १०७ अन्वयार्थ–'नोकर्म और कर्म से रहित (अर्थात् प्रथम, पुद्गल से भेदज्ञान किया, जो कि आत्मा से प्रगट भिन्न है) तथा विभावगुण पर्यायों से व्यतिरिक्त (अर्थात् दूसरा, आत्मा जो कर्मों के निमित्त से विभावभावरूप अर्थात् औदयिकभावरूप परिणमता है, उससे भेदज्ञान किया अर्थात् वे भाव होते तो है आत्मा में ही–मुझमें ही, परन्तु वे भाव मेरा स्वरूप नहीं होने से उनमें 'मैंपना' नहीं करके अर्थात् उन्हें गौण करते ही उनसे रहित शुद्धात्मा प्राप्त होता है, ऐसे) आत्मा को (अर्थात् शुद्ध आत्मा को) जो ध्याता है उस श्रमण को (परम) आलोचना है।'

श्लोक १५२–'घोर संसार के मूल ऐसे सुकृत और दुष्कृत को सदा आलोच–आलोचकर

(अर्थात् समयसार गाथा ६ अनुसार का भाव अर्थात् जो प्रमत्त भी नहीं और अप्रमत्त भी नहीं ऐसा एक ज्ञायकभावरूप और दूसरा, यहाँ पुण्य और पाप, दोनों को घोर संसार का मूल कहा है, उसके विषय में हमने पूर्व में बतलाये अनुसार समझना अर्थात् दोनों आत्मा को बन्धनरूप होने से संसार से मुक्ति के लिये इच्छनीय नहीं है, तथापि किसी को ऐसा नहीं समझना कि पाप और पुण्य, ये दोनों हेय होने से अपने को पाप करने की छूट मिली है। ऐसा समझनेवाला वह नियम से अनन्त संसारी ही है परन्तु पाप का विचार भी नहीं करते, मात्र आत्मलक्ष्य से सुकृत करने योग्य है और वह शुभभाव भी शुद्धभाव से विरुद्ध भाव होने से, शुद्धभाव में 'मैंपना' करने से अथवा मात्र शुद्धभाव के लक्ष्य से भले आप नियम से शुभ में ही रहो परन्तु उस पर आदरभाव से नहीं। आदरभावमात्र शुद्धभाव पर ही और रहना भी है शुद्धभाव में ही, परन्तु यदि आप शुद्धभाव से स्खलित होओ अथवा शुद्धभाव की प्राप्ति न हुई हो तो शुद्धभाव के लक्ष्य से रहना, नियम से शुभ में ही। अशुभभाव की तो परछाई भी लेने योग्य नहीं है, इसलिए यहाँ किसी को छल ग्रहण करके शुभभाव छोड़कर अशुभ का आचरण नहीं करना। तीसरा यहाँ दृष्टि के विषयरूप शुद्धात्मा इष्ट है कि जिसमें सुकृत और दुष्कृतरूप विभावभाव को सदा आलोच-आलोचकर अर्थात् अत्यन्त गौण करके) मैं निरुपाधिक (स्वाभाविक) गुणवाले शुद्धात्मा को आत्मा से ही अवलम्बता हूँ (अर्थात् शुद्धात्मा में ही रहने का प्रयत्न करता हूँ) पश्चात् (अर्थात् उससे ही) द्रव्यकर्मरूप समस्त प्रकृति को अत्यन्त नाश प्राप्त कराकर (अर्थात् घातिकर्म का नाश करके केवलज्ञान-केवलदर्शनरूप) सहज विलसती ज्ञान लक्ष्मी को मैं प्राप्त करूँगा।' अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव को भी ध्यान के विषयरूप शुद्धात्मा ही है।

श्लोक १५५-'जिसने ज्ञानज्योति द्वारा (अर्थात् ज्ञानमात्र भाव के अवलम्बन से) पापतिमिर के पुंज का नाश किया है (अर्थात् उसका 'मैंपना' ज्ञानमात्रभाव=परमपारिणामिकभाव में ही होने से सर्व पापों के उदयरूप औदायिकभाव को अत्यन्त गौण किया है) और जो पुराण (सनातन अर्थात् त्रिकाली शुद्ध) है ऐसा आत्मा परम संयमियों के चित्त कमल में (भाव मन में) स्पष्ट है, वह आत्मा संसारी जीवों के वचन-मनोमार्ग से अतिक्रान्त है (वचन और मन से स्पष्ट कर सकने अथवा व्यक्त कर सकनेयोग्य नहीं है) यह निकट परमपुरुष में (अर्थात् इस निकट में ही मोक्ष प्राप्त करनेयोग्य पुरुष में) विधि क्या और निषेध क्या?'

अर्थात् ऐसे शुद्धात्मा में मग्न रहनेवाले परम पुरुष, कोई विधि अनुसरे अथवा न अनुसरे तो उन्हें उसमें कुछ भी दोष नहीं है इसलिए उनके लिए कोई विधि निषेध नहीं है ऐसा बतलाया है।

श्लोक १५६-'जो सकल इन्द्रियों के समूह से उत्पन्न होनेवाले कोलाहल से विमुक्त है

(अर्थात् जो ज्ञान सकल इन्द्रियों से होता है, ऐसे ज्ञानाकाररूप विशेष, जिसमें गौण है ऐसा सामान्य ज्ञान है), जो नय और अनय के समूह से दूर है (अर्थात् नयातीत है, क्योंकि नय विकल्पात्मक होते हैं और सम्यग्दर्शन का विषयरूप स्वरूप, सर्व विकल्पों से रहित है अर्थात् वह नयातीत) होने पर भी योगियों को (अर्थात् आत्मज्ञानियों को) गोचर है (अर्थात् नित्य लब्धरूप और कभी उपयोगरूप है), जो सदा शिवमय है (अर्थात् सिद्ध सदृशभाव है), उत्कृष्ट है और जो अज्ञानियों को परम दूर है (क्योंकि वे शुद्धात्मा को एकान्त से ग्रहण करने का प्रयास करते हैं अर्थात् जैसा वह है नहीं, वैसी उसकी कल्पना करके ग्रहण करने का प्रयास करते हैं इसलिए वे मात्र भ्रम में ही रहते हैं और सत्यस्वरूप से योजनों दूर रहते हैं) ऐसा यह अनघ (शुद्ध) चैतन्यमय सहज तत्त्व अत्यन्त जयवन्त (बारम्बार अवलम्बन करने योग्य) है।'

श्लोक १५७–'निज सुखरूपी सुधा के सागर में (यहाँ एक स्पष्टीकरण आवश्यक है कि कोई वर्ग ऐसा मानता है कि योगपद्धति से सुधारस का पान करने से आत्मा का अनुभव होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है। उन्हें एक बात यहाँ समझने योग्य है कि जो अतिन्द्रिय आनन्द है कि जो स्वात्मानुभूति से आता है, उसे ही शास्त्रों में सुधा का सागर अर्थात् सुधारस कहा है, परन्तु किसी शारीरिक क्रिया अथवा तो पुद्गलरूपी रस के विषय की यहाँ बात नहीं है, क्योंकि अनुभव काल में कोई देहभाव होता ही नहीं, स्वयं मात्र शुद्धात्मरूप ही होता है तो पुद्गलरूपी रस की बात ही कहाँ से होगी ? अर्थात् होती ही नहीं) डूबते हुए इस शुद्धात्मा को जानकर भव्यजीव परम गुरु द्वारा (इस ज्ञान का प्राय: अभाव होने से इसकी दुर्लभता बतलाने को परम गुरु शब्द प्रयोग किया है) शाश्वत सुख को प्राप्त करते हैं; इसलिए, भेद के अभाव की दृष्टि से (अर्थात् स्वानुभूति में कुछ भेद ही नहीं अर्थात् वहाँ द्रव्य पर्यायरूपी भेद अथवा तो पर्याय के निषेधरूप इत्यादि कोई भेद ही नहीं है, उसमें तो मात्र द्रव्यदृष्टि ही महत्त्व की है कि जिसमें पर्याय ज्ञात ही नहीं होती अर्थात् पूर्ण द्रव्यमात्र शुद्धात्मारूप ही ज्ञात होता है; ऐसी दृष्टि से) जो सिद्धि से उत्पन्न होनेवाले सौख्य (अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द, नहीं कि पुद्गलरूपी सुधारस) द्वारा शुद्ध है ऐसे किसी (अद्भुत) सहज तत्त्व को (परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा को) मैं भी सदा अति अपूर्व रीति से अत्यन्त भाता हूँ।'

श्लोक १५८–'सर्व संग से निर्मुक्त, निर्मोहरूप, अनघ और परभाव से मुक्त ऐसे इस परमात्मतत्त्व को (इस प्रकार से भेदज्ञानपूर्वक ग्रहण किये हुए शुद्धात्मा को) मैं निर्वाणरूपी स्त्री से उत्पन्न होनेवाले अनंग सुख के (अतीन्द्रिय सुख के) लिये नित्य सम्भाता हूँ (सम्यक्रूप से भाता हूँ–अनुभव करता हूँ) और प्रणाम करता हूँ।'

श्लोक १५९–'निज भाव से भिन्न ऐसे सकल विभाव को छोड़कर (अर्थात् यहाँ भेदज्ञान की विधि बतलायी है) एक निर्मल चिन्मात्र को (ज्ञान सामान्यरूप परमपारिणामिकभाव को) मैं भाता हूँ। संसारसागर को तिर जाने के लिये, अभेद कहे हुए (ऊपर जिस प्रकार अभेद समझाया है, उस प्रकार से अभेद कहे हुए) मुक्ति के मार्ग को भी मैं नित्य नमन करता हूँ।'

श्लोक १६०–'जो कर्म के दूरपने के कारण (अर्थात् कर्म और उनके निमित्त से होनेवाले भावों से भेदज्ञान करने से वे गौण हो गये हैं और स्वयं को शुद्धात्मा प्राप्त हुआ है, उसके कारण) प्रगट सहजावस्थापूर्वक (अर्थात् सहज परिणमनरूप परम पारिणामिकभाव जो कि पंचम भाव भी कहलाता है, उसमें ही 'मैंपना' करके) रहा हुआ है, जो आत्मनिष्ठापरायण (आत्मस्थित) समस्त मुनियों के मुक्ति का मूल है (अर्थात् ऐसे शुद्धात्मा में ही 'मैंपना' करने योग्य है और उसका ही ध्यान करनेयोग्य है अर्थात् उसे ही सेवन करने से मुक्ति मिलती है अर्थात श्रेणी मांडी जाती है और केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त होता है और आयु क्षय से मोक्ष पाता है, इसलिए शुद्धात्मा को मुक्ति का मूल कहा है) जो एकाकार है (अर्थात् सदा ऐसा का ऐसा ही उपजता होने से त्रिकाली शुद्ध अर्थात् तीनों काल एक जैसा ही है इसलिए उसे त्रिकाली ध्रुव भी कहा जाता है), जो निज रस के फैलाव से भरपूर होने से (यहाँ निजरस कहा कि जो आत्मा का अरूपी अतिन्द्रिय आनन्द है, नहीं कि कोई रूपी पुद्‌गल द्रव्यरूप सुधारस) पवित्र है और जो पुराण है (अर्थात् सनातन है–तीनों काल ऐसा का ऐसा ही उपजता हुआ वह सहज परिणमनरूप परमपारिणामिकभाव कहलाता है), वह शुद्ध-शुद्ध (अर्थात् परम शुद्ध) एक पंचम भाव सदा जयवन्त है।'

श्लोक १६१–'अनादि संसार से समस्त जनता को (जनसमूह को) तीव्र मोह के उदय के कारण ज्ञानज्योति सदा मत्त है, काम के वश है, (यहाँ आचार्य भगवन्त ने जगत की स्थिति का बयान किया है कि आप सब विषय-कषाय में रत हो और उपदेश भी दिया है कि आप उन विषय-कषाय में रतपना-वशपना छेदकर-छोड़कर ज्ञानज्योति का अनुभव करो) और निज आत्मकार्य में मूढ़ है (अर्थात् संसार की समस्त होशियारी होने पर भी अपने आत्मा की प्राप्ति के लिये योग्य काल की राह देखता अर्थात् नियतिवादी बनकर बैठा रहता है और अपना पूर्ण पुरुषार्थ संसार के लिये प्रयोग करता है और निज आत्मकार्य में मूढ़ है अर्थात् पुरुषार्थहीन है)। मोह के अभाव से यह ज्ञानज्योति शुद्धभाव को पाता है (अर्थात् परमपारिणामिकभाव के अनुभवन और सेवन से श्रेणी माँडकर मोह का अभाव करके ज्ञानज्योति अर्थात् सम्यग्दृष्टि आत्मा, केवलज्ञान-केवलदर्शनरूप शुद्धभाव को प्राप्त करता है) जिस शुद्धभाव ने दिशामण्डल को धवलित (अर्थात् उज्ज्वल) किया है (अर्थात् उससे तीन काल-तीन लोक सहज ज्ञात होते हैं) और सहज

अवस्था को प्रगट किया है (अर्थात् सर्व गुणों की साक्षात् शुद्धदशा प्रगट की है)।' यही विधि है सिद्धत्व की प्राप्ति की।

श्लोक १६७–'शुभ और अशुभ से रहित शुद्ध चैतन्य की भावना (अर्थात् विभावभावरहित शुद्धात्मा अर्थात् परमपारिणामिकभाव की ही भावना कि जो भाव श्री समयसार गाथा ६ में कहे अनुसार प्रमत्त भी नहीं और अप्रमत्त भी नहीं मात्र एक ज्ञायकभाव है) मेरे अनादि संसार रोग का उत्तम औषध है।' अर्थात् जो निर्विकल्प आत्मस्वरूप है अर्थात् शुद्धात्मा है, वही सम्यग्दर्शन का विषय है और सम्यग्दृष्टि को आगे की साधना में वही ध्यान का भी विषय है।

श्लोक १७०–'जिसने सहज तेज से (अर्थात् सहज परिणमनरूप परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा को भाने से) रागरूपी अन्धकार का नाश किया है (अर्थात् रागरूपी विभावभाव का जिसके भाने से नाश हुआ है अर्थात् जिसके कारण वीतरागता आयी है), जो मुनिवरों के मन में बसता है (अर्थात् मुनिवर उसका ही ध्यान करते हैं और उसे ही सेवन करते हैं अर्थात् उसमें ही अधिक से अधिक स्थिरता करने का पुरुषार्थ करते हैं), जो शुद्ध-शुद्ध (जो अनादि-अनन्त शुद्ध) है, जो विषयसुख में रत जीवों को सर्वदा दुर्लभ है (अर्थात् मुमुक्षु जीव को समस्त विषय-कषाय के प्रति आदर छोड़ देना आवश्यक है अर्थात् अत्यन्त आवश्यकता के सिवाय उनका जरा भी सेवन न करने से उनके प्रति आदर जाता है; उसकी परीक्षा के लिये 'मुझे क्या रुचता है?' ऐसा प्रश्न अपने को पूछकर उसका उत्तर खोजना और यदि उत्तर में संसार अथवा संसार के सुखों के प्रति आकर्षण/आदरभाव हो तो समझना कि मुझे अभी विषय-कषाय का आदर है, संसार का आदर है जो कि छोड़ने योग्य है, क्योंकि वह अनन्त परावर्तन कराने में सक्षम है), जो परम सुख का समुद्र है, जो शुद्ध ज्ञान है (अर्थात वह ज्ञान सामान्यमात्र है) और जिसने निद्रा का नाश किया है (अर्थात् इस शुद्धात्मा को भाने से जिन्होंने केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया है उन्होंने इस भावना के बल से ही निद्रा का नाश हुआ है) वह यह (शुद्धात्मा) जयवन्त है (अर्थात् वह शुद्धात्मा ही सर्वस्व है)।'

श्लोक १९०–'जिसने नित्य ज्योति (अनादि-अनन्त शुद्धभावरूप परमपारिणामिकभाव) द्वारा तिमिरपुंज का नाश किया है, जो आदि-अन्तरहित है (अर्थात् तीनों काल शुद्ध ही है), जो परम कला सहित है और जो आनन्दमूर्ति है ऐसे एक शुद्ध आत्मा को जो जीव शुद्ध आत्मा में अविचल मनवाला होकर निरन्तर ध्याता है (अर्थात् उसका ही ध्यान करता है), वह यह आचारवान (चारित्रवान) जीव शीघ्र जीवन्मुक्त होता है।'

श्लोक १९३-'यह ध्यान है, यह ध्येय है, यह ध्याता है और वह फल है-ऐसे विकल्प जालों से जो मुक्त है (अर्थात् जो निर्विकल्प शुद्धात्मा है) उसे मैं नमन करता हूँ (स्तवन करता हूँ, सम्यक् प्रकार से भाता हूँ)।'

अर्थात् उसका ही मैं ध्यान करता हूँ और उसमें ही 'मैंपना' करता हूँ कि जिससे मैं निर्विकल्प होता हूँ अर्थात् अनुभव करता हूँ; अर्थात् किसी भी विकल्परूप ध्यान से इस शुद्धात्मा का निर्विकल्प ध्यान उत्तम है, आचरणीय है जो कि सम्यग्दर्शन के बाद ही होता है।

गाथा १२३ अन्वयार्थ-'संयम, नियम और तप से तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान से जो आत्मा को ध्याता है, उसे परम समाधि है।' अर्थात् सम्यग्दृष्टि की आगे की भूमिका में जो करनेयोग्य है अर्थात् जो सहज होता है, उसका वर्णन किया है और अन्यों को भी वह अभ्यासरूप से भी करनेयोग्य है।

श्लोक २०२-'वास्तव में समतारहित (अर्थात् सम्यग्दर्शनरहित, क्योंकि सम्यग्दृष्टि को ही सच्ची समता बतलायी है) यति को अनशनादि तपश्चरणों से फल नहीं है (अर्थात् मुक्तिरूप फल नहीं है परन्तु संसाररूप फल है जो कि हेय है, इसलिए कहा है कि फल नहीं है); इसलिए हे मुनि! समता का कुलमन्दिर ऐसा जो अनाकुल निजतत्त्व (अर्थात् शुद्धात्मा) उसे भज।'

अर्थात् सर्व प्रथम शुद्धात्मा का चिन्तन, निर्णय, लक्ष्य और योग्यता करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करने योग्य है क्योंकि तत्पश्चात् ही सर्व तपश्चरण का अपूर्व फल अर्थात् मुक्तिरूप फल मिलता है, अन्यथा नहीं।

श्लोक २०७-'मैं - सुख की इच्छा रखनेवाला आत्मा-अजन्म और अविनाशी ऐसे निज आत्मा को आत्मा द्वारा ही आत्मा में स्थिर रहकर बारम्बार भाता हूँ।' जो कोई परम सुख के इच्छुक हैं उनके लिये एकमात्र शुद्धात्मा का ही लक्ष्य और शुद्धात्मा का ही ध्यान श्रेष्ठ है क्योंकि उससे ही मुक्ति मिलेगी।

श्लोक २११-'यह अनघ (निर्दोष=शुद्ध) आत्मतत्त्व जयवन्त है-कि जिसने संसार को अस्त किया है (अर्थात् संसार के अस्त के लिये अर्थात् मुक्ति के लिये यह शुद्धात्मा ही शरणभूत-सेवनेयोग्य है), जो महामुनिगण के अधिनाथ के (गणधरों के) हृदयारविन्द में (मन में) स्थित है, जिसने भव का कारण तज दिया है (अर्थात् जो इस भाव में स्थिर हो जाता है, उसे अब फिर कोई भव रहता ही नहीं क्योंकि वह मुक्त ही हो जाता है), जो एकान्त से शुद्ध प्रगट हुआ है (अर्थात् जो सर्वथा शुद्धरूप से स्पष्ट ज्ञात होता है अर्थात् जो तीनों काल शुद्ध ही होता है परन्तु सम्यग्दर्शन

होने से, उस एकान्त से शुद्ध अर्थात् तीनों काल शुद्ध ही है, वह प्रगट हुआ अर्थात् अनुभव में आया इसलिए प्रथम से वह शुद्ध ही होने पर भी उसका अनुभव न होने से, अनुभूति की अपेक्षा से वह प्रगट हुआ कहलाता है) और जो सदा (टंकोत्कीर्ण चैतन्य सामान्यरूप-अर्थात् ज्ञेयों को गौण करते ही जो जानने-देखनेवाला शेष रहता है, वह तीनों काल वैसा का वैसा ही ज्ञान सामान्यरूप होने से, टंकोत्कीर्ण कहलाता है; दूसरे प्रकार से ज्ञेय विशेष है और वह जिनका बना हुआ है- अर्थात् ज्ञान का, उसे सामान्य ज्ञान अर्थात् चैतन्य सामान्य कहा जाता है) निज महिमा में लीन होने पर भी सम्यग्दृष्टियों को गोचर (अनुभूति में आता) है।'

श्लोक २१६-'यह स्वत: सिद्ध ज्ञान (अर्थात् ऊपर बतलाये अनुसार का परमपारिणामिकभावरूप सामान्य ज्ञान) पाप-पुण्यरूपी वन को जलानेवाली अग्नि है (अर्थात् अपूर्व निर्जरा का कारण है) महा-मोहान्धकारनाशक (अर्थात् मोह का नाश करके अरिहन्त पद दिलानेवाला है) अति प्रबल तेजमय है। विमुक्ति का मूल है और निरुपाधि महा-आनन्द सुख का (अर्थात् अतीन्द्रिय शाश्वत् सुख का) दायक है। भव-भव का ध्वंस करने में निपुण (अर्थात् मुक्ति दिलानेवाले) ऐसे इस ज्ञान को मैं नित्य पूजता हूँ।' अर्थात् उसे नित्य भाता हूँ और उसमें ही स्थिरता का पुरुषार्थ करता हूँ।

श्लोक २२०-'जो भवभय के हरनेवाले इस सम्यक्त्व की, शुद्धज्ञान की और चारित्र की भवछेदक (अर्थात् यह सम्यग्दर्शन, शुद्धज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान और उसमें ही स्थिरता करनेरूप चारित्र को भवभय का हरनेवाला कहा है अर्थात् मुक्तिदाता कहा है) अतुल भक्ति निरन्तर करता है, वह काम-क्रोधादि समस्त दुष्ट पाप समूह से मुक्त चित्तवाला जीव-श्रावक हो या संयमी हो- निरन्तर भक्त है, भक्त है।' अर्थात् जैन सिद्धान्त अनुसार ऐसी अभेद भक्ति ही कार्यकारी है और इसलिए ऐसी ही भक्ति की इच्छा करना।

श्लोक २२७-'इस अविचलित-महाशुद्ध-रत्नत्रयवाले मुक्ति के हेतुभूत निरुपम-सहज-ज्ञानदर्शनचारित्ररूप (अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्र इत्यादि अनन्त गुणों का सहज परिणमनरूप परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा), नित्य आत्मा में (अर्थात् शुद्धात्मा जो कि नित्य शुद्धरूप ऐसा का ऐसा ही उपजता है अर्थात् परिणमता है ऐसे नित्य आत्मा में) आत्मा को वास्तव में सम्यक् प्रकार से स्थापित करके (अर्थात् उसका ही अनुभव करके और उसका ही ध्यान धरकर) यह आत्मा चैतन्य चमत्कार की (सामान्य चेतनारूप परमपारिणामिकभाव की) भक्ति द्वारा निरतिशय (अजोड़) घर को-कि जिसमें से विपदायें दूर हो गयी हैं और जो आनन्द से भव्य है, उसे-अत्यन्त

प्राप्त करता है अर्थात् सिद्धिरूपी स्त्री का स्वामी होता है।' अर्थात् शुद्धात्मा के ध्यान से ही अरिहन्त होता है और फिर सिद्ध होकर मुक्त होता है।

गाथा १३७–टीका का श्लोक–'आत्म प्रयत्न सापेक्ष विशिष्ट जो मनोगति (अर्थात् नोइन्द्रियरूप मन द्वारा जो, आत्मा को स्वानुभव होता है वह), उसका ब्रह्म में संयोग होना (अर्थात् स्वात्मानुभूति होती है अर्थात् शुद्धात्मा में=ब्रह्म में 'मैंपना'=सोऽहं करते ही सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है) उसे योग कहा जाता है।'

जैन सिद्धान्त अनुसार योग की यह व्याख्या है और यही योग आत्मा के लिये हितकर है, जबकि अन्य योग, मात्र विकल्परूप आर्तध्यान के कारण होने से सेवन योग्य नहीं है; इसीलिए आगे योग भक्तिवाले जीव की व्याख्या करते हैं, वही भक्ति का भी स्वरूप है।

श्लोक २२८–'जो यह आत्मा आत्मा को आत्मा के साथ निरन्तर जोड़ता है (अर्थात् एकमात्र शुद्धात्मा का ही ध्यान करता है, अनुभवन करता है), वह मुनिश्वर निश्चय से योग भक्तिवाला है।'

गाथा १३८ अन्वयार्थ–'जो साधु सर्व विकल्पों के अभाव में (अर्थात् निर्विकल्प स्वरूप परमपारिणामिकभाव में) आत्मा को जोड़ता है (अर्थात् उसमें ही 'मैंपना' करता है), वह योगभक्तिवाला है; दूसरे को योग किस प्रकार हो सकता है?' अर्थात् ऐसे स्वात्मानुभूतिरूप योग के अतिरिक्त दूसरे को योग माना ही नहीं अर्थात् दूसरा कोई योग कार्यकारी नहीं।

श्लोक २२९–'भेद का अभाव होने पर (अर्थात् अभेदभाव से शुद्धात्मा को भाने पर अर्थात् अनुभव करने पर) अनुत्तम (श्रेष्ठ) योगभक्ति होती है; उसके द्वारा योगियों को आत्मलब्धिरूप ऐसी वह (प्रसिद्ध) मुक्ति होती है।' अर्थात् ऐसा ही योग मुक्ति का कारण है और इसलिए अभेदभाव से शुद्धात्मा ही भाने योग्य है, अन्य कोई नहीं।

गाथा १३९ अन्वयार्थ–'विपरीत अभिनिवेश का परित्याग (अर्थात् मताग्रह, हठाग्रह इत्यादि का त्याग) करके जो जैन कथित तत्त्वों में आत्मा को जोड़ता है, उसका निजभाव (अर्थात् शुद्धात्मानुभूति) वह योग है।'

गाथा १४० अन्वयार्थ–'वृषभादि जिनवरेन्द्र इस प्रकार योग की उत्तम भक्ति करके निवृत्ति सुख को प्राप्त हुए; इसलिए योग की (ऐसी) उत्तम भक्ति को तू धारण कर (नहीं कि अन्ध भक्ति अथवा व्यक्ति रागरूप भक्ति)।'

श्लोक २३३–'अपुनर्भव सुख की (मुक्ति सुख की) सिद्धि के लिये मैं शुद्ध योग की (अर्थात्

शुद्धात्मा में 'मैंपना' करनेवाले योग की) उत्तम भक्ति करता हूँ (अर्थात् उसे ही बारम्बार भाता हूँ), संसार की घोर भीति से सर्व जीव नित्य यह उत्तम भक्ति करो।' अर्थात् सबको उसी शुद्ध योग की भक्ति की ही प्रेरणा देते हैं, नहीं कि चापलुसाईवाली भक्ति की अथवा व्यक्ति रागरूप भक्ति की।

गाथा १४१ अन्वयार्थ–'जो अन्यवश नहीं (अर्थात् जो पूर्ण भेदज्ञान करके मात्र शुद्धात्मा में ही 'मैंपना' करता है और इस कारण से जो कुछ कर्मों का उदय होता है, उदय आता है, उसे समताभाव से भोगता है अर्थात् उसमें अच्छा-बुरा अर्थात् इष्ट-अनिष्ट बुद्धि नहीं करता, इसलिए वह अन्यवश नहीं है) उसे (निश्चय परम) आवश्यक कर्म कहते हैं (अर्थात् उस जीव को आवश्यक कर्म है ऐसा परम योगीश्वर कहते हैं)। (ऐसा) कर्म का विनाश करनेवाला योग (अर्थात् ऐसा जो यह आवश्यक कार्य) वह निर्वाण का मार्ग है ऐसा कहा है।'

श्लोक २३८–'स्ववशता से उत्पन्न आवश्यक कर्मस्वरूप यह साक्षात् धर्म नियम से (निश्चितरूप से) सच्चिदानन्दमूर्ति आत्मा में (सत्-चित्-आनन्दस्वरूप आत्मा में अर्थात् परमपारिणामिकभावरूप आत्मा में) अतिशयरूप से होता है। वह यह (आत्मस्थित धर्म), कर्म क्षय करने में कुशल ऐसा निर्वाण का एक मार्ग है। उससे ही मैं (अर्थात् उसमें ही 'मैंपना' करके मैं) शीघ्र कोई (अद्भुत) निर्विकल्प सुख को प्राप्त करता हूँ।' अर्थात् स्वात्मानुभूति में अद्भुत-अतीन्द्रिय निर्विकल्प आनन्द ही होता है, उसे मैं प्राप्त करता हूँ।

श्लोक २३९–'कोई योगी स्वहित में लीन रहता हुआ शुद्ध जीवास्तिकाय (अर्थात् पूर्ण जीव जो कि प्रमाण का विषय है, उसमें से विभावभाव अर्थात् परलक्ष्य से/कर्म के लक्ष्य से होनेवाले भावों को गौण करते ही, अर्थात् उस जीव को द्रव्यदृष्टि से निहारते ही वह परमपारिणामिकभावरूप शुद्ध जीवास्तिकाय प्राप्त होता है, वह अपने) अतिरिक्त अन्य पदार्थों के वश नहीं होता, ऐसा जो सुस्थित रहना, वह निरुक्ति (अर्थात् अवशपने का व्युत्पत्ति अर्थ) है, ऐसा करने से (अर्थात् अपने में लीन रहकर पर के वश नहीं होने से) दुरितरूपी (दुष्कर्मरूपी) तिमिरपुंज का जिसने नाश किया है (अर्थात् वह किसी भी प्रकार के पाप आचरता नहीं ऐसा अर्थात् भाव मुनि) ऐसे उस योगी को सदा प्रकाशमान ज्योति द्वारा (अर्थात् परमपारिणामिक भावस्वरूप कारणसमयसाररूप सदा प्रकाशमान ज्योति द्वारा) सहज अवस्था (अर्थात् कार्यसमयसाररूपी मुक्ति) प्रगट होने से अमूर्तपना (सिद्धत्व की प्राप्ति) होता है।'

श्लोक २४१–'कलिकाल में (अर्थात् वर्तमान हुण्डावसर्पिणी पंचम काल में) भी कहीं-कोई भाग्यशाली जीव मिथ्यात्वादिरूप मल कादव से रहित (अर्थात् सम्यग्दर्शनसहित) और सद्धर्म रक्षामणि ऐसा समर्थ मुनि होता है। जिसने अनेक परिग्रहों का विस्तार छोड़ा है और जो पापरूपी

अटवी को जलानेवाली अग्नि है, वह यह मुनि इस काल में भूतल में (पृथ्वी पर) तथा देवलोक में देवों से भी भले प्रकार पूज्य है।' अर्थात् ऐसे समर्थ मुनि कोई विरले ही होते हैं जो कि अत्यन्त आदर के पात्र हैं।

श्लोक २४२–'इस लोक में तपश्चर्या समस्त सुबुद्धियों को प्राण प्यारी है; वह योग्य तपश्चर्या (मात्र आत्म लक्ष्य से और मुक्ति के लक्ष्य से) सो इन्द्रों को भी सतत वन्दनीय है। उसे पाकर जो कोई जीव कामान्धकारयुक्त संसार से जनित सुख में रमता है, वह जड़मति अरे रे! कलि से हना हुआ है।' अर्थात् चारित्र अथवा तपश्चर्या अंगीकार करने के बाद भी यदि किसी जीव को काम–भोग के प्रति आदर जीवन्त रहता है तो वैसे जीव को जड़मति कहा है अर्थात् वैसा जीव अपना अनन्त संसार जीवन्त रखनेवाला है।

श्लोक २४३–'जो जीव अन्यवश (अर्थात् सम्यग्दर्शनरहित) है वह भले मुनिवेशधारी हो तथापि संसारी है, नित्य दुःख का भोगनेवाला है; जो जीव स्ववश (अर्थात् सम्यग्दर्शनसहित) है वह जीवन्मुक्त है, जिनेश्वर से किंचित् न्यून है।'

अर्थात् सम्यग्दर्शनसहित मुनि में जिनेश्वरदेव की अपेक्षा जरा सी ही हीनता है अर्थात् वैसे मुनि शीघ्र ही जिनेश्वरपना प्राप्त करनेयोग्य है और सम्यग्दर्शनरहित मुनिवेशधारियों को भी सर्व प्रथम में प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेयोग्य है क्योंकि उसके बिना मोक्षमार्ग ही शुरु नहीं होता–ऐसा उपदेश भी है।

श्लोक २४४–'ऐसा होने से ही जिननाथ के मार्ग में मुनिवर्ग में स्ववश मुनि (अर्थात् सम्यग्दर्शनसहित समताधारी मुनि) सदा शोभता है; और अन्यवश मुनि नौकर के समूह में राजवल्लभ नौकर के समान शोभता है।'

अर्थात् सर्व संसारीजनरूप नौकरों में वह राजवल्लभ अर्थात् ऊँची पदवीवाले नौकर की तरह शोभता है, उससे अधिक नहीं, अर्थात् वैसा मुनि भी ऊँची पदवीवाला संसारी ही है ऐसा बतलाकर सम्यग्दर्शन की ही महिमा समझायी है जो कि एकमात्र सर्व जीवों को कर्तव्य है।

श्लोक २४५–'मुनिवर देवलोकादि के क्लेश के प्रति रति तजो और निर्वाण के कारण का कारण (अर्थात् निर्वाण का कारणरूप निश्चयचारित्र का कारण, ऐसे सम्यग्दर्शन का विषय) ऐसे सहज परमात्मा को भजो–(अर्थात् जो सम्यग्दर्शन का विषय है, ऐसा परमपारिणामिकभाव जो कि आत्मा का सहज परिणमन है और इसलिए ही उसे सहज परमात्मरूप कहा जाता है, कि जिसमें 'मैंपना' करने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है जो कि निश्चय चारित्र का कारण है, इसलिए

इस सम्यग्दर्शन के विषय को निर्वाण के कारण का कारण कहा गया है) कि जो सहज परमात्मा परमानन्दमय है, सर्वथा (अर्थात् तीनों काल-एकान्त से) निर्मल ज्ञान का आवास है, निरावरणस्वरूप है और नय-अनय के समूह से (सुनय और कुनयों के समूह से अर्थात् विकल्पमात्र से) दूर (अर्थात् निर्विकल्प) है।'

गाथा १४५ अन्वयार्थ-'जो द्रव्य-गुण-पर्यायों में (अर्थात् उनके विकल्पों में) मन जोड़ता है, वह भी अन्यवश है; मोहान्धकाररहित श्रमण ऐसा कहते हैं।'

अर्थात् ऊपर बतलाये अनुसार जो निर्विकल्प शुद्धात्मा है, उसमें ही उपयोग लगानेयोग्य है, अन्यथा नहीं। इस अपेक्षा से भेदरूप व्यवहार हेय है, उसका उपयोग वस्तु का स्वरूप समझनेमात्र ही है - जैसे कि द्रव्य-गुण-पर्याय अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रुव और अनन्त गुण इत्यादि; परन्तु वे सर्व भेद विकल्परूप होने से और वस्तु का स्वरूप अभेद होने से, भेदरूप व्यवहार से वस्तु जैसी है वैसी समझकर भेद में न रहकर, अभेद में ही रमनेयोग्य है।

यहाँ किसी को विकल्प हो कि दृष्टि का विषय तो पर्याय से रहित द्रव्य है न?

उत्तर-ऐसा विकल्प करने से वहाँ द्वैत का जन्म होता है अर्थात् एक अभेद द्रव्य में द्रव्य और पर्यायरूप द्वैत का जन्म होने से, अभेद का अनुभव नहीं होता; अर्थात् दृष्टि का विषय अभेद, शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से 'शुद्धात्मा' है और शुद्ध द्रव्यार्थिकनय में पर्याय अत्यन्त गौण हो जाने से ज्ञात ही नहीं होती। अथवा उसका विकल्प भी नहीं आता इसलिए अभेदरूप शुद्धात्मा का अनुभव हो जाता है कि जिसमें विभावपर्याय अत्यन्त गौण है। यही विधि है निर्विकल्प सम्यग्दर्शन की अर्थात् उसमें द्रव्य को पर्यायरहित प्राप्त करने का अथवा किसी भी विभावभाव के निषेध का विकल्प न करके, मात्र दृष्टि के विषयरूप 'शुद्धात्मा' को ही शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से ग्रहण करने पर अन्य सर्व अपने आप ही अत्यन्त गौण हो जाते हैं।

परन्तु जो ऐसा न करके निषेध का ही आग्रह रखते हैं, वे मात्र निषेधरूप विकल्प में ही रहते हैं और निर्विकल्पस्वरूप का अनुभव नहीं कर सकते परन्तु वे मात्र भ्रम में ही रहते हैं और अपने को सम्यग्दृष्टि समझकर अनन्त परावर्तन को आमन्त्रण देते हैं, जो करुणा उपजानेवाली बात है।

श्लोक २४६-'जैसे ईंधनयुक्त अग्नि वृद्धि को प्राप्त होती है (अर्थात् जब तक ईंधन है, तब तक अग्नि की वृद्धि होती है), उसी प्रकार जब तक जीवों को चिन्ता (विकल्प) है, तब तक संसार है।' अर्थात् निर्विकल्पस्वरूप 'शुद्धात्मा' ही उपादेय है।

गाथा १४६ अन्वयार्थ-'जो परभाव को परित्यागकर (अर्थात् दृष्टि में अत्यन्त गौण करके)

निर्मल स्वभाववाले आत्मा को ध्याता है, वह वास्तव में आत्मवश है (अर्थात् स्ववश है) और उसे (निश्चयपरम) आवश्यक कर्म (जिनवर) कहते हैं।' अर्थात् आत्मध्यान वह परम आवश्यक है।

श्लोक २४९-'निर्वाण का कारण ऐसा जो जिनेन्द्र का मार्ग है, उसे इस प्रकार जानकर (अर्थात् जिनेन्द्र कथित निर्वाण का मार्ग यहाँ समझाये अनुसार ही है, अन्यथा नहीं, इसलिए उसे इस प्रकार जानकर) जो निर्वाण सम्पदा को प्राप्त करता है उसे मैं बारम्बार वन्दन करता हूँ।'

श्लोक २५२-'जिसने निज रस के विस्ताररूपी पूर द्वारा पापों को सर्व ओर से धो डाला है (अर्थात् शुद्धात्मा में पापरूप सर्व विभावभाव अत्यन्त गौण होने से अर्थात् ज्ञात ही न होते होने से और उनमें 'मैंपना' भी न होने से ऐसा कहा है), जो सहज समतारस से पूर्ण भरा हुआ होने से पवित्र है (अर्थात् शुद्धात्मा सर्व गुणों के सहज परिणमनरूप परमपारिणामिकभावरूप सहज समतारस से पूर्ण होता है), जो पुराण (अर्थात् शुद्धात्मा सनातन-त्रिकाल शुद्ध) है, जो स्ववश मन में सदा सुस्थित है (अर्थात् सम्यग्दर्शनयुक्त को वह भाव सदा लब्धरूप से होता है) और जो शुद्ध सिद्ध है (अर्थात् शुद्धात्मा, सिद्ध भगवान समान शुद्ध है और इसी अपेक्षा से 'सर्व जीव स्वभाव से सिद्धसमान ही हैं' कहा जाता है) ऐसा सहज तेजराशि में मग्न जीव (अर्थात् स्वात्मानुभूतियुक्त जीव) जयवन्त है।'

गाथा १४७ अन्वयार्थ-'यदि तू (निश्चय परम) आवश्यक को चाहता है तो तू आत्मस्वभावों में (अर्थात् शुद्धात्मा में) स्थिर भाव करता है, उससे जीव को सामायिक गुण सम्पूर्ण होता है।' अर्थात् जो जीव शुद्धात्मा में ही स्थिर भाव करता है, उसे ही कार्यकारी=सच्ची सामायिक कहा है और उसे ही अपूर्व निर्जरा होती है।

श्लोक २५६-'आत्मा को अवश्य मात्र सहज-परम-आवश्यक को एक को ही, कि जो अघसमूह का (दोषसमूह का) नाशक है और मुक्ति का मूल (कारण) है उसे ही-अतिशयरूप से करना (अर्थात् सहज परम-आवश्यक वह कोई शारीरिक अथवा शाब्दिक क्रिया न होने से, मात्र मन की ही क्रिया है अर्थात् अतीन्द्रिय ध्यानरूप होने से अतिशयरूप से करने को कहा है)। (ऐसा करने से) सदा निजरस के फैलाव से पूर्ण भरपूर होने से (अर्थात् शुद्धात्मा में मात्र निज गुणों का सहज परिणमन ही ग्रहण होता है कि जो सम्पूर्ण होने के कारण) पवित्र और पुराण (सनातन-त्रिकाल) ऐसा वह आत्मा वाणी से दूर (वचन अगोचर) ऐसे किसी सहज शाश्वत सुख को (सिद्धों के सुख को) प्राप्त करता है।'

श्लोक २५७-'स्ववश मुनिन्द्र को (अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रयुक्ति मुनिन्द्र को)

उत्तम स्वात्म चिन्तन (निजात्मानुभवन) होता है, और वह (निजात्मानुभवनरूप) आवश्यक कर्म उसे मुक्ति सौख्य का (सिद्धत्व का) कारण होता है।'

गाथा १५१ अन्वयार्थ–'जो धर्मध्यान और शुक्लध्यान में परिणत है वह भी अन्तरात्मा है, ध्यानविहीन (अर्थात् इन दोनों ध्यानविहीन) श्रमण बहिरात्मा है, ऐसा जान।'

गाथा १५४ अन्वयार्थ–'यदि किया जा सके तो अहो! ध्यानमय (स्वात्मानुभूतिरूप शुद्धात्मा के ध्यानमय) प्रतिक्रमणादि कर; यदि तू शक्तिविहीन हो (अर्थात् यदि तुझे सम्यग्दर्शन हुआ न हो और इस कारण से शुद्धात्मानुभूतिरूप ध्यान करने की शक्तिविहीन हो) तो वहाँ तक (अर्थात् जब तक सम्यग्दर्शन न हो तब तक) श्रद्धान ही (अर्थात् यहाँ बतलायी तत्त्व की उसी प्रकार से श्रद्धा) कर्तव्य (अर्थात् करने योग्य) है।'

श्लोक २६४–'असार संसार में, पाप से भरपूर कलिकाल का विलास होने पर, इस निर्दोष जिननाथ के मार्ग में मुक्ति नहीं है, इसलिए इस काल में अध्यात्मध्यान कैसे हो सकता है? इसलिए निर्मल बुद्धिवाले भवभय का नाश करनेवाली ऐसी इस (ऊपर बतलाये अनुसार की) निजात्मश्रद्धा को अंगीकृत करते हैं।' अर्थात् इस काल में सम्यग्दर्शन अत्यन्त दुर्लभ होने से अपने आत्मा की यहाँ बतलाये अनुसार श्रद्धा परम कर्तव्य है अर्थात् वही कार्यकारी=सच्ची भक्ति है।

गाथा १५६ अन्वयार्थ–'नाना प्रकार के (अलग-अलग अनेक प्रकार के) जीव हैं। नाना प्रकार का कर्म है, नाना प्रकार की लब्धि है, इसलिए स्वसमयों (स्वधर्मियों) और परसमयों (परधर्मियों) के साथ वचन विवाद वर्जन योग्य है।'

अर्थात् तत्त्व के लिये कुछ भी वाद-विवाद, वैर विरोध, झगड़ा कभी भी करने योग्य नहीं है क्योंकि उससे तत्त्व की ही पराजय होती है अर्थात् धर्म ही लजाता है और दोनों पक्षों को कुछ भी धर्म प्राप्ति नहीं होती, इसलिए उसमें वाद-विवाद, वैर-विरोध, झगड़ा तजनेयोग्य ही है।

श्लोक २७१–'हेयरूप ऐसा जो कनक और कामिनी सम्बन्धी मोह, उसे छोड़कर (अर्थात् मुमुक्षु जीव को आत्मप्राप्ति के लिये यह मोह छोड़नेयोग्य है), हे चित्त (अर्थात् चेतन)! निर्मल सुख के लिये (अर्थात् अतीन्द्रिय सुख के लिये) परम गुरु द्वारा धर्म को प्राप्त करके तू अव्यग्ररूप (शान्तस्वरूपी) परमात्मा में (अर्थात् निर्विकल्प परमपारिणामिकभावरूप त्रिकाली शुद्ध आत्मा में) कि जो (परमात्मा-शुद्धात्मा) नित्य आनन्दवाला है, निरुपम गुणों से अलंकृत है और दिव्यज्ञानवाला (अर्थात् शुद्ध सामान्य ज्ञानवाला शुद्धात्मा) है उसमें - शीघ्र प्रवेश कर।' अर्थात् सर्व मुमुक्षु जीवों को कनक और कामिनी सम्बन्धी मोह छोड़कर शुद्धात्मा में ही शीघ्र 'मैंपना' करके उसकी ही

अनुभूति में एकरूप हो जाने की प्रेरणा की है अर्थात् सर्व मुमुक्षु जीवों को वही कर्तव्य है।

गाथा १५९ टीका का श्लोक–'वस्तु का यथार्थ निर्णय वह सम्यग्ज्ञान है, वह सम्यग्ज्ञान, दीपक की भाँति स्व और (पर) पदार्थों के निर्णयात्मक है (अर्थात् यह सम्यग्ज्ञान वही विवेकयुक्त ज्ञान है कि जो शुद्धात्मा में 'मैंपना' करता होने पर भी, आत्मा को वर्तमान राग–द्वेषरूप अशुद्धि से मुक्त कराने के लिये, विवेकयुक्त मार्ग अंगीकार कराता है) तथा प्रमीति से (ज्ञप्ति से) कथंचित् भिन्न (अर्थात् जो जानना होता है, वह विशेष अर्थात् ज्ञानाकार है जो कि ज्ञान का ही बना हुआ होने पर भी, उस ज्ञानाकार को दृष्टि का विषय प्राप्त करने में गौण करने में आया होने से और वह ज्ञानाकार तथा ज्ञान कथंचित् अभेद होने से अर्थात् एकान्त से भेद नहीं होने से उन्हें कथंचित् भिन्न कहा) है।'

गाथा १६४ अन्वयार्थ–'व्यवहारनय से ज्ञान परप्रकाशक है; इसलिए दर्शन परप्रकाशक है; व्यवहारनय से आत्मा परप्रकाशक है इसलिए दर्शन परप्रकाशक है।'

अर्थात् जो ज्ञान है अथवा दर्शन है, वही आत्मा है और परप्रकाशन में (ज्ञेयाकाररूप ज्ञान के परिणमन में) सामान्य ज्ञान और ज्ञेयाकार अर्थात् ज्ञानाकार ऐसा भेद होने से, स्व से कथंचित् भिन्न कहलाता है। अर्थात् स्व, अभेद और निर्विकल्पस्वरूप है, जबकि परप्रकाशन में ज्ञेयाकाररूप जो ज्ञान का परिणमन होता है वह विकल्परूप है और इसलिए वह भेदरूप होने से उसे व्यवहाररूप कहा है, क्योंकि भेद वह व्यवहार और अभेद वह निश्चय–ऐसी ही जिनागम की रीति है।

गाथा १७० अन्वयार्थ–'ज्ञान जीव का स्वरूप है, इसीलिए आत्मा, आत्मा को जानता है, यदि ज्ञान आत्मा को न जाने तो आत्मा से व्यतिरिक्त (भिन्न) सिद्ध होगा।'

गाथा १७१ गाथा और अन्वयार्थ–'रे! (इसलिए ही) जीव है वह ज्ञान है और ज्ञान है वह जीव है, इस कारण से निज प्रकाशक ज्ञान तथा दृष्टि है–आत्मा को ज्ञान जान, और ज्ञान आत्मा है ऐसा जान; इसमें सन्देह नहीं इसलिए ज्ञान तथा दर्शन स्व–पर प्रकाशक है।'

अर्थात् जहाँ भी ज्ञान से कथन किया हो, वहाँ पूर्ण आत्मा ही समझना और तदुपरान्त कहीं शास्त्रों में ज्ञान को साकार उपयोगवाला होने के कारण पर को जाननेवाला कहा है, और दर्शन को निराकार उपयोगवाला होने के कारण स्व को जाननेवाला कहा है, इस बात का उपरोक्त गाथाओं से निषेध किया है।

गाथा १७२ अन्वयार्थ–'जानते और देखते हुए भी (अर्थात् केवली भगवन्त स्व–पर को जानते–देखते हैं तो भी) केवली को इच्छापूर्वक (वर्तन) नहीं होता, इसलिए उन्हें 'केवलज्ञानी' कहा है, और इसलिए अबन्धक कहा है' क्योंकि उन्हें पर में इष्ट–अनिष्ट बुद्धि नहीं है अर्थात्

पर का जानना जीव को दोषकारक नहीं परन्तु पर में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि ही नियम से दोषकारक अर्थात् बन्ध का कारण है। जो बात हमने पूर्व में भी बतलायी है।

श्लोक २८७-'आत्मा को ज्ञानदर्शनरूप जान और ज्ञानदर्शन को आत्मा जान; स्व और पर ऐसे तत्त्व को (समस्त पदार्थों को) आत्मा स्पष्टरूप से प्रकाशित करता है।' अर्थात् जहाँ भी ज्ञान से अथवा दर्शन से कथन हुआ हो, वहाँ उसे अपेक्षा से पूर्ण आत्मा ही समझना और उसे नियम से स्व-पर प्रकाशक समझना।

श्लोक २९७-'भाव पाँच हैं, उनमें यह परम पंचम भाव (परमपारिणामिकभाव) निरन्तर स्थायी है (अर्थात् तीनों काल ऐसा का ऐसा ही सहज परिणमनरूप शुद्धभावरूप उपजता है, इस अपेक्षा से स्थायी कहा है), संसार के नाश का कारण है और सम्यग्दृष्टियों को गोचर (अर्थात् अनुभव में आता) है, बुद्धिमान पुरुष समस्त राग-द्वेष के समूह को छोड़कर (अर्थात् द्रव्यदृष्टि से समस्त विभावभावों को अत्यन्त गौण करके) तथा उस परम पंचम भाव को जानकर (अर्थात् शुद्धात्मा की अनुभूति करके) अकेला (अर्थात् शुद्धात्मा की अनुभूति के बाद की साधना आभ्यन्तर होने से अकेला कहा है अथवा इस काल में सम्यग्दर्शन की दुर्लभता दर्शाने के लिये अकेला कहा है), कलियुग में पाप वन के अग्निरूप मुनिवररूप से शोभा देता है।' अर्थात् जो बुद्धिमान पुरुष परमपारिणामिकभाव का उग्ररूप से आश्रय करते हैं, वे ही पुरुष पापवन को जलाने में अग्नि समान मुनिवर हैं।

श्लोक २९९-'आत्मा की आराधनारहित जीव को सापराध (अपराधी) गिनने में आया है (इसलिए) मैं आनन्द मन्दिर आत्मा को (शुद्धात्मा को) नित्य नमन करता हूँ।' अर्थात् आत्मा के लक्ष्य के अतिरिक्त की सर्व साधना-आराधना अपराधयुक्त कही है, क्योंकि उसका फल अनन्त संसार ही है।

इस प्रकार नियमसार शास्त्र में नियम से कारणसमयसाररूप निज शुद्धात्मा जो कि परमपारिणामिकभावरूप अर्थात् सहज परिणमनरूप है, उसे ही जानने को, उसमें ही 'मैंपना' करने को, उसे ही भजने को और उसमें ही स्थिरता करने को कहा है। यही मोक्षमार्ग का निश्चित नियम अर्थात् क्रम है, इसलिए इसे निश्चित नियम का सार अर्थात् नियमसार कहा है।

◆

३३

पंचास्तिकाय संग्रह की गाथायें

अब हम श्री पंचास्तिकाय संग्रह शास्त्र की थोड़ी सी गाथायें देखेंगे-

गाथा १६५ अन्वयार्थ-'शुद्धसम्प्रयोग से (शुद्धरूप परिणमित के प्रति भक्तिभाव से) दु:ख मोक्ष होता है ऐसा यदि अज्ञान के कारण ज्ञानी (अर्थात् सम्यग्दर्शनरहित क्षयोपशम ज्ञानी) माने, तो वह पर समयरत जीव है।' 'अरहंत आदि के प्रति भक्ति-अनुरागवाली मन्द शुद्धि से क्रम से मोक्ष होता है' ऐसा यदि अज्ञान के कारण (शुद्धात्म संवेदन के अभाव के कारण, रागांश के कारण) ज्ञानी को (अर्थात् क्षयोपशम ज्ञानी को) भी मन्द पुरुषार्थवाला झुकाव वर्ते, तो वहाँ तक वह भी सूक्ष्म पर समयरत है।' अर्थात् शुभभावरूप जिनभक्ति से मुक्ति मिलती है, ऐसा जो मानता है वह मिथ्यात्वी है।

गाथा १६६ अन्वयार्थ-'अरहंत, सिद्ध, चैत्य (अरहंत आदि की प्रतिमा), प्रवचन (शास्त्र), मुनिगण और ज्ञान के प्रति भक्ति सम्पन्न जीव बहुत पुण्य बाँधता है, परन्तु वह वास्तव में कर्म का क्षय नहीं करता।'

अर्थात् मोक्षमार्ग मात्र स्वात्मानुभूतिरूप सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त मिलता ही नहीं, यही दृढ़ कराना है, इसलिए सर्वजनों को सम्यग्दर्शन के लिये ही सर्व प्रयत्न करना; यही बात अब आगे भी बतलाते हैं।

गाथा १६९ अन्वयार्थ-'इसलिए मोक्षार्थी जीव (मुमुक्षु) नि:संग (अर्थात् अपने को शुद्धात्मरूप अनुभव करके, क्योंकि वह भाव त्रिकाल नि:संग है) और निर्मम (सबके प्रति ममता त्यागकर अर्थात् सर्व संयोगभाव में आदर छोड़कर निर्मम) होकर सिद्धों की (अभेद) भक्ति (शुद्ध आत्मद्रव्य में स्थिरतारूप पारमार्थिक सिद्ध भक्ति) करता है, इसलिए वह निर्वाण को पाता है (अर्थात् मुक्त होता है)।' हमने पूर्व में बतलाये अनुसार शुद्धात्मा की अभेद भक्ति ही मोक्षमार्ग में कार्यकारी है, नहीं कि अन्ध भक्ति अथवा व्यक्ति रागरूप भक्ति।

गाथा १७२ अन्वयार्थ-'इसलिए मोक्षाभिलाषी जीव (मुमुक्षु) सर्वत्र किंचित् राग न करो; ऐसा करने से वह भव्य जीव वीतराग होकर भवसागर को तिरता है।' अर्थात् मोक्षाभिलाषी जीव को मत, पंथ, सम्प्रदाय, व्यक्तिविशेष इत्यादि कहीं भी राग करनेयोग्य नहीं है।

* * *

३४

अष्टपाहुड़ की गाथायें

अब हम अष्टपाहुड़ शास्त्र की थोड़ी सी गाथायें देखेंगे-

'दर्शनपाहुड़' गाथा ८ अर्थ-'जो पुरुष दर्शन में भ्रष्ट है (अर्थात् मिथ्यात्वी है) तथा ज्ञान चारित्र में भी भ्रष्ट है, वे पुरुष भ्रष्ट में भी विशेष (अति) भ्रष्ट है, कोई तो दर्शनसहित है परन्तु ज्ञानचारित्र उन्हें होता नहीं, तथा कोई अन्तरंग दर्शन से भ्रष्ट है तो भी ज्ञान-चारित्र का भलीभाँति पालन करते हैं (यहाँ ज्ञान अर्थात् जिनागम का क्षयोपशम ज्ञान लेना) और जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों से भ्रष्ट हैं, वे तो अत्यन्त भ्रष्ट हैं; वे स्वयं तो भ्रष्ट हैं परन्तु बाकी के अर्थात् अपने अतिरिक्त अन्य जनों को भी भ्रष्ट करते हैं।'

इस गाथा से स्पष्ट होता है कि जिन सिद्धान्त में अनेकान्त प्रवर्तता है अर्थात् जिन सिद्धान्त में प्रत्येक कथन अपेक्षा से ही होता है और इसलिए कोई स्वच्छन्दता से ऐसा कहे कि सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त अभ्यासार्थ और पाप से बचने के लिये भी अहिंसादि व्रत-तप नहीं होते, उन्हें यहाँ भ्रष्ट से भी अतिभ्रष्ट कहा है और अन्यों को भी वे भ्रष्टरूप प्रवर्तन करानेवाले कहे हैं।

अर्थात् इस काल में सम्यग्दर्शन अति दुर्लभ होने के कारण, यदि कोई मिथ्यात्वी जीव (अर्थात् दर्शनविहीन जीव अथवा दर्शनभ्रष्ट जीव) ज्ञान अथवा चारित्र की आराधना करे, तो उसमें कुछ भी गलत नहीं है, मात्र वह ज्ञान और चारित्र उसे मुक्ति दिलाने में शक्तिमान नहीं होने से और गुणस्थान अनुसार नहीं होने से, वे उसे मात्र अभ्यासरूप और शुभभावरूप ही है, परन्तु उसकी कोई मनाही नहीं है, अपितु उसके लिये यहाँ प्रोत्साहन दिया है, इसलिए सर्व को जिन सिद्धान्त सर्व अपेक्षा से समझना अत्यन्त आवश्यक है, नहीं कि एकान्त से, क्योंकि एकान्त अनेकों के परम अहित का कारण होने में सक्षम है।

'भावपाहुड़' गाथा ८६ अर्थ-'अथवा जो पुरुष आत्मा को इष्ट करता नहीं (अर्थात् जिसका लक्ष्य आत्मप्राप्ति नहीं) उसका स्वरूप जानता नहीं (अर्थात् आत्मस्वरूपरूप वस्तु व्यवस्था का सत्यज्ञान नहीं), अंगीकार नहीं करता (अर्थात् आत्मा का अनुभव न करता होने से मिथ्यात्वी है) और सर्व प्रकार के समस्त पुण्य करता है तो भी सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त नहीं करता परन्तु वह पुरुष संसार में ही भ्रमण करता है।'

अर्थात् जिसका लक्ष्य आत्म-प्राप्ति नहीं, ऐसा जीव सर्व प्रकार के समस्त पुण्य करता

है तो भी सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त नहीं करता परन्तु वह पुरुष संसार में ही भ्रमण करता है इसलिए सर्व मोक्षेच्छुकों को पूर्व में हमने देखा वैसा एकमात्र आत्मा के लक्ष्य से ही शुभ में रहना और अशुभ का त्याग करना, ऐसा है विवेक। अर्थात् पाप का तो त्याग ही; और एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से जो भाव हो वह नियम से शुभ ही हो, ऐसी है सहज व्यवस्था, परन्तु जो कोई इससे विपरीत ग्रहण करे तो उसके तो अब बाद के भावों का भी ठिकाना नहीं रहेगा और जिनधर्म इत्यादिरूप उत्तम संयोग भी प्राप्त होना दुर्लभ हो जायेंगे। इसलिए शास्त्र में से छल ग्रहण नहीं करना, अन्यथा अनन्त संसार-भ्रमण ही प्राप्त होगा जो कि अनन्त दु:ख का कारण है।

'मोक्षपाहुड़' गाथा ९ अर्थ-'मिथ्यादृष्टि पुरुष अपने देह समान दूसरे की देह को देखकर, यह देह अचेतन है तो भी, मिथ्याभाव से आत्मभाव द्वारा बहुत प्रयत्न से, उसे पर का आत्मा ही मानता है, अर्थात् समझता है।'

मिथ्यात्वी जीव इसी प्रकार से देहभाव पुष्ट करता है। यदि वह साक्षात् समोसरण में भी जाये तो भगवान के देह को ही आत्मा मानकर अथवा यदि वह मन्दिर में जाये तो भगवान की मूर्तिरूप देह को ही आत्मा मानता है और पूजता है और ऐसा करके वह अपना देहाध्यास ही पक्का करता है अर्थात् देहाध्यास ही दृढ़ करता है।

गाथा १८ अर्थ-'संसार के दु:ख देनेवाले ज्ञानावर्णादिक दुष्ट आठ कर्मों से रहित है (अर्थात् जो सम्यग्दर्शन के विषयरूप शुद्धात्मा है, उसमें द्रव्यदृष्टि से सर्व विभावभाव अस्त हुआ है अर्थात् अत्यन्त गौण हो गया है, इसलिए वह दुष्ट आठ कर्मों से रहित कहा है।) जिसे किसी की उपमा नहीं दी जा सकती, ऐसा अनुपम है, जिसका ज्ञान वही शरीर है (अर्थात् जो सामान्य ज्ञानमात्र भाव है, वह ही, परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा है वह ही), जिसका नाश नहीं होता ऐसा अविनाशी-नित्य है और शुद्ध अर्थात् विकाररहित है, वह केवलज्ञानमयी आत्मा (अर्थात् सर्व गुणों के सहज परिणमनरूप परमपारिणामिकभाव कि जिसे शुद्धात्मा भी कहा जाता है, उसके सर्व गुण शुद्ध ही परिणमते हैं, इस अपेक्षा से केवलज्ञानमयी कहा है और दूसरा ऊपर बतलाये अनुसार जिसका ज्ञान ही शरीर है अर्थात् वह ज्ञानमात्र भाव होने से उसे केवलज्ञानमयी कहा है) जिन भगवान सर्वज्ञ ने कहा है, वही स्वद्रव्य (अर्थात् वही मेरा स्व है और उसमें ही मेरा मैंपना/एकत्व करनेयोग्य है, इस अपेक्षा से उसे स्वद्रव्य कहा) है।' यह परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा ही उपादेय है और उसमें ही 'मैंपना' करने से स्वात्मानुभूतिरूप सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, ऐसा इस गाथा में बतलाया है।

गाथा २० अर्थ-'योगी-ध्यानी-मुनि हैं, वे जिनवर भगवान के मत से शुद्धात्मा को ध्यान

में ध्याते हैं (अर्थात् एकमात्र शुद्धात्मा का ही ध्यान करनेयोग्य है, वही उत्तम है और उसके ध्यान से ही योगी कहलाता है), इसलिए निर्वाण को प्राप्त करता है, तो उससे क्या स्वर्गलोक प्राप्त नहीं हो सकता? अवश्य ही प्राप्त हो सकता है।'

अर्थात् अनेक लोग स्वर्ग की प्राप्ति के लिये नाना प्रकार के अनेक उपाय करते देखने में आते हैं तो उस उपाय से तो कदाचित् क्षणिक स्वर्ग प्राप्त हो भी अथवा न भी हो, परन्तु परम्परा में तो उसे अनन्त संसार ही मिलता है; जबकि शुद्धात्मा का अनुभवन और ध्यान से मुक्ति मिलती है और मुक्ति न मिले तब तक स्वर्ग और स्वर्ग जैसा ही सुख होता है, इसलिए सभी को उसी का ध्यान करनेयोग्य है कि जो मुक्ति का मार्ग है और उस मार्ग में स्वर्ग तो सहज ही होता है, उसकी याचना नहीं होती ऐसा बतलाया है।

गाथा ६६ अन्वयार्थ–'जब तक मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में अपने मन को जोड़े रखता है (अर्थात् मन में इन्द्रियों के विषयों के प्रति आदरभाव वर्तता है), तब तक आत्मा को नहीं जानता (क्योंकि उसका लक्ष्य विषय है, आत्मा नहीं; इसलिए ही पूर्व में हमने कहा था कि 'मुझे क्या रुचता है?' यह मुमुक्षु जीव को देखते रहना चाहिए और उससे अपनी योग्यता की खोज करते रहना चाहिए और यदि योग्यता न हो तो उसका पुरुषार्थ करना आवश्यक है) इसलिए विषयों से विरक्त चित्तवाले योगी–ध्यानी–मुनि ही आत्मा को जानते हैं।' इस गाथा में आत्मप्राप्ति के लिये योग्यता बतलायी है।

'शीलपाहुड़' गाथा ४ अर्थ–'जब तक यह जीव विषयबल अर्थात् विषयों के वश रहता है, तब तक ज्ञान को नहीं जानता और ज्ञान को जाने बिना केवल विषयों से विरक्त होनेमात्र से ही पहले बाँधे हुए कर्मों का नाश नहीं होता।'

अर्थात् विषय विरक्ति वह कोई ध्येय नहीं परन्तु सम्यग्दर्शन जो कि ध्येय है, उसके लिये आवश्यक योग्यता है और वह भी एकमात्र आत्मलक्ष्य से ही होना चाहिए कि जिससे उससे आगे आत्मज्ञान होते ही, अपूर्व निर्जरा बतलायी है, परन्तु आत्मज्ञान के लक्ष्यरहित की मात्र विषय विरक्ति कर्म नष्ट करने में कार्यकारी नहीं है ऐसा बतलाया है, अर्थात् मुमुक्षु जीवों को एकमात्र आत्मलक्ष्य से विषय विरक्ति करना अत्यन्त आवश्यक है।

❦

३५

सम्यग्दर्शन और मोक्षमार्ग

यहाँ तक जो भाव हमने दृढ़ किये वे यह है कि सम्यग्दर्शन और बाद में मोक्षमार्ग तथा मुक्ति के लिये प्रत्येक को लक्ष्य में लेने योग्य कोई वस्तु हो तो वह है सम्यग्दर्शन का विषय जो कि परमपारिणामिकभावरूप अर्थात् आत्मा के सहज परिणमनरूप शुद्धात्मा है जो कि मुक्ति का कारण होने से कारणसमयसार अथवा कारणशुद्धपर्यायरूप के रूप में भी बतलाया है, उसके बहुत नाम प्रयोग में आते हैं, परन्तु उसमें से शब्द नहीं पकड़कर, एकमात्र शुद्धात्मरूप भाव जैसे कहा है वैसे लक्ष्य में लेना आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना मोक्षमार्ग में प्रवेश ही नहीं। इस कारण से भेदज्ञान कराने को, आध्यात्मिक शास्त्र उसे 'स्वतत्त्व' रूप आत्मा मानते हैं और बाकी के जो आत्मा के समस्त भाव हैं, उनका आत्मा में 'निषेध' करते हैं। उसे ही 'नेति-नेति' रूप कहा जाता है अर्थात् निश्चयनयरूप निषेध भी कहा जाता है इसलिए ही समयसार अथवा नियमसार जैसे आध्यात्मिक शास्त्रों का प्राण-हार्द मात्र यह शुद्धात्मा ही है और वे शास्त्र भेदज्ञान के शास्त्र हैं, जिससे मुमुक्षु जीव अपने विभावभाव से भेदज्ञान करके 'शुद्धात्मा' का अनुभव करे और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करके मोक्षमार्ग में आगे बढ़कर परम्परा से मुक्त हो, यही इस शास्त्र का एकमात्र उद्देश्य है। इसलिए इस शास्त्र को इसी उद्देश्य से अर्थात् इस अपेक्षा से समझना अत्यन्त आवश्यक है, नहीं कि एकान्त से।

जैसे कि ये शास्त्र पढ़कर लोग ऐसा कहने लगते हैं कि मुझमें तो राग है ही नहीं, मैं राग करता ही नहीं, इत्यादि और वे उसके उद्देश्यरूप भेदज्ञान न करके, उसका ही आधार लेकर स्वच्छन्दता से राग-द्वेषरूप ही परिणमे और वह भी किंचित् भी अफसोस बिना, इससे बड़ी करुणता क्या होगी? अर्थात् इससे बड़ा पतन क्या होगा? अर्थात् यह महापतन ही है। क्योंकि जो शास्त्र भेदज्ञान करके मुक्त होने के लिये है, उसे लोग एकान्त से शब्दश: समझकर-जानकर स्वच्छन्दता से परिणमकर, अपने अनन्त संसार का कारण होते है और वे मानते हैं कि हम सबकुछ ही समझ गये, हम अन्य से ऊँचे/बड़े हैं क्योंकि अन्य को तो इस बात की खबर ही नहीं कि आत्मा राग करता ही नहीं, आत्मा में राग है ही नहीं इत्यादि; यह है स्वच्छन्दता से शब्दों को पकड़कर एकान्तरूप परिणमन कि जो समयसार अथवा नियमसार जैसे शास्त्र का प्रयोजन ही नहीं है। अपितु राग, वह आत्मा में जाने की सीढ़ी है, क्योंकि जो राग है वह आत्मा का विशेष भाव है, कि

जिसे गौण करते ही शुद्धात्मा ज्ञात होता है अर्थात् सर्व विशेष भाव साधनरूप हैं और उन्हें गौण करते ही, वे जिसके बने हुए हैं वह परमपारिणामिकभाव साध्यरूप है। यह विधि है सम्यग्दर्शन की। क्योंकि स्थूल से ही सूक्ष्म में जाया जाता है अर्थात् प्रगट से ही अप्रगट में जाया जाता है अर्थात् व्यक्त से ही अव्यक्त में जाया जाता है, यही नियम है। आध्यात्मिक शास्त्र भेदज्ञान कराने के लिये विभावभाव को जीव का नहीं है ऐसा कहते हैं क्योंकि उनमें 'मैंपना' नहीं करना है अर्थात् सम्यग्दर्शन के लिये मात्र 'शुद्धात्मा' में ही 'मैंपना' करने का होने से इन शास्त्रों में जीव के अन्य भावों को पुद्गल के भाव अर्थात् परभाव कहा है; नहीं कि स्वच्छन्दता से परिणमने के लिये।

अर्थात् आत्मा में राग होता ही नहीं, ऐसा शास्त्र का अभिप्राय ही नहीं है परन्तु उस रागरूप विभावभाव से भेदज्ञान कराने के लिये उसे पुद्गल का बतलाया है। जैन सिद्धान्त का विवेक तो यह है कि 'मैंपना' मात्र शुद्धात्मा में और ज्ञान प्रमाण का अर्थात् अशुद्धरूप परिणमित पूर्ण आत्मा का और ऐसा विवेक करके, वह मुमुक्षु वैसे रागरूप उदयभाव से हमेशा के लिये मुक्त होने का प्रयत्न (पुरुषार्थ) आदरता है, नहीं कि वे मेरे नहीं, मैं करता नहीं इत्यादि कहकर उन्हें पोषण करने का स्वच्छन्द आचरता है।

ऐसी है विपरीत समझ की करुणा, अर्थात् विभावभाव ज्ञानी अथवा मुमुक्षु जीव को एक समय भी सहन करने जैसा नहीं लगता क्योंकि वह भाव तो आत्मा को (अर्थात् मुझे) बन्धनरूप है, दु:खरूप है; इसलिए ऐसे भाव का पोषण तो कोई (ज्ञानी अथवा मुमुक्षु कोई) भी नहीं करे; अर्थात् जो स्वच्छन्दता से ऐसे भावों का पोषण करते हैं, वे अपना परम अहित ही कर रहे हैं और वे शास्त्रों का मर्म ही समझे नहीं हैं ऐसा अत्यन्त अफसोससह-करुणासह कहना आवश्यक ही है।

हमने यहाँ तक जो शुद्धात्मा का वर्णन किया, वही हम बारम्बार अनुभवते हैं और उसे ही शब्दों में वर्णन करने का हमने प्रयत्न किया है, कि जो शक्य ही नहीं क्योंकि उसे शब्दों में भगवान भी नहीं कह सकते। इसलिए हम आपसे निवेदन करते हैं कि आप यहाँ तक की हुई स्पष्टता से और आगे समयसार के आधार से विशेष स्पष्टता करनेवाले हैं, उन दोनों का मर्म समझकर आप भी 'स्वतत्त्व' का अनुभव करके और परमसुख-शान्ति-परमानन्दरूप मुक्ति को प्राप्त करो; बस इसी एकमात्र प्रयोजन से यह सब लिखा है।

* * *

३६

समयसार अनुसार सम्यग्दर्शन का विषय

श्री समयसार पूर्वरंग, गाथा २ गाथार्थ–'हे भव्य! जो जीव दर्शन–ज्ञान–चारित्र में स्थित हो रहा है, उसे निश्चय से स्वसमय जान (अर्थात् जो दर्शन–ज्ञान–चारित्र और अनन्त गुणों के सहज परिणमनरूप परमपारिणामिकभाव में ही 'मैंपना' स्थापित करके उसमें ही स्थित हुआ है उसे स्वसमय अर्थात् सम्यग्दृष्टि जान); और जो जीव पुद्गल कर्मों के प्रदेशों में स्थित है उसे परसमय (अर्थात् जो विभावभावसहित के जीव में 'मैंपना' करते हैं उसे मिथ्यात्वी जीव) जान।'

यहाँ समझना यह है कि दर्पण के दृष्टान्त से जैसे दर्पण के स्वच्छत्वरूप परिणमन में जो 'मैंपना' करता है वह स्वसमय अर्थात् प्रतिबिम्ब को गौण करके मात्र दर्पण को जानना–जैसे कि आत्मा के सहज परिणमनरूप परमपारिणामिकभाव=ज्ञानसामान्यभाव=निष्क्रियभाव में प्रतिबिम्बरूप से बाकी के चार भाव रहे हुए हैं तो उन चार भावों को गौण करके मात्र स्वच्छत्वरूप परमपारिणामिकभाव=स्वसमय में ही 'मैंपना' करना। ऐसा किस प्रकार हो सकता है? तो उसकी विधि आचार्य भगवन्त ने गाथा ११ में कतक फलरूप बुद्धि से ऐसा हो सकता है, यह बतलाया है और गाथा २९४ में प्रज्ञाछैनी द्वारा यही प्रक्रिया करने को बतलाया है। यहाँ समझना यह है कि पर्यायरहित का द्रव्य अर्थात् आत्मा के चार भावों को गौण करके=रहित करके पंचम भावरूप द्रव्य की प्राप्ति जो कि कतक फलरूप बुद्धि से अथवा प्रज्ञारूपी छैनी से ही हो सकती है, अन्यथा नहीं। आचार्य भगवन्त ने कोई भौतिक छैनी से जीव में भेदज्ञान करने को नहीं कहा है क्योंकि जीव एक अभेद–अखण्ड–ज्ञानघनरूप द्रव्य है। इसलिए वह पर्यायरहित का द्रव्य प्राप्त करने के लिये प्रज्ञाछैनीरूप बुद्धि से चार भाव को गौण करके शेष रहे हुए एक भाव जो कि परमपारिणामिकभावरूप है जो कि सदा ऐसा का ऐसा ही उपजता है, उसमें 'मैंपना' करने को कहा है, उसे ही 'स्वसमय' कहा है कि जिसे जानते ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

गाथा २ टीका–आचार्य भगवन्त टीका में बतलाते हैं कि '....यह जीव पदार्थ कैसा है? सदा ही परिणामस्वरूप स्वभाव में रहा हुआ होने से (परमपारिणामिकभावरूप होने से) उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य की एकतारूप अनुभूति (अर्थात् अनुभूति अभेद द्रव्य की ही होती है अर्थात् अनुभूतिरूप भगवान आत्मा=जीवराजा=द्रव्य–पर्याय की एकतारूप होता है। क्योंकि पर्याय न हो तो वह द्रव्य ही न हो अर्थात् कि भौतिक छैनी से पर्याय को न निकालकर, प्रज्ञाछैनी से परभावरूप

चार भावों को निकालकर अर्थात् गौण करके जो परमपारिणामिकभावरूप=सहज भवनरूप आत्मा शेष रहे, उसमें 'मैंपना' करते ही अनुभूति प्रगट होती है, वह अनुभूति) जिसका लक्षण है, ऐसी सत्ता से सहित है... और कैसा है? अपने और परद्रव्यों के आकारों को प्रकाशित करने की सामर्थ्य होने से (अर्थात् स्व-पर प्रकाशकपना स्वभाविक है, उसमें भी यदि पर को निकाल दोगे तो स्व ही नहीं रहेगा, क्योंकि जहाँ पर का प्रकाशन होता है वह स्व तो ज्ञान ही है=आत्मा ही है। वहाँ भी प्रकाशन गौण करना है, निषेध नहीं; पर प्रकाशन गौण करते ही ज्ञान=आत्मभाव=ज्ञायकभाव प्राप्त होता है) जिसने समस्त रूप को प्रकाशित करनेवाला एकरूपपना प्राप्त किया है (अर्थात् जो समस्त रूप को प्रकाशित करता है, कि जिसे गौण करते ही-जो भाव=ज्ञान शेष रहता है, वही ज्ञानरूप एकपना प्राप्त किया है अर्थात् ज्ञानघनपना प्राप्त किया है)। इस विशेषण से, ज्ञान अपने को ही जानता है पर को नहीं जानता ऐसे एकाकार ही माननेवाले का तथा अपने को नहीं जानता परन्तु पर को जानता है ऐसा अनेकाकार ही माननेवाले का व्यवच्छेद हुआ। (यहाँ समझना यह है कि कोई भी एकान्त मान्यता जिनमत बाह्य है और ऐसा जो कथन है कि अन्त में तो अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त प्राप्त करने के लिये ही है-उसका हार्द ऐसा ही है कि जो पाँच भावरूप जीव का वर्णन है जो कि अनेकान्तरूप है, वह परमपारिणामिकभावरूप सम्यक् एकान्त प्राप्त करने के लिये है। नहीं कि 'आत्मा वास्तव में पर को जानता ही नहीं' अथवा 'किसी भी अपेक्षा से उस आत्मा में राग-द्वेष हैं ही नहीं' - इत्यादि एकान्त प्ररूपणाओंरूप जो कि जिनमत बाह्य ही गिनी जाती है) ....जब यह (जीव), सर्व पदार्थों के स्वभाव को प्रकाशित करने में समर्थ ऐसे केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाली भेदज्ञान ज्योति का उदय होने से, सर्व परद्रव्यों से छूटकर दर्शन-ज्ञानस्वभाव में (यहाँ सर्व गुण समझना) नियत वृत्तिरूप (अस्तित्वरूप) (पर्यायरूप=परमपारिणामिकभावरूप= कारणशुद्धपर्यायरूप) आत्मतत्त्व के साथ एकत्वगतरूप से वर्तता है (मात्र उसमें ही 'मैंपना' करता है) तब दर्शन-ज्ञान-चारित्र में (यहाँ सर्व गुण समझना) स्थित होने से युगपद स्व को एकत्वपूर्वक जानता तथा स्व-रूप से एकत्वपूर्वक परिणमता (अर्थात् मात्र सहज आत्मपरिणतिरूप =परमपारिणामिकभावरूप=कारणशुद्धपर्यायरूप आत्मा में ही 'मैंपना' करता हुआ) ऐसा वह 'स्वसमय' (सम्यग्दर्शनी है) ऐसी प्रतीति की जाती है... मोह उसके उदय अनुसार प्रवृत्ति के आधीनपने से, दर्शन-ज्ञानस्वभाव में नियत वृत्तिरूप आत्मतत्त्व से (अर्थात् दृष्टि का विषय =कारणशुद्धपर्याय=परमपारिणामिकभाव से) छूटकर परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न मोह-राग-द्वेषादिभावों के साथ एकत्वगतरूप से (एकपना मानकर) (पाँच भावरूप जीव में 'मैंपना' करके) वर्तता है तब... वह परसमय है (अर्थात् मिथ्यात्वी ही है)।'

गाथा ३ गाथार्थ–'एकत्व निश्चय को प्राप्त जो समय है (अर्थात् जिसने मात्र शुद्धात्मा में ही 'मैंपना' करके सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है, वैसा आत्मा) इस लोक में सर्वत्र सुन्दर है (अर्थात् वैसा जीव भले नरक में हो या स्वर्ग में हो अर्थात् दु:ख में हो या सुख में हो परन्तु वह सुन्दर अर्थात् स्व में स्थित है) इसलिए एकत्व में दूसरे के साथ बन्ध की कथा (अर्थात् बन्धरूप विभावभावों में 'मैंपना' करते ही मिथ्यात्व का उदय होने से) विसंवाद–विरोध करनेवाली (अर्थात् संसार में अनन्त दु:खरूप फल देनेवाली) है।' और दूसरा, जो आत्मद्रव्य अन्य कर्म–नोकर्मरूप पुद्‌गल द्रव्य के साथ बंधकर रहा है उसमें विसंवाद है अर्थात् दु:ख है, जब वही आत्मद्रव्य उस पुद्‌गलद्रव्य के साथ के बन्धन से मुक्त होता है, तब वह सुन्दर है अर्थात् आव्याबाध सुखी है।

गाथा ४ गाथार्थ–'सर्व लोक को काम–भोग सम्बन्धी बंध की कथा तो सुनने में आ गयी है (अर्थात् संसारीजन उसमें तो बहुत ही होशियार होते ही हैं), परिचय में आ गयी है और अनुभव में भी आ गयी है (अर्थात् दूसरों को वैसा करते देखा है और स्वयं भी उस रूप परिणमकर अनुभव किया है) इसलिए सुलभ है (अर्थात् वह उसे बराबर समझते हैं और उसे ही एकमात्र जीव के लक्ष्यरूप मानकर, उसके पीछे ही दौड़ते हैं); परन्तु भिन्न आत्मा का (अर्थात् भेदज्ञान से प्राप्त शुद्धात्मा का) एकपना होना कभी सुना नहीं (अर्थात् उसमें ही 'मैंपना'=एकत्व प्राप्त करनेयोग्य है, ऐसा कभी सुना ही नहीं), परिचय में आया नहीं (अर्थात् बात में अथवा पढ़ने में अथवा उपदेश में आया नहीं), और अनुभव में भी आया नहीं (इसलिए उसे अनुभव भी नहीं किया अर्थात् स्वात्मानुभूति भी नहीं हुई) इसलिए एक वह सुलभ नहीं है।'

पाँच इन्द्रियों के जो विषय हैं, उनमें से शब्द और रूप को काम कहा जाता है तथा गन्ध, रस और स्पर्श को भोग कहा जाता है। पाँचों मिलकर काम–भोग कहलाते हैं, जिसके विषय में बहुभाग लोगों को रस होने से (कि जिसमें रस रखने योग्य नहीं है) उनकी कथा सुलभ है परन्तु इस काल में शुद्धात्मा की बात अति दुर्लभ है जो कि हम यहाँ (समयसार में) बतलानेवाले हैं, ऐसा भाव है आचार्य भगवन्त का इस गाथा में।

गाथा ५ गाथार्थ–'वह एकत्व–विभक्त (अर्थात् अभेदरूप और भेदरूप) आत्मा को मैं आत्मा के निज वैभव से दिखाता हूँ; (अर्थात् बतलाता हूँ), यदि मैं दिखाऊँ तो प्रमाण (स्वीकार) करना और यदि कहीं चूक जाऊँ तो छल (अर्थात् उल्टा–विपरीत–नुकसानकारक) ग्रहण नहीं करना।' अर्थात् इस शास्त्र से स्वच्छन्द ग्रहण करके तुम ठगा जाओ, वैसा मत करना, क्योंकि वह स्वच्छन्द अनन्त संसार का कारण है, ऐसा आचार्य भगवन्त ने इस गाथा में बतलाया है।

गाथा ६ गाथार्थ-'जो ज्ञायकभाव है (अर्थात् जो ज्ञानसामान्यरूप, सहज परिणमनरूप, परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा है) वह अप्रमत्त भी नहीं और प्रमत्त भी नहीं (अर्थात् उसमें सर्व विशेषभावों का अभाव है क्योंकि वह सामान्य ज्ञानमात्र भाव अर्थात् गुणों के सहज परिणमनरूप सामान्यभाव ही है कि जिसमें विशेष का अभाव ही होता है)-इस प्रकार उसे शुद्ध कहते हैं (अर्थात् वर्तमान में शुद्ध न होने पर भी उसका जो सामान्यभाव है वह त्रिकाली शुद्ध होने के कारण उसे शुद्ध कहने में आता है), और जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ (अर्थात् जो जाननेवाला है) वह तो वही है (अर्थात् जो जानने की क्रिया है, उसमें से प्रतिबिम्बरूप ज्ञेय अर्थात् ज्ञानाकार को गौण करते ही वह ज्ञायक अर्थात् परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा ज्ञात होता है, अनुभव में आता है; यही सम्यग्दर्शन की विधि है अर्थात् जो जाननेवाला है, वह ही ज्ञायक है), दूसरा कोई नहीं।'

अर्थात् ज्ञायक दूसरा और जानने की क्रिया दूसरी, ऐसा नहीं है अर्थात् ज्ञायक ही जाननेरूप परिणमित हुआ है; इसलिए ही जाननक्रिया में से ज्ञानाकाररूप प्रतिबिम्ब गौण करते ही, ज्ञायक हाजरा-हुजूर ही है अर्थात् आत्मा में से अप्रमत्त और प्रमत्त इन दोनों विशेष भावों को गौण करते ही ज्ञायकभाव प्राप्त होता है। पूर्व में हमने यह बात सिद्ध की ही है कि पर्याय ज्ञायकभाव की ही बनी हुई है, इसलिए उसमें से विशेष भाव को गौण करते ही ज्ञायक अर्थात् सामान्य भाव प्रगट होता है, प्राप्त होता है; यही विधि है सम्यग्दर्शन की।

गाथा ६ टीका-'जो स्वयं अपने से ही सिद्ध होने से (अर्थात् किसी से उत्पन्न हुआ नहीं होने से) अनादि सत्तारूप है और कभी विनाश को प्राप्त नहीं होने से अनन्त है, नित्य उद्योतरूप होने से (अर्थात् सहज आत्मपरिणमनरूप=परमपारिणामिकभावरूप=कारणशुद्धपर्यायरूप होने से) क्षणिक नहीं है और स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति है, ऐसा जो ज्ञायक एक 'भाव' है (अर्थात् परमपारिणामिकभाव है), वह संसार की अवस्था में अनादि बन्धपर्याय की निरूपणा से (अपेक्षा से) क्षीर-नीर की भाँति कर्म पुद्गलों के साथ एकरूप होने पर भी (अर्थात् परमपारिणामिकभावरूप जीव के सहज परिणमन में ही बाकी के चार भाव होते हैं जो कि हमने पूर्व में बतलाये ही हैं और समयसार गाथा १६४-१६५ में भी बतलाया ही है कि 'संज्ञ आस्रव जो कि जीव में ही होते हैं, वे जीव के ही अनन्य परिणाम हैं'=जीव ही उस रूप परिणमित हुआ है अर्थात् जीव में एक शुद्धभाग और दूसरा अशुद्धभाग ऐसा नहीं समझकर, समझना ऐसा है कि जीव उदय-क्षयोपशमभावरूप परिणमित हुआ है अर्थात् जीव में छिपे हुए स्वच्छत्वरूप जो जीव का परिणमन है जो कि परमपारिणामिकभाव कहलाता है, वह भाव ही अन्य चार भाव का सामान्य भाव है अर्थात् जीव

में अन्य चार भावों को गौण करके परमपारिणामिकभाव में 'मैंपना' करते ही एक ज्ञायकभाव अनुभव में आता है, यही अनुभव की विधि है। जैसे कि राग-द्वेषरूप परिणमित जीव रागी-द्वेषी ज्ञात होने पर भी, वर्तमान में उस रूप होने पर भी, उन राग-द्वेष को गौण करते ही परमपारिणामिकभाव ज्ञात होता है, वह उसका 'स्व'भाव है कि जिसमें 'मैंपना' करते ही वह जीव 'स्वसमय'=सम्यग्दर्शनी होता है) द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से (ऊपर बताया हुआ द्रव्य का 'स्व' भाव= परमपारिणामिकभाव=कारणशुद्धपर्याय से) देखा जाये तो दुरन्त कषायचक्र के उदय की (अर्थात् कषाय के समूह के अपार उदयों की) विचित्रता के वश प्रवर्तमान जो पुण्य-पाप को उत्पन्न करनेवाले समस्त अनेकरूप शुभ-अशुभभाव, उनके स्वभावरूप नहीं परिणमता (अर्थात् द्रव्य का स्वभाव, वह परमपारिणामिकभावरूप है जो कि प्रमत्त भी नहीं और अप्रमत्त भी नहीं; वह मात्र एक ज्ञायकभावरूप है) इसलिए प्रमत्त भी नहीं और अप्रमत्त भी नहीं; वही समस्त अन्य द्रव्यों के भावों से (अर्थात् जीव के चार भाव कि जिसमें अन्य द्रव्य का नैमित्तिकपना है) भिन्नरूप से (अर्थात् जीव के चार भावों को गौण करने पर पंचम भावरूप=परमपारिणामिकभावरूप) उपासित किये जाने पर शुद्ध कहलाता है। (यहाँ यह समझना आवश्यक है कि राग किसी भी अपेक्षा से जीव में नहीं है, इत्यादिरूप एकान्त प्ररूपणा जिनमत बाह्य है। इसलिए वैसी प्ररूपणा करनेवाले और उसमें अटके हुए भोले जीव=वैसा माननेवाले भोले जीव भ्रम में रहकर अति उत्तम ऐसा मानव जन्म और वीतरागधर्म को फालतू गँवाते हैं और वीतरागी बनने का एक अमूल्य अवसर गँवाते हैं)।

और दाह्य के (जलने योग्य पदार्थ के) आकाररूप होने से अग्नि को दहन कहा जाता है (अर्थात् ज्ञान को ज्ञेयाकाररूप परिणमने से स्व-पर को जाननेवाला कहा जाता है) तथापि दाह्यकृत अशुद्धता उसे नहीं है; इसी प्रकार ज्ञेयाकार होने से उस 'भाव' (ज्ञानाकार) को ज्ञायकता प्रसिद्ध है (अर्थात् ज्ञान का स्व-पर को जानना प्रसिद्ध है) तथापि ज्ञेयकृत अशुद्धता उसे नहीं है। (क्योंकि वह ज्ञेय को ज्ञेयरूप से=तद्रूप से परिणम कर नहीं जानता अर्थात् ज्ञेय को ज्ञान के साथ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध नहीं है; उसे अपने आकार=ज्ञानाकार के साथ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है कि जिससे अशुद्धता उसमें प्रवेश नहीं करती); क्योंकि ज्ञेयाकार अवस्था में (अर्थात् स्व-पर को जानने के काल में) जो ज्ञायकरूप से (जाननेवाले रूप से) जो ज्ञात हुआ वह स्वरूप-प्रकाशन की (स्वरूप जानने की=अर्थात् उन ज्ञेयों को ज्ञानाकाररूप से देखने पर और उन्हें ही ज्ञानरूप से देखने पर अर्थात् ज्ञेयों को गौण करते ही परमपारिणामिकभाव अनुभव में आता है। दर्पण के उदाहरण अनुसार प्रतिबिम्ब को गौण करते ही दर्पण का स्वच्छत्व ज्ञात होता है, ऐसी) अवस्था में भी, दीपक

की भाँति, कर्ता-कर्म का अनन्यपना होने से (अर्थात् कि जो स्वच्छत्वरूप परिणमन= परमपारिणामिकरूप=ज्ञानसामान्य=निष्क्रियभाव है कि जो स्व-पर को जाननेवाले विशेष भाव का ही सामान्यभाव है, इसलिए यदि पर को जानने का निषेध किया जाये तो वह स्वच्छत्व का=भगवान आत्मा के निषेधरूप परिणमेगा और समझे बिना निषेध करनेवाले भ्रम को=भ्रमित दशा को पायेंगे और यह अमूल्य मनुष्य जन्म तथा वीतराग का शासन मिला, वह व्यर्थ गँवायेंगे अर्थात् जो जाननेवाला है वह) ज्ञायक ही है-स्वयं जाननेवाला इसलिए स्वयं कर्ता और स्वयं को जाना इसलिए स्वयं ही कर्म....' (यहाँ स्व-पर को जानना वह भगवान आत्मा में जाने की सीढ़ीरूप से दर्शाया गया है क्योंकि स्थूल से ही सूक्ष्म में जाया जाता है अर्थात् प्रगट से ही अप्रगट में जाया जाता है अर्थात् व्यक्त से ही अव्यक्त में जाया जाता है, वही नियम है। क्योंकि ज्ञायक ही स्वयं जाननेवाला है। जानना और ज्ञायक (जाननेवाला) को अनन्यपना बताकर जानना (प्रतिबिम्ब) गौण करते ही ज्ञायक (जाननेवाला) ज्ञात होता है, इसलिए सीढ़ीरूप है)।'

भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी बतलाते हैं कि '.... 'ज्ञायक' ऐसा नाम भी उसे (अर्थात् शुद्धात्मा को=दृष्टि के विषय को=परमपारिणामिकभावरूप आत्मा को) ज्ञेय को जानने से दिया जाता है क्योंकि ज्ञेय का प्रतिबिम्ब जब झलकता है, तब ज्ञान में वैसा ही अनुभव में आता है, तथापि ज्ञेयकृत अशुद्धता उसे नहीं है क्योंकि जैसा ज्ञेय ज्ञान में प्रतिभासित हुआ, वैसा ज्ञायक का ही अनुभव करने पर (ज्ञेय को गौण करते ही वहाँ) ज्ञायक ही है। 'यह मैं जाननेवाला हूँ, वह मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं।' ऐसा अपने को अपना अभेदरूप अनुभव हुआ, तब उस जाननेरूप क्रिया का कर्ता स्वयं ही है और जिसे जाना, वह कर्म भी स्वयं ही है (यहाँ समझना यह है कि 'आत्मा वास्तव में पर को नहीं जानता' ऐसी बातें करके आत्मा में जाने का रास्ता (सीढ़ी) बन्द करके क्या मिलेगा? मात्र भ्रम ही मिलेगा, क्योंकि पर को जानने का निषेध करने से जाननहार का ही निषेध होता है) ऐसा एक ज्ञायकपने मात्र (जाननेवाला) स्वयं शुद्ध है-यह शुद्धनय का विषय है। (यहाँ समझना यह है कि प्रथम जो 'दृष्टि के विषय' के सम्बन्ध में बतलाया, वैसे पर्याय से रहित द्रव्य अर्थात् प्रतिबिम्ब से रहित अर्थात् प्रतिबिम्ब को गौण करते ही वहाँ जाननहाररूप से ज्ञायक हाजिर ही है, वही दृष्टि का विषय है। वही परमपारिणामिकभाव है, वही कारणशुद्धपर्याय है, वही कारणशुद्धपरमात्मा है। वही समयसाररूप जीवराजा है अर्थात् यहाँ कुछ भी भौतिक छैनी की आवश्यकता नहीं है क्योंकि आत्मा अभेद-अखण्ड है। उसमें से कुछ भी निकले ऐसा नहीं है और यदि निकालने की कोशिश होगी तो आत्मा स्वयं ही निकल जायेगा अर्थात् आत्मा का

ही लोप होगा और निकालनेवाला स्वयं आकाश के फूल की भाँति भ्रम में ही पड़ेगा। इसलिए यहाँ प्रज्ञारूपी छैनी का उपयोग करके=कतक फलरूप बुद्धिपूर्वक उन प्रतिबिम्बरूप अर्थात् उदय, क्षयोपशमरूप भावों को गौण करते ही वहाँ साक्षात् शुद्धात्मरूप परमपारिणामिकभाव हाजिर ही है। यही सम्यग्दर्शन की विधि है, कि जो आचार्य भगवान ने और पिण्डत जी ने गाथा ६ में बतलायी है।)'

पण्डितजी आगे बतलाते हैं कि '....यहाँ ऐसा भी जानना कि जिनमत का कथन स्याद्वादरूप है इसलिए अशुद्धनय को सर्वथा असत्यार्थ नहीं मानना; (यहाँ समझना यह है कि पूर्व में बतलाये अनुसार गाथा-१६४-१६५ में भावास्रवों को जीव से अनन्य कहा है और इसलिए 'जीव में किसी भी अपेक्षा से राग नहीं होता' जैसी प्ररूपणायें जिनमत बाह्य है) क्योंकि स्याद्वाद प्रमाण से शुद्धता और अशुद्धता दोनों वस्तु के धर्म हैं और वस्तु धर्म है वह वस्तु का सत्त्व है (अर्थात् वह वस्तु ही है=आत्मा ही है) (यहाँ समझना यह है कि गाथा १६४-१६५ में बतलाये अनुसार राग-द्वेषरूप परिणाम होते तो आत्मा में ही हैं-आत्मा ही उन रूप परिणमता है और उस परिणमन की उपस्थिति में भी राग-द्वेष को गौण करते ही उनमें छुपा हुआ परमपारिणामिकभावरूप=समयसाररूप=कारणशुद्धपर्यायरूप आत्मा हाजिर ही है); अशुद्धता परद्रव्य के संयोग से होती है, यही अन्तर है... अशुद्धनय को असत्यार्थ कहने से ऐसा नहीं समझना कि आकाश के फूल की भाँति वह वस्तुधर्म सर्वथा ही नहीं है। (अर्थात् जैसा है वैसा समझना, अर्थात् वह है, परन्तु उसे गौण करते ही ज्ञायक हाजिर ही है, अन्यथा) ऐसा सर्वथा एकान्त समझने से मिथ्यात्व है (यहाँ पण्डितजी ने एकान्त प्ररूपणा करते हुए लोगों को सावधान किया है) इसलिए स्याद्वाद की शरण लेकर शुद्धनय का अवलम्बन करना (अर्थात् जीव को पाँच भावरूप जानकर चार भावों को गौण करते ही सम्यक् एकान्तरूप शुद्ध निश्चयनय का विषय ऐसा शुद्धात्मा=परमपारिणामिकभाव प्रगट होता है कि जिसका अवलम्बन करना) चाहिए....'

गाथा ७ गाथार्थ-'ज्ञानी को चारित्र, दर्शन, ज्ञान - ये तीन भाव व्यवहार से कहने में आते हैं (अर्थात् ज्ञानी को एकमात्र अभेदभावरूप 'शुद्धात्मा में' ही 'मैंपना' होने से, जो भी विशेष भाव हैं और जो भी भेदरूप भाव हैं, वे व्यवहार कहे जाते हैं); निश्चय से ज्ञान भी नहीं, चारित्र भी नहीं, दर्शन भी नहीं (अर्थात् निश्चय से कोई भेद शुद्धात्मा में नहीं, वह एक अभेद सामान्यभावरूप होने से उसमें भेदरूप भाव और विशेष भाव, ये दोनों भाव नहीं हैं)। ज्ञानी तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है।' अर्थात् शुद्ध निश्चयनय का विषय मात्र अभेद ऐसा शुद्धात्मा ही है।

गाथा ७ टीका-'...क्योंकि अनन्त धर्मोंवाले एक धर्मी में (अर्थात् भेद से समझकर अभेदरूप

अनुभूति में) जो निष्णात नहीं है ऐसे निकटवर्ती शिष्यजन को, धर्मी को बतलानेवाले कितने ही धर्मों द्वारा (अर्थात् भेदों द्वारा), उपदेश करते हुए आचार्य का–यद्यपि धर्म और धर्मी का स्वभाव से अभेद है तो भी नाम से भेद उत्पन्न करके (अभेद द्रव्य में द्रव्य–गुण–पर्याय ऐसे भेद उत्पन्न करके) व्यवहारमात्र से ही ऐसा उपदेश है कि ज्ञानी को दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है परन्तु परमार्थ से (अर्थात् वास्तव में) देखने में आवे तो अनन्त पर्यायों को एक द्रव्य पी गया होने से जो एक है... (अर्थात् जो द्रव्य तीनों काल में उन–उन पर्यायरूप परिणमता होने पर भी अपना द्रव्यपना नहीं छोड़ा है–जैसे कि मिट्टी घट पिण्डरूप से परिणमने पर भी मिट्टीपना नहीं छोड़ती और प्रत्येक पर्याय में वह मिट्टीपना व्याप्य–व्यापक सम्बन्ध से है इसलिए पर्याय अनन्त होने पर भी वह द्रव्य तो एक ही है)। ....एक शुद्ध ज्ञायक ही है।'

गाथा ८ गाथार्थ–'जैसे अनार्य (म्लेच्छ) जन को अनार्य भाषा के बिना कुछ भी वस्तु का स्वरूप ग्रहण कराने को कोई समर्थ नहीं है, वैसे व्यवहार बिना परमार्थ का उपदेश करने को कोई समर्थ नहीं है। (अर्थात् मिथ्यात्वी को भेदरूप व्यवहारभाषा के बिना वस्तु का स्वरूप समझाने को कोई समर्थ नहीं है, इसलिए अभेद तत्त्व में अलग–अलग प्रकार से भेदरूप व्यवहार किया जाता है, जैसे कि द्रव्य–गुण–पर्याय, ज्ञान–दर्शन–चारित्र, उत्पाद–व्यय–ध्रुव, सैंतालीस शक्ति इत्यादि, यह मात्र समझाने के लिए है; नहीं कि अनुभव के लिए। अनुभव तो यथार्थ ऐसे अभेद आत्मा का ही होता है अर्थात् परमार्थिक आत्मा में कुछ भी भेद न समझना और जब तक भेद में होगा तब तक अभेद का अनुभव होगा ही नहीं क्योंकि भेद तो व्यवहाररूप उपचारमात्र अज्ञानी को स्वरूप ग्रहण कराने के लिए किये हैं, वास्तव में हैं नहीं।)'

गाथा ११ गाथार्थ–'व्यवहारनय अभूतार्थ है (अर्थात् ऊपर बतलाये अनुसार भेदरूप व्यवहार अभूतार्थ है, क्योंकि जो भेद में ही रमता है, वह कभी भी सम्यग्दर्शन के विषयरूप अभेद द्रव्य का अनुभव कर ही नहीं सकता और दूसरा, निश्चय से द्रव्य अभेद होने से जो भेद उपजाकर कहने में आता है, वैसे व्यवहाररूप–उपचाररूप भेद आदरणीय नहीं है अर्थात् 'मैंपना' करनेयोग्य नहीं है, इसलिए अभूतार्थ है) और शुद्धनय भूतार्थ है (अर्थात् शुद्धनय का विषय अभेदरूप 'शुद्धात्मा' है जो कि सम्यग्दर्शन का विषय होने से आदरणीय है–भूतार्थ है) ऐसा ऋषीश्वरों ने दर्शाया है, जो जीव भूतार्थ का (अर्थात् शुद्धात्मा का) आश्रय करता है, वह जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टि है।' अर्थात् कोई भी जीव अभेदरूप शुद्धात्मा में ही 'मैंपना' करके और उसका ही अनुभवन करके सम्यग्दृष्टि हो सकता है, अन्यथा नहीं।

गाथा ११ टीका–'व्यवहारनय सब ही अभूतार्थ होने से (भेदरूप व्यवहार जो कि मात्र आत्मा के स्वरूप का ग्रहण कराने को हस्तावलम्बनरूप जानकर प्ररूपित किया है वह) अविद्यामान, असत्य, अभूत अर्थ को प्रगट करता है (अर्थात् जैसा अभेद आत्मा है, वैसा उससे अर्थात् व्यवहाररूप भेद से वर्णन नहीं किया जा सकता).... यह बात दृष्टान्त से बतलाते हैं– (दृष्टान्त में जीव को=आगमों में वर्णन किये अनुसार पाँच भावसहित बताकर उसमें से उपादेय ऐसा जीव जो कि चार भावों को गौण करते ही पंचम भावरूप=परम पारिणामिकभावरूप =दृष्टि के विषयरूप प्रगट होता है जो कि 'समयसार' जैसे अध्यात्मिक शास्त्र का प्राण है, उसे ग्रहण कराते हैं)। जैसे प्रबल कीचड़ के मिलने से (प्रबल उदय–क्षयोपशमभावसहित) जिसका सहज एक निर्मल भाव (परमपारिणामिकभाव) तिरोभूत (आच्छादित) हो गया है ऐसे जल का अनुभव करनेवाले (अज्ञानी) पुरुष–जल और कीचड़ का विवेक नहीं करनेवाले बहुत से तो, उसे (जल को=जीव को) मलिन ही अनुभव करते हैं (उदय, क्षयोपशमरूप ही अनुभव करते हैं), परन्तु कितने ही (ज्ञानी) अपने हाथ से डाले हुए कतक फल (निर्मली औषधि= बुद्धिरूपी–प्रज्ञाछैनी) के पड़ने मात्र से उत्पन्न जल–कीचड़ के विवेकपने से (अर्थात् कीचड़ जल में होने पर भी जल को स्वच्छ अनुभव कर सकनेवाले=आत्मा वर्तमान में उदय, क्षयोपशमरूप परिणमित होने पर भी उसमें छुपे हुए अर्थात् उदय और क्षयोपशमभाव को गौण करते ही जो भाव प्रगट होता है, वह अर्थात् उदय और क्षयोपशमभाव जिसका बना हुआ है वह अर्थात् एक सहज आत्म परिणमनरूप–परमपारिणामिकभावरूप आत्मा को), अपने पुरुषार्थ द्वारा आविर्भूत किये गये सहज एक निर्मल भावपने के (परमपारिणामिकभाव के) कारण उसे (जल को=आत्मा को) निर्मल ही अनुभव करते हैं; उसी प्रकार प्रबल कर्म के मिलने से जिसका सहज एक ज्ञायकभाव (परमपारिणामिकभाव) तिरोभूत हो गया है, ऐसे आत्मा का अनुभव करनेवाले पुरुष (अज्ञानी)– आत्मा और कर्म का विवेक नहीं करनेवाले, व्यवहार से विमोहित हृदयवाले तो उसे (आत्मा को) जिसमें भावों का विश्वरूपपना (अनेकरूपपना) प्रगट है, ऐसा अनुभव करते हैं, परन्तु भूतार्थदर्शी (शुद्धनय को देखनेवाले=ज्ञानी) अपनी बुद्धि से डाले हुए शुद्धनय (प्रज्ञाछैनी) अनुसार बोध होनेमात्र से उत्पन्न हुए आत्मा–कर्म के विवेकपने से (भेदज्ञान से) अपने पुरुषार्थ द्वारा आविर्भूत किये गये सहज एक ज्ञायकभावपने के (परमपारिणामिकभाव के) कारण उसे (आत्मा को) जिसमें एक ज्ञायकभाव (परमपारिणामिकभाव) प्रकाशमान है, ऐसा अनुभव करते हैं.....'

भावार्थ में पण्डितजी ने समझाया है कि जीव को 'जैसा है वैसा' सर्वनय से निर्णय करके

सम्यक् एकान्तरूप शुद्ध जानना (मैंपना करना), नहीं कि एकान्त से अपरिणामी ऐसा शुद्ध जानना। उससे तो मिथ्यादर्शन का ही प्रसंग आता है क्योंकि जिनवाणी स्याद्वादरूप है। प्रयोजनवश नय को मुख्य-गौण करके कहती है। जैसे कि मलिन पर्याय को गौण करते ही शुद्धभावरूप परमपारिणामिकभाव हाजिर ही है, नहीं कि पर्याय को भौतिक रीति से अलग करके। क्योंकि अभेदद्रव्य में भौतिक रीति से पर्याय को अलग करने की व्यवस्था ही नहीं है, इसलिए विभावभाव को गौण करते ही (पर्याय रहित का द्रव्य) परमपारिणामिकभावरूप अभेद-अखण्ड आत्मा का ग्रहण होता है, यही सम्यग्दर्शन की विधि है।

गाथा १२ गाथार्थ-'परमभाव के (शुद्धात्मा के) देखनेवालों को (अनुभव करनेवालों को) तो शुद्ध (आत्मा) का उपदेश करनेवाला शुद्धनय जाननेयोग्य है (अर्थात् शुद्धनय के विषयरूप शुद्धात्मा का ही आश्रय करनेयोग्य है क्योंकि उसके आश्रय से ही श्रेणी माँडकर वे सम्यग्दृष्टि जीव घातिकर्म का नाश करते हैं और केवली होते हैं), और जो जीव अपरमभाव में स्थित हैं (अर्थात् मिथ्यात्वी हैं), वे व्यवहार द्वारा (अर्थात् भेदरूप व्यवहार द्वारा वस्तुस्वरूप समझाकर तत्त्वों का निर्णय कराने के लिये) उपदेश करनेयोग्य है।'

भावार्थ ने पण्डित जयचन्दजी बतलाते हैं कि 'जो कोई जीव जो कि अपरमभाव में स्थित है (अज्ञानी है) वह व्यवहार छोड़े (भेदरूप और व्यवहारधर्मरूप दोनों) और उसे साक्षात् शुद्धोपयोग की प्राप्ति तो हुई नहीं (अर्थात् निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट हुआ नहीं) इसलिए उल्टा अशुभउपयोग में ही आकर, भ्रष्ट होकर चाहे जैसे स्वेच्छाचाररूप से (स्वच्छन्दता से) प्रवर्तते तो नरकादि गति तथा परम्परा निगोद को प्राप्त होकर संसार में ही भ्रमण करता है।'

यहाँ समझना यह है कि आत्मा अज्ञान अवस्था में चौबीस घण्टे कर्म का बन्ध करता ही है जिससे करुणावन्त आचार्य भगवन्तों ने बतलाया है कि जब तक तत्त्व का निर्णय और अनुभव न हो तब तक उसी के लक्ष्य से (शुद्ध के ही एकमात्र लक्ष्य से) नियम से शुभ में ही रहनेयोग्य है, नहीं कि अशुभ में, क्योंकि अशुभ से तो देव-शास्त्र-गुरुरूप संयोग मिलना भी कठिन हो जाता है। इस बात में जिसका विरोध हो, वह हमें क्षमा करे क्योंकि यह बात हम किसी भी पक्षरहित-निष्पक्षभाव से बतलाते हैं कि जो सर्व आचार्य-भगवन्तों ने भी बतलायी है और जहाँ-जहाँ (जिस भी गाथाओं में) इन बातों का सर्वथा निषेध करना बतलाया है, वह एकमात्र शुद्धभाव का लक्ष्य कराने को बतलाया है, नहीं कि अशुभ में रमने के लिये और मुनिराज को छठवें गुणस्थानक में इस बात का निषेध सातवें गुणस्थानरूप अभेद आत्मानुभूति में स्थित होकर आगे बढ़कर केवलज्ञान

और मोक्ष प्राप्त करने के लिए बतलाया है, नहीं कि छठे गुणस्थानक में सहज होनेवाले शुभ का निषेध करके नीचे गिराने को–अर्थात् अविरति अथवा अज्ञानी होने को।

इसलिए सर्व मुमुक्षुजनों को यह बात यथार्थ 'जैसा है वैसा' समझना अत्यन्त आवश्यक है, अर्थात् समझना यह है कि अहोभाव मात्र–मात्र शुद्धता का ही होना चाहिए, शुभ का नहीं ही, परन्तु जब तक शुद्धरूप नहीं परिणमता तब तक रहना तो नियम से शुभ में ही।

श्लोक ४–'निश्चय और व्यवहार–इन दो नयों को विषय के भेद से परस्पर विरोध है, उस विरोध को नाश करनेवाला 'स्यात्' पद से चिह्नित जो जिन भगवान का वचन, (वाणी) उसमें जो पुरुष रमते हैं (प्रचुर प्रीतिसहित अभ्यास करते हैं अर्थात् दोनों नयों का पक्ष छोड़कर मध्यस्थ रहते हैं) वे पुरुष अपने आप (अन्य कारण बिना) मिथ्यात्वकर्म के उदय का वमन करके इस अतिशयरूप परम ज्योति प्रकाशमान शुद्ध आत्मा को तुरन्त देखते ही हैं। (अर्थात् कौन देखते हैं? तो कहते हैं कि 'स्यात्' वचनों में रमता पुरुष, नहीं कि एकान्त का आग्रही पुरुष अर्थात् सम्यग्दर्शन जो कि सम्यक् एकान्तरूप होने पर भी आग्रह तो एकान्त का होता ही नहीं, प्ररूपणा एकान्त की होती ही नहीं। प्ररूपणा जैसा है वैसा स्यात् वचनरूप ही होती है)। कैसा है समयसाररूप शुद्धात्मा? नवीन उत्पन्न नहीं हुआ, पहले कर्म से आच्छादित था, वह प्रगट व्यक्तिरूप हो गया (अर्थात् पहले जो अज्ञानी को उदय–क्षयोपशमरूप से अनुभव में आता था, वही अब ज्ञानी को उदय–क्षयोपशमभाव गौण हो जाने पर=करते ही समयसाररूप= परमपारिणामिकभावरूप =परमज्योतिरूप प्रगट होता है=ज्ञात होता है=अनुभव में आता है=व्यक्तिरूप होता है) और कैसा है? सर्वथा एकान्तरूप कुनय के पक्ष से खण्डित नहीं होता, निर्बाध है (अर्थात् जो सम्यग्दर्शन के लिये सर्वथा एकान्त नय की प्ररूपणा में रचते हैं, उन्हें शुद्धात्मा कभी प्राप्त ही नहीं होता, ऐसा ही यहाँ बतलाया है)।'

श्लोक ५–गाथा ११ और १२ को ही दृढ़ कराता है जो कि भेदरूप व्यवहारनय है वह अज्ञानी को मात्र समझाने के लिये है परन्तु वैसे भेदरूप आत्मा है नहीं इसलिए आश्रय तो अभेदरूप आत्मा का=शुद्धात्मा का, कि जिसमें परद्रव्यों से होनेवाले भावों को गौण किया है, उसी का करना है। वह आत्मा ही उपादेय है अर्थात् द्रव्यपर्यायरूप भेद अथवा पर्याय के निषेधरूप भेद का जो आश्रय करते हैं, उन्हें अभेद आत्मा का अणसार भी नहीं आता। अर्थात् वे भेद में ही रमते हैं अर्थात् वे विकल्प में ही रमते हैं और भेद का ही आदर करते हैं क्योंकि उन्हें निषेध बिना का दृष्टि का विषय ही मान्य नहीं होता है, ऐसी है करुणाजनक परिस्थिति।

श्लोक ६-यहाँ आचार्य भगवान बतलाते हैं कि जो नौ तत्त्व की परिपाटी है उसे छोड़कर अर्थात् गौण करके देखने पर - उस भाव को अनुभवते ही आत्मा प्राप्त होता है।

श्लोक ७ में आचार्य भगवन्त गाथा १३ का ही भाव व्यक्त करते हैं कि नव तत्त्व में व्याप्त ऐसी आत्म ज्योति (अर्थात् परमपारिणामिकभाव) नव तत्त्वों को गौण करते ही एक अखण्ड आत्म ज्योति (अर्थात् परमपारिणामिकभाव) प्राप्त होता है।

गाथा १३ गाथार्थ-'भूतार्थनय से जाने हुए (अर्थात् अभेद ऐसे शुद्धनय से जाने हुए) जीव, अजीव और पुण्य, पाप तथा आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, और मोक्ष - ये नव तत्त्व सम्यक् हैं।'

अर्थात् अभेद ऐसे शुद्धनय से जो ऐसा जानता है कि यह सर्व नव तत्त्वरूप परिणमित जीव विशेष अपेक्षा से नव तत्त्वरूप भासित होता है, परन्तु अभेद शुद्धनय द्वारा ये नव तत्त्व जिसके बने हुए हैं, वह एकमात्र सामान्यभावरूप अर्थात् अभेद शुद्ध जीवत्वभावरूप 'शुद्धात्मा' ही है और इसी प्रकार जो नव तत्त्व को जानता है, उसे ही सम्यग्दर्शन है अर्थात् वही सम्यक्त्व है; यह गाथा समयसार के साररूप है। सर्व अधिकारों का उल्लेख इस गाथा में करके सर्व अधिकारों के साररूप से सम्यग्दर्शनरूप आत्मा का स्वरूप समझाया है।

गाथा १३ टीका-'ये जीवादि नव तत्त्व भूतार्थनय से जाने हुए सम्यग्दर्शन ही हैं (यह नियम कहा)। (भूतार्थनय से अर्थात् अभेदनय से=इन जीवादि नव तत्त्वोंरूप से आत्मा ही परिणमता है, इसलिए इन नव तत्त्वों को गौण करते ही शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है=सम्यग्दर्शन होता है); क्योंकि तीर्थ की (व्यवहारधर्म की) प्रवृत्ति के लिये अभूतार्थ (व्यवहार)नय से (ये नव तत्त्व) कहने में आते हैं (अर्थात् जो जीव अपरमभाव में स्थित है-अज्ञानी है, उसे म्लेच्छ की भाषा में अर्थात् आगम की भाषा में जीव को उदय-उपशम-क्षयोपशम-क्षायिक-पारिणामिक - ऐसे पाँचभावरूप से प्ररूपित किया जाता है) ऐसे ये नव तत्त्व-जिनके लक्षण जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष है - उनमें एकपना प्रगट करनेवाले भूतार्थनय से एकपना प्राप्त करके (अर्थात् उन सर्व तत्त्वोंरूप जो आत्मा परिणमित है, वह बाह्य निमित्त के भाव अथवा अभाव से परिणमित है, उन नव तत्त्वोंरूप परिणमित ऐसे आत्मा में विशेष भावों को गौण करते ही, एक अभेद ऐसा सहज परिणमनरूप आत्मा जो कि परमपारिणामिकभावरूप है=समयसाररूप है, वह प्राप्त होता है, उसे प्राप्त करते ही), शुद्धनयरूप से स्थापित आत्मा की अनुभूति - कि जिसका लक्षण आत्मख्याति है-उसकी प्राप्ति होती है (अर्थात् सम्यग्दर्शनरूप-समयसाररूप आत्मा की प्राप्ति होती है)। (अर्थात् शुद्धनय से नौ तत्त्व को जानने से आत्मा की

अनुभूति होती है, इस हेतु से यह नियम कहा)। वहाँ, विकारी होने योग्य (आत्मा) और विकार करनेवाला (कर्म) ये दोनों पुण्य हैं.... क्योंकि एक को ही (आत्मा को) अपने आप (स्वभाव से) पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष की उपपत्ति (सिद्धि-उस भावरूप आत्मा का परिणमना) नहीं होता। वे दोनों जीव (भावकर्म) और अजीव (द्रव्यकर्म) है (अर्थात् उन दोनों में एक जीव है और दूसरा अजीव है)।

बाह्य (स्थूल) दृष्टि से देखा जाये तो-जीव-पुद्गल के अनादि बन्ध पर्याय के समीप जाकर एकपने अनुभव करने पर ये नव तत्त्व भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं (अर्थात् आगम में निरुपित पाँच भावयुक्त जीव में ये नव तत्त्व भूतार्थ हैं, सत्यार्थ है) और एक जीवद्रव्य के स्वभाव ('स्व' का भाव='स्व' का सहज परिणमनरूप भाव=परमपारिणामिकभाव=कारणशुद्धपर्याय=कारण शुद्धपरमात्मरूपभाव) के समीप जाकर अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। (समयसार जैसे अध्यात्म ग्रन्थ में निरूपित शुद्धात्मरूप जीव में वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं)। (जीव के एकाकार स्वरूप में वे नहीं हैं) इसलिए इन नव तत्त्वों में भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है...' यही गाथा का भाव श्लोक ८ में विशेषरूप से समझाया गया है।

श्लोक ८-'इस प्रकार नौ तत्त्वों में बहुत काल से छुपी हुई इस आत्म ज्योति को (अर्थात् आत्मा के उदय-क्षयोपशमरूप जो भाव हैं, वे सर्व जीवों को अनादि के होते हैं और जो जीव अज्ञानी है, वह उन्हीं भावों में रमता है तथापि प्रत्येक जीव को अनादि से परमपारिणामिकभावरूप छुपी हुई आत्मज्योति मौजूद ही होती है, हाजिर ही होती है। मात्र उदय-क्षयोपशमरूप भावों को गौण करके उसका लक्ष्य करते ही वह प्राप्त होती है अर्थात् इन नौ तत्त्वों को गौण करते ही जो सामान्य जीवत्वभाव शेष रहता है, वह तीनों काल शुद्ध होने से, कहा है कि नौ तत्त्वों में बहुत काल से छुपी हुई आत्मज्योति को), जैसे वर्णों के समूह में छुपे हुए एकाकार स्वर्ण को बाहर निकाले वैसे (अशुद्धात्मा में से अशुद्धि को गौण करते ही, उसमें छुपा हुआ एकाकार= अभेद शुद्धात्मा साक्षात् होता है वैसे), शुद्धनय से (अर्थात् ऊपर कहे अनुसार अशुद्धभावों को गौण करते ही) बाहर निकालकर प्रगट की गयी है। इसलिए हे भव्य जीवों! हमेशा उसे अन्य द्रव्यों से (अर्थात् पुद्गलरूपकर्म-नोकर्म से) तथा उनसे होनेवाले नैमित्तिकभावों से (अर्थात् औदयिकभावों से) भिन्न (अर्थात् हमने पूर्व में जो दो प्रकार से भेदज्ञान करने का बतलाया था वैसे); एकरूप देखो। यह (ज्योति=परमपारिणामिकभाव), पद-पद पर अर्थात् पर्याय-पर्याय में एकरूप चित्चमत्कारमात्र उद्योतमान है। (अर्थात् प्रत्येक पर्याय में पूर्ण जीव व्यक्त होता ही होने से अर्थात् पर्याय में पूर्ण

द्रव्य होने से ही ऐसा बतलाया है। अर्थात् पर्याय ही वर्तमान जीवद्रव्य है, ऐसा जो हमने पूर्व में बतलाया है, वही समझ यहाँ दृढ़ होती है)।'

यहाँ यह समझना आवश्यक है कि आगम और अध्यात्म में जरा भी विरोध नहीं है क्योंकि आगम से जीव का स्वरूप 'जैसा है वैसा' समझकर अर्थात् जीव को सर्व नय से जानकर अध्यात्मरूप शुद्धनय द्वारा ग्रहण करते ही सम्यग्दर्शनरूप आत्मज्योति प्रगट होती है, प्राप्त होती है अर्थात् पर्याय में विशेष भाव को गौण करते ही एकरूप-अभेदरूप चित्‌चमत्कारमात्र ज्योति अर्थात् सामान्य भावरूप परमपारिणामिकभाव हाजिर ही है कि जो सम्यग्दर्शन का विषय है और उसमें ही 'मैंपना' करने से स्वानुभूति प्रगट हो सकती है; यह सम्यग्दर्शन की विधि है।

श्लोक ९-'आचार्य शुद्धनय का अनुभव करके कहते हैं कि इन सर्व भेदों को गौण करनेवाला जो शुद्धनय (अर्थात् जीव में भेदरूप-द्रव्य-गुण-पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रुव अथवा उदय-उपशम-क्षयोपशमरूप भावों को गौण करके परमपारिणामिकभावरूप समयसाररूप शुद्धनय) का विषयभूत चैतन्य-चमत्कारमात्र (ज्ञानमात्र=परमपारिणामिकभावमात्र) तेज पुंज आत्मा का अनुभव होने पर नयों की लक्ष्मी उदय को प्राप्त नहीं होती (अर्थात् सर्वनय विकल्परूप ही हैं, जबकि परमपारिणामिकभाव सर्व विशेष भावरहित होने से अर्थात् उसमें कुछ भी विकल्प न होने से उसमें नय-निक्षेप-स्व-पररूप भाव नहीं है। वहाँ मात्र एक अभेद भाव में ही 'मैंपना' है, इसलिए) प्रमाण अस्त को प्राप्त होता है और निक्षेपों का समूह कहाँ चला जाता है, वह हम नहीं जानते। इससे अधिक क्या कहें? द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता। (स्वानुभूति के काल में मात्र मैं का ही आनन्द-वेदन होता है, वहाँ स्व-पररूप कोई द्वैत होता ही नहीं)।'

श्लोक १०-'शुद्धनय आत्मा के स्वभाव को प्रगट करता हुआ ('स्व' के भवनरूप=स्व का सहज परिणमनरूप=परमपारिणामिकभावरूप प्रगट करता हुआ) उदयरूप होता है। वह आत्मस्वभाव को कैसा प्रगट करता है? (अर्थात् वह प्रगट किया हुआ आत्मस्वभाव कैसा है?) परद्रव्य, परद्रव्य के भाव तथा परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने विभाव-ऐसे परभावों से भिन्न करता है। (अर्थात् परद्रव्य तो प्रगट भिन्न है, इसलिए उनके साथ उनके लक्षण से भेदज्ञान करता है और परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने जो विभाव हैं, वे जीवरूप हैं, इसलिए उन विभावों को गौण करता है और विभावों में छुपी हुई आत्मज्योति को मुख्य करता है) और वह आत्मस्वभाव सम्पूर्णरूप से पूर्ण है-सम्पूर्ण लोकालोक को जाननेवाला है-ऐसा प्रगट करता है; (यहाँ समझना यह है कि परमपारिणामिकभावरूप आत्मा का अर्थात् ज्ञान का लक्षण -ज्ञान का स्वभाव

प्रतिबिम्बरूप से पर को झलकाने का है, उस प्रतिबिम्ब को गौण करते ही वहाँ दर्पण की भाँति स्वच्छत्वरूप परिणमन हाजिर ही है और ज्ञान का स्वभाव लोकालोक को झलकाने का है इसलिए ही वह 'ज्ञान' नाम पाता है, अन्यथा नहीं। उस ज्ञेयरूप झलकन को गौण करते ही वहाँ ज्ञानमात्ररूप=परमपारिणामिकभावरूप=ज्ञायक हाजिर ही है। इसलिए 'आत्मा वास्तव में पर को जानता ही नहीं' ऐसी प्ररूपणा करके आत्मा के लक्षण का अभाव करने से आत्मा का ही अभाव होता है) और वह आत्मस्वभाव को आदि-अन्त से रहित प्रगट करता है (परमपारिणामिकभाव वह आत्मा का अनादि-अनन्त 'स्व' भवनरूप 'स्व' भाव है और वह त्रिकाल शुद्ध होने से उसे आदि-अन्त से रहित कहा है) और वह आत्मस्वभाव को एक - सर्व भेदभावों से (द्वैतभावों से) रहित एकाकार प्रगट करता है। (सर्व प्रकार के भेदरूप भाव जैसे कि द्रव्य-गुण-पर्याय, ज्ञान-दर्शन-चारित्र, निषेधरूप स्व पररूप भावों से रहित प्रगट करता है) और जिसमें समस्त संकल्प-विकल्प के समूह विलय हो गये हैं ऐसा प्रगट करता है। (अर्थात् उदय, क्षयोपशमभावों को गौण करते ही परमपारिणामिकभावरूप आत्मा में कुछ भी संकल्प-विकल्प, नय-प्रमाण-निक्षेप इत्यादि रहते ही नहीं - ऐसा आत्मा प्रगट करता है)। ऐसा शुद्धनय प्रकाशरूप होता है।'

गाथा १४ गाथार्थ-'जो नय आत्मा को बन्धरहित और पर के स्पर्शरहित, अन्यपने रहित, चलाचलतारहित, विशेषरहित (अर्थात् विशेष को गौण करते ही जो एक सामान्यरूप भाव अर्थात् परमपारिणामिकभावरूप जीव है वह अर्थात् अन्य के लक्ष्य से होनेवाले सर्व भाव जो कि विशेष हैं, उनसे रहित ही होता है), अन्य के संयोगरहित-ऐसे पाँच भावरूप देखता है, उसे हे शिष्य! तू शुद्धनय जान।' अर्थात् जैसा हमने पूर्व में बतलाया, वैसे सर्व परद्रव्य तथा परद्रव्य के लक्ष्य से होनेवाले आत्मा के भावों से (उन्हें गौण करके) भेदज्ञान करने से शुद्धनयरूप अर्थात् अभेद ऐसा पंचम भावरूप सम्यग्दर्शन का विषय प्राप्त होता है।

गाथा १४ की टीका-'निश्चय से अबद्ध-अस्पृष्ट (आत्मा के उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक ऐसे चार भावों से अबद्ध-अस्पृष्ट), अनन्य (तथापि आत्मा के परिणमन=पर्याय से अनन्य परमपारिणामिकभावरूप=कारणशुद्धपर्यायरूप), नियत (नियम से गुणों के परिणमनरूप), अविशेष (जिसमें विशेषरूप चारों ही भावों का अभाव है ऐसा सामान्य परिणमनरूप=सहज परिणमनरूप) और असंयुक्त (कि जो ऊपर कहे, वैसे चार भावों से संयुक्त नहीं है-इन चार भावों को गौण करते ही शुद्धनय का आत्मा प्राप्त होता है, वैसा असंयुक्त) ऐसे आत्मा की जो अनुभूति, वह शुद्धनय है और वह अनुभूति आत्मा ही है, इस प्रकार आत्मा एक ही प्रकाशमान है....'

श्लोक ११-'जगत के प्राणियों! उस सम्यक्स्वभाव का अनुभव करो कि जहाँ ये बद्ध-स्पृष्ट आदि भाव (ऊपर कहे वे चार भाव) स्पष्टरूप से उस स्वभाव के ऊपर तैरते हैं (अर्थात् वे भाव होते हैं तो आत्मा के परिणाम में ही अर्थात् आत्मा में ही) तो भी (वे परमपारिणामिकभाव में) प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होते, क्योंकि द्रव्यस्वभाव (द्रव्यरूप आत्मा के 'स्व' का भवनरूप 'स्व'भाव) तो नित्य है (अर्थात् कि ऐसा का ऐसा ही होता है), एकरूप है (अनन्यरूप है, अभेद है, वहाँ कोई भेद नहीं) और ये भाव (अर्थात् कि अन्य चार भाव) अनित्य है, अनेकरूप है, पर्यायें (चार भावरूप पर्यायें-विभावभाव) द्रव्यस्वभाव में प्रवेश नहीं करते, ऊपर ही रहते हैं (वे चार भाव परमपारिणामिकभावरूप द्रव्यस्वभाव में प्रवेश पाते ही नहीं क्योंकि परमपारिणामिकभावरूप द्रव्य स्वभाव सामान्य भावरूप है इसलिए उसमें विशेष भाव का तो अभाव ही होता है अर्थात् विशेष भाव द्रव्यस्वभाव में प्रवेश नहीं करते, ऊपर ही रहते हैं) यह शुद्धस्वभाव ('स्व' के भवनरूप=परमपारिणामिकभाव) सर्व अवस्थाओं में प्रकाशमान है। (आत्मा में तीनों काल है इसलिए ही त्रिकाली शुद्धभाव कहलाता है) ऐसे शुद्धस्वभाव का, मोहरहित होकर जगत अनुभव करो, क्योंकि मोहकर्म के उदय से उत्पन्न मिथ्यात्वरूप अज्ञान जहाँ तक रहता है, वहाँ तक यह अनुभव यथार्थ नहीं होता।'

श्लोक १२-'यदि कोई सुबुद्धि (अर्थात् जिसे तत्त्वों का निर्णय हुआ है, ऐसा कि जो सम्यग्दर्शन प्राप्ति की पूर्व की पर्यायों में स्थित है ऐसा) भूत, वर्तमान और भावी ऐसे तीनों काल के (कर्मों के) बन्ध को अपने आत्मा से तत्काल-शीघ्र भिन्न करके (अर्थात् कर्मोंरूपी पुद्‌गलों को अपने से भिन्न जानकर-जड़ जानकर अपने को चेतनरूप अनुभव कर) तथा उन कर्मों के उदय के निमित्त से हुए मिथ्यात्व (अज्ञान) को अपने बल से (पुरुषार्थ से) रोककर अथवा नाश करके (ऊपर श्लोक ११ में बतलाये अनुसार चार भावों को गौण करके, अपने को परमपारिणामिकभावरूप अनुभवते ही मिथ्यात्व उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय को प्राप्त होता है अर्थात् अपने को त्रिकाली शुद्धभावरूप=परमपारिणामिकभावरूप जानना/अनुभव करनेरूप पुरुषार्थ करे अर्थात्) अन्तरंग में अभ्यास करे-देखे तो यह आत्मा अपने अनुभव से ही ज्ञात होने योग्य जिसकी प्रगट महिमा है, ऐसा व्यक्त (अनुभवगोचर) ध्रुव (निश्चल) शाश्वत नित्य कर्मकलंक कर्दम से रहित (परमपारिणामिकभावरूप) ऐसा स्वयं स्तुति करनेयोग्य देव विराजमान है।'

श्लोक १३-'इस प्रकार जो पूर्व कथित शुद्धनयस्वरूप आत्मा की अनुभूति है (अर्थात् शुद्धात्मा की अनुभूति है) वही वास्तव में ज्ञान की अनुभूति है, ऐसा जानकर (अर्थात् जो आत्मा की अनुभूति है, वही ज्ञान की अनुभूति है, उन दोनों में कुछ भी भेद नहीं है) तथा आत्मा में,

आत्मा को निश्चल स्थापित कर (अर्थात् उस शुद्धात्मा का निश्चल-एकाग्ररूप से ध्यान करके) 'सदा सर्व ओर एक ज्ञानघन आत्मा है' ऐसा देखना।' अर्थात् जो शुद्धात्मा है उसे ज्ञान अपेक्षा से ज्ञानघन, ज्ञानमात्र, ज्ञान सामान्य इत्यादि अनेक नामों से पहिचाना जाता है, यहाँ विशेष इतना ही है कि जिस गुण से शुद्धात्मा को देखने में आता है, उस गुणमय ही पूर्णरूप से शुद्धात्मा ज्ञात होता है अर्थात् शुद्धात्मा में कोई भेद ही नहीं है।

गाथा १५ गाथार्थ-'जो पुरुष आत्मा को अबद्धस्पृष्ट (अर्थात् किसी भी प्रकार के बन्धरहित शुद्ध और जिसमें सर्वविभावभाव अत्यन्त गौण हो गये होने से, विभावभाव से नहीं स्पर्शित ऐसा कि जिसे सम्यक् एकान्तरूप भी कहा जाता है ऐसा), अनन्य (वह स्वयं निरन्तर अपने रूप में ही परिणमता होने से अन्यरूप नहीं होता अर्थात् उसके सर्व गुणों का सहज परिणमनयुक्त परमपारिणामिक -भावरूप), अविशेष (अर्थात् सर्व विशेष जिसमें गौण हो गये होने से, मात्र सामान्यरूप अर्थात् जो औदयिक आदि चार भाव हैं, वे विशेष हैं परन्तु यह परमपारिणामिकभावरूप पंचम भाव सामान्यभावरूप होने से विशेष रहित होता है। जैसे हमने पूर्व में देखा वैसे। वे विशेष भाव सामान्य के ही बने हुए होते हैं अर्थात् जीव एक पारिणामिकभावरूप ही होता है, परन्तु विशेष में जो कर्म के उदय निमित्त से भाव होते हैं, उस अपेक्षा से वह पारिणामिकभाव ही औदयिक इत्यादि नाम पाता है और उन औदयिकादि भावों का सामान्य अर्थात् परमपारिणामिकभाव में अभाव होने से उसे अविशेष) देखता है वह सर्व जिनशासन को देखता है (अर्थात् जिसने एक आत्मा जाना, उसने सर्व जाना) - कि जो जिनशासन बाह्य द्रव्यश्रुत तथा अभ्यन्तर ज्ञानरूप भावश्रुतवाला है।'

गाथा १७-१८ गाथार्थ-'जैसे कोई धन का अर्थी पुरुष (उसी प्रकार कोई आत्मा का अर्थी पुरुष) राजा को जानकर श्रद्धा करता है (अर्थात् जीव राजारूप शुद्धात्मा को जानकर श्रद्धा करता है), तत्पश्चात् उसका प्रयत्नपूर्वक अनुचरण करता है (अर्थात् उस शुद्धात्मा का प्रयत्नपूर्वक अनुभव करने का पुरुषार्थ करता है) अर्थात् सुन्दर रीति से सेवा करता है (अर्थात् उसी का बारम्बार मनन-चिन्तन-ध्यान-अनुभवन करता है), इसी प्रकार मोक्ष की इच्छावाले को जीवरूपी राजा को जानना, पश्चात् उसी प्रकार उसका श्रद्धान करना और तत्पश्चात् उसका अनुसरण करना अर्थात् अनुभव द्वारा तन्मय हो जाना।'

गाथा ३५ गाथार्थ-'जैसे लोक में कोई पुरुष परवस्तु को 'यह परवस्तु है' ऐसा जाने तब ऐसा जानकर परवस्तु को त्यागता है; उसी प्रकार ज्ञानी सर्व परद्रव्यों के भावों को 'ये परभाव हैं' ऐसा जानकर उन्हें छोड़ता है।'

अर्थात् पूर्व में देखा वैसे पर के लक्ष्य से होनेवाले अपने भाव में ज्ञानी का 'मैंपना' न होने से उन्हें छोड़ता है ऐसा कहा जाता है अर्थात् उन परलक्ष्य से होनेवाले भावों को ज्ञानी अपनी कमजोरी समझता है और कोई भी जीव अपनी कमजोरी को पोषण करना चाहता ही नहीं; इसी प्रकार ज्ञानी भी उन परलक्ष्य से होनेवाले भावों को नहीं चाहता और इसीलिए उनसे छूटने के प्रयत्न आदरता है अर्थात् शक्ति अनुसार चारित्र ग्रहण करता है; ऐसा है जैन सिद्धान्त का अनेकान्तमय ज्ञान।

गाथा ३६ गाथार्थ–'ऐसा जाने कि 'मोह के साथ मुझे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, एक उपयोग है वह ही मैं हूँ' (अर्थात् सम्यग्दर्शन के विषय में मोहरूप विभावभाव नहीं होने से, जब ज्ञानी शुद्धात्मा में ही 'मैंपना' करता है तब वह मात्र उतना ही है, उसे किसी विभावभाव के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं अर्थात् उसे एकमात्र सामान्य उपयोगरूप ज्ञायकभाव में ही 'मैंपना' होने से, उसका तब मोह के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं, एक शुद्धात्मा है, वही मैं हूँ) – ऐसा जो जानना, उसे सिद्धान्त के अथवा स्व–पर के स्वरूप के जाननेवाले मोह से निर्ममत्व कहते हैं।' अर्थात् ज्ञानी को मोह में 'मैंपना' और 'मेरापना' नहीं, इसलिए ज्ञानी को निर्ममत्व है।

गाथा ३८ गाथार्थ–'दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप परिणमित आत्मा (अर्थात् परमपारिणामिक –भावरूप सहज दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप परिणमन करता भाव जो कि शुद्धात्मा है, उसमें ही 'मैंपना' करता हुआ ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव) ऐसा जानता है कि निश्चय से मैं एक हूँ (अर्थात् वह अभेद का ही अनुभव करता है), शुद्ध हूँ (अर्थात् एकमात्र शुद्धात्मा में ही 'मैंपना' होने से मैं शुद्ध हूँ, ऐसा अनुभवता है), दर्शन ज्ञानमय हूँ (अर्थात् मात्र जानने–देखनेवाला ही हूँ), सदा अरूपी हूँ (अर्थात् किसी भी रूपी द्रव्य में और उससे होते भावों में 'मैंपना' नहीं होने से अपने को मात्र अरूपी ही अनुभवता है); कोई भी अन्य परद्रव्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है, यह निश्चय है।'

श्लोक ३२–'यह ज्ञान समुद्र भगवान आत्मा (अर्थात् ज्ञानमात्र शुद्धात्मा) विभ्रमरूपी आड़ी चादर को समूलतया डुबोकर (अर्थात् शुद्धनय से सर्व विभावभावों को अत्यन्त गौण करके, पर्याय को द्रव्य में अन्तर्गत कर लेता है अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से शुद्धात्मा में ही दृष्टि करके) स्वयं सर्वांग प्रगट हुआ है (अर्थात् ऐसा शुद्धात्मा का अनुभव हुआ है); अब यह समस्त लोक (अर्थात् समस्त विकल्परूप लोक–विभावरूप लोक) उसके शान्तरस में (अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्दरूप अनुभूति में) एक साथ ही अत्यन्त मग्न होओ (अर्थात् अपने को निर्विकल्प अनुभवता है वह) कैसा है शान्तरस (अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द)? समस्त लोकपर्यन्त उछल रहा है (अर्थात् अमाप,

अनहद, उत्कृष्ट) है।' ऐसी है आत्मा की अनुभूति कि जो हम अनेक बार अनुभवते हैं और वह सर्व मुमुक्षु जीवों को प्राप्त हो ऐसा चाहते हैं।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन की सिद्धि होने से, यहीं समयसार पूर्ण हो जाता है; अब बाद का जो विस्तार है, वह तो मात्र विस्तार रुचि जीवों को, विस्तार से इसी शुद्धात्मा में 'मैंपना' कराकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये, विस्तार से भेदज्ञान समझाया है। अर्थात् यह जीव अनादि से जो नौ तत्त्वोंरूप अलग-अलग वेश में परिणमकर और पर में कर्ताभाव को पोषण कर ठगाया जाता है, उस ठगामण को स्पष्ट करके, उस ठगामण को दूर कराने के लिये विस्तार से, सर्व भावों के साथ भेदज्ञान कराया है। किसी ने ऐसा नहीं समझना कि यह नव तत्त्वरूप भाव एकान्त से जीव के नहीं हैं अर्थात् ये नव तत्त्वरूप भाव हैं तो जीव के ही, परन्तु उनमें 'मैंपना' करने योग्य वे भाव नहीं हैं, इस अपेक्षा से उन्हें जीव के नहीं हैं ऐसा कहा है और उन्हें उसी प्रकार से समझना अति आवश्यक है। यदि कोई एकान्त से ऐसा कहे कि ये नव तत्त्वरूप भाव मेरे भाव ही नहीं हैं तो वह भ्रमरूप परिणमकर अनन्त संसार को बढ़ानेवाला बनेगा। इसलिए जिस अपेक्षा से जहाँ जो कहा हो, उसी अपेक्षा से वहाँ वह समझना और वैसा ही आचरण करना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा तो स्वच्छन्दता से भ्रमरूप परिणमकर अपने को ज्ञानी मानता हुआ वह जीव अपना और अन्य अनेक का अहित करता हुआ, स्वयं तो भ्रष्ट है ही और अन्य अनेकों को भी भ्रष्ट करेगा।

◆

३७

समयसार के अधिकारों का विहंगावलोकन

अब हम विस्तार रुचि जीवों के लिये समयसार शास्त्र के सर्व अधिकारों का विहंगावलोकन करेंगे; जिसमें सर्व अधिकारों का मात्र सार ही बतलायेंगे, इसलिए विस्तार रुचि जीवों को उपरोक्त पूर्वरंग में विस्तार से बतलाये भाव अनुसार और सर्व अधिकारों के यहाँ बतलाये सार अनुसार उन सर्व अधिकारों का अभ्यास करना, अन्यथा नहीं अर्थात् स्वच्छन्दता से नहीं क्योंकि स्वच्छन्द ही अपने अभी तक के अनन्त संसार का कारण है कि जिसे अब फिर कभी भी पोषण नहीं करना, ऐसा हमारा सर्व जनों को नम्र निवेदन है।

१. जीव-अजीव अधिकार : यह अधिकार जीव को, अजीवरूप कर्म-नोकर्म और उनके लक्ष्य से होनेवाले अपने विभावभावों से भेदज्ञान कराने के लिये है अर्थात् वे सर्व भाव जैसे कि-रस, गन्ध, स्पर्श, शरीर, संस्थान, संहनन, राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात्व, कर्म, पर्याप्ति, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, मन-वचन-काया के योग, बन्धस्थान, उदयस्थान, मार्गणा, स्थितिबन्धस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, जीवस्थान इत्यादि जीव को नहीं है, ऐसा कहा है; यहाँ प्रश्न होता है कि वे भाव जीव को क्यों नहीं है?

उत्तर - वे भाव दो प्रकार के हैं, एक तो पुद्गलरूप हैं और दूसरे जीव के विशेष भावरूप हैं; उनमें जो पुद्गलरूप हैं, वे तो जीव से प्रगट भिन्न ही हैं और जो जीव के विशेष भावरूप हैं, उन भावों में 'मैंपना' करने योग्य न होने से अर्थात् उन सर्व भावों से भिन्न ऐसा 'शुद्धात्मा' वह सम्यग्दर्शन का विषय होने की अपेक्षा से, शुद्धात्मारूप जीवराजा में वे भाव नहीं हैं, ऐसा कहा है। ऐसा सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने के लिये कहा है, अन्यथा नहीं, एकान्त से नहीं; इसलिए जैसा है वैसा समझकर मात्र शुद्धात्मा जो कि इन सर्व भावों से भिन्न है, उसमें ही 'मैंपना' करने पर, स्वात्मानुभूतिपूर्वक सम्यग्दर्शन प्रगट हो सकता है और तत्पश्चात् ही ज्ञान मध्यस्थ होने से अर्थात् प्रमाणरूप होने से ही जीव को जैसा है वैसा जानता है और विवेक से आत्मस्थिरतारूप पुरुषार्थपूर्वक सर्व कर्मों का क्षय करने के प्रति कार्यरत होता है अर्थात् सर्व कर्मों का क्षय करने को व्रत-तप-ध्यानरूप पुरुषार्थ आदरता है, यही मोक्षमार्ग है अर्थात् यही विधि है मोक्ष प्राप्ति की।

श्लोक ४३-'इस प्रकार पूर्वोक्त भिन्न लक्षण के कारण जीव से अजीव भिन्न है, उसे (अजीव को) अपने आप ही विलसता-परिणमता ज्ञानी पुरुष अनुभव करते हैं, तो भी अज्ञानी को अमर्यादरूप

पसरा हुआ मोह (अनन्तानुबन्धी चतुष्टयरूप) क्यों नाचता है – यह हमें महा आश्चर्य और खेद है!' अर्थात् आचार्य भगवन्त को अज्ञानी पर परम करुणाभाव वर्तता है, उपजता है।

श्लोक ४४–'इस अनादि काल के महा अविवेक के नाटक में अथवा नाच में वरणादिमान पुद्गल ही नाचता है (परिणमता है), अन्य कोई नहीं (शुद्धात्मा नहीं) और यह जीव तो (अर्थात् शुद्धात्मा) रागादि पुद्गल विकारों से विलक्षण (भिन्न) शुद्ध चैतन्य धातुमय मूर्ति (अर्थात् ज्ञानघन) है।' अर्थात् ऐसा जीव ही अनुभव करने का है अर्थात् ऐसा जीव ही सम्यग्दर्शन का विषय है।

श्लोक ४५–'इस प्रकार ज्ञानरूपी करवत का (अर्थात् तीक्ष्ण बुद्धि से भेदज्ञान करने का) जो बारम्बार अभ्यास (अर्थात् बारम्बार भेदज्ञान का अभ्यास करनेयोग्य है) उसे नचाकर (अर्थात् उससे भेदज्ञान करके) जहाँ जीव और अजीव दोनों प्रगटरूप से भिन्न नहीं हुए (अर्थात् उस भेदज्ञानरूपी करवत् से अर्थात् प्रज्ञाछैनी से जो अजीवरूप कर्म–नोकर्म और उनके लक्ष्य से हुए सर्व भावों से भिन्न स्वयं अर्थात् शुद्धात्मा प्रगट भिन्न है, ऐसा अनुभव होने से अर्थात् अपनी इन अजीवरूप कर्म–नोकर्म और उनके लक्ष्य से हुए सर्व भावों से प्रगट भिन्न अनुभूति होते ही) वहाँ तो ज्ञाताद्रव्य (अर्थात् जाननेवाला शुद्धात्मा) अत्यन्त विकासरूप होती अपनी प्रगट (अर्थात् प्रगट अनुभूतिस्वरूप) चिन्मात्र शक्ति से विश्व को व्यापकर (अर्थात् कृतकृत्य होकर अद्वितीय आनन्दरूप परिणमकर और स्व विश्व को व्यापकर) अपने आप ही (अर्थात् सहज) अति वेग से उग्रपने अर्थात् अत्यन्त रूप से प्रकाशित हो उठा (अर्थात् ऐसा सहज सम्यग्दर्शन प्रगट हो गया कि जो स्वात्मानुभूतिरूप सत्–चित्–आनन्दस्वरूप है)।'

२. कर्ता–कर्म अधिकार : जीव का दूसरा वेष कर्ता–कर्मरूप है। जीव अन्य का कर्ता होता है कि जिसे वह उपादानरूप से परिणमाने को शक्तिमान ही नहीं है अर्थात् सर्व द्रव्य अपने उपादान से ही अपनी परिणति करते हैं अर्थात् अपना कार्य करते हैं – परिणमते हैं, उसमें अन्य द्रव्य निमित्तमात्र ही होते हैं।

दूसरा सम्यग्दर्शन के लिये जो मात्र अपने भाव हों, वही अर्थात् 'स्व' भाव हो उसमें ही 'मैंपना' करना होने से और उस सम्यग्दर्शन के विषयरूप 'स्व' भाव, मात्र सामान्यभावरूप ही होने से वह निष्क्रियभाव ही होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन के विषयरूप 'स्व' भाव में उदय–क्षयोपशमरूप कर्ता–कर्म भाव जो कि विशेष भाव हैं, वे न होने से, निमित्त तथा उसके लक्ष्य से हुए विशेष भावों का उसमें निषेध ही होता है अर्थात् निमित्त का ही निषेध होता है, इस कारण से और इस अपेक्षा से भी निमित्त को परम अकर्ता कहा जाता है।

परन्तु यदि निमित्त को कोई एकान्त से अकर्ता माने और स्वच्छन्दता से निर्बल निमित्तों का ही सेवन करे तो वह जीव अनन्त संसारी होकर, अनन्त दु:ख को प्राप्त होता है अर्थात् विवेक ऐसा है कि – जीव सर्व खराब निमित्तों से बचकर, शास्त्र स्वाध्याय इत्यादि अच्छे निमित्तों का सेवन करके, शीघ्रता से मोक्षमार्ग में आगे बढ़ता है; नहीं कि एकान्त से निमित्त को अकर्ता मानकर, स्वच्छन्दता से सर्व निर्बल निमित्तों को सेवन करता हुआ अनन्त संसारी अर्थात् अनन्त दु:खी होता है।

विवेकीजन जानते हैं कि 'मात्र निमित्त से कुछ ही नहीं होता और निमित्त बिना भी कुछ ही नहीं होता' अर्थात् स्व का सम्यग्दर्शनरूप जो परिणमन है, वह मात्र निमित्त मिलने से होगा, ऐसा नहीं परन्तु उसके लिये स्वयं अपना–उपादानरूप पुरुषार्थ आदरे तो ही होगा अर्थात् सर्व जनों को सम्यग्दर्शन के लिये नियति इत्यादि कारणों के सामने न देखकर अपना पुरुषार्थ उस दिशा में स्फुरित करना अति आवश्यक है।

दूसरा विवेकी जीव समझते हैं कि जो अपने भाव बिगड़ते हैं वे वैसे निमित्त मिलने से बिगड़ते हैं; ऐसा जानकर, खराब निमित्तों से वह निरन्तर दूर ही रहने का प्रयत्न करता है, जैसे कि ब्रह्मचर्य और आत्मध्यान के लिये भगवान ने एकान्तवास का सेवन करना बतलाया है। ऐसा है विवेक निमित्त –उपादानरूप सम्बन्ध का, इसलिए उसे इस परिप्रेक्ष्य में ही समझना, अन्यथा नहीं। यहाँ सम्यग्दर्शन कराने को अर्थात् पर से दृष्टि हटाने के लिये निमित्त को परम अकर्ता कहा है, अन्यथा नहीं।

श्लोक ६९ – 'जो नय पक्षपात को छोड़कर (अर्थात् हमने पूर्व में अनेक बार बतलाये अनुसार जिसे किसी भी एक नय का आग्रह हो अथवा तो कोई मत–पन्थ–व्यक्ति विशेषरूप पक्ष का आग्रह हो और जो वैसे पूर्वाग्रह–हठाग्रह छोड़ सकते हैं वे) स्वरूप में गुप्त होकर (अर्थात् स्व में अर्थात् शुद्धात्मा में ही 'मैंपना' करके सम्यग्दर्शनरूप परिणमकर) सदा रहते हैं वे ही (अर्थात् नय और पक्ष को छोड़ते हैं, वैसे मुमुक्षु जीव ही सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकते हैं और वे ही), जिनका चित्त विकल्प मल से रहित शान्त हुआ है ऐसे होते हुए (अर्थात् निर्विकल्प 'शुद्धात्मा' का अनुभव करते हुए) साक्षात् अमृत को (अर्थात् अनुभूतिरूप अतीन्द्रिय आनन्द को) पीते हैं (अर्थात् अनुभव करते हैं)।' अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये सर्व जनों को नय और पक्ष का आग्रह छोड़नेयोग्य है।

श्लोक ९० – 'इस प्रकार जिसमें बहुत विकल्पों का जाल अपने आप उठ रहा है ऐसी महा नयपक्ष कक्षा को (नय के आग्रह को–पक्ष को) उल्लंघन करके (तत्त्ववेदी=सम्यग्दर्शनी होकर)

अन्दर और बाहर (अर्थात् पूर्ण आत्मा में) समतारसरूपी एक रस ही जिसका स्वभाव है, ऐसे अनुभूति मात्र एक अपने भाव को (परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा को) प्राप्त करते हैं।'

श्लोक ९९-'अचल (अर्थात् तीनों काल ऐसा का ऐसा ही परिणमता), व्यक्त (अनुभव प्रत्यक्ष) और चित् शक्तियों के समूह के भार से अत्यन्त गम्भीर (अर्थात् मात्र ज्ञानघनरूप) यह ज्ञानज्योति (अर्थात् ज्ञान सामान्यभावरूप ज्ञायक=शुद्धात्मा) अन्तरंग में उग्ररूप से इस प्रकार से ज्वाजल्यमान हुई कि-आत्मा अज्ञान में (पर का) कर्ता होता था वह अब कर्ता नहीं होता (अर्थात् पर का कर्तापना धारण करते भाव में एकत्व नहीं करता) और अज्ञान के निमित्त से पुद्‌गलकर्मरूप होता था, वह कर्मरूप नहीं होता (अर्थात् अज्ञान के निमित्त से जो बन्ध होता था वह अज्ञान जाते ही, उसके निमित्त से होनेवाला बन्ध भी अब नहीं); और ज्ञान, ज्ञानरूप ही रहता है (अर्थात् ज्ञानी अपने को सामान्य ज्ञानरूप शुद्धात्मा ही अनुभव करता है जो कि त्रिकाल ज्ञानरूप ही रहता है) और पुद्‌गल, पुद्‌गलरूप ही रहता है (अर्थात् ज्ञानी पुद्‌गल को पुद्‌गलरूप और उससे होनेवाले भावों को भी उस रूप ही जानकर, उनमें 'मैंपना' नहीं करता अर्थात् ज्ञानी इस प्रकार भेदज्ञान करता है)।' इस प्रकार सम्यग्दर्शन प्रगट करता है।

३. पुण्य-पाप अधिकार : इस अधिकार में भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने के लिये जो सम्यग्दर्शन का विषय है अर्थात् जो शुद्धात्मा है, उसमें बन्धरूप कोई भी भाव न होने से अर्थात् उसमें सर्व विभावभाव का अभाव होने से, बन्धमात्र भाव अर्थात् शुभभाव और अशुभभाव, ये दोनों (दृष्टि के विषय में) नहीं हैं ऐसा बतलाने के लिये दोनों को एक समान कहा है अर्थात् पुण्य और पाप अर्थात् शुभभाव और अशुभभाव, सम्यग्दर्शन के विषयरूप परम पारिणामिकभावरूप-सहज परिणमनरूप शुद्ध आत्मा में न होने से, दोनों को समान अपेक्षा से हेय कहा है अर्थात् दोनों विभावभाव होने से-बन्धरूप होने से एकसमान हेय है।

यहाँ किसी को एकान्त से ऐसा नहीं समझना क्योंकि अशुभभाव में परिणमने का कभी कोई उपदेश होता ही नहीं, परन्तु यहाँ बतलाये अनुसार सम्यग्दर्शन कराने को, दोनों भावों से भेदज्ञान कराया है और भेदज्ञान की अपेक्षा से दोनों समान ही है, नहीं कि अन्यथा।

यदि कोई अन्यथा पुण्य को हेय समझकर अथवा तो पुण्य-पाप को समानरूप से हेय समझकर, स्वच्छन्दता से पापरूप अर्थात् अशुभभाव से परिणमते हों, उसी में रचते हों तो वह उन्हें महाअनर्थ का कारण है। यदि कोई इसी प्रकार से एकान्त समझकर, इसी प्रकार से एकान्त

प्रतिपादन करता हो तो वह स्वयं तो भ्रष्ट है ही और अन्य अनेकों को भी भ्रष्ट कर रहा है अर्थात् जैन सिद्धान्त में विवेक का ही बोलवाला है अर्थात् सर्व कथन जिस अपेक्षा से कहा हो, उसी अपेक्षा से ग्रहण करना चाहिए, यही विवेक है; इसलिए सर्व मोक्षार्थियों को पूर्व में बतलाये अनुसार एकमात्र आत्म प्राप्ति के लक्ष्य से नियम से शुभ में ही रहनेयोग्य है, यही जिन सिद्धान्त का सार है। इसलिए यहाँ बतलाये अनुसार ही अर्थात् विवेकपूर्वक ही सर्व जन सम्यग्दर्शन को पाते हैं और विवेकपूर्वक ही निर्वाण को पाते हैं।

गाथा १५१-गाथार्थ-'निश्चय से जो परमार्थ है (अर्थात् परमपारिणामिकभावरूप-सहज परिणमनरूप शुद्धात्मा है), समय है, शुद्ध है, केवली है, मुनि है, ज्ञानी है, उस स्वभाव में (शुद्धात्मा में) स्थित मुनि निर्वाण को पाते हैं।'

गाथा १५२-गाथार्थ-'परमार्थ में अस्थित (अर्थात् मिथ्यादृष्टि) ऐसा जो जीव तप करता है तथा व्रत धारण करता है, उसके वे सर्व तप और व्रत को सर्वज्ञ बालतप और बालव्रत कहते हैं।' अर्थात् इन बालतप और बालव्रत छोड़ने को नहीं कहते परन्तु इनसे भी परम उत्कृष्ट ऐसा आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रोत्साहित करते हैं और जो परमार्थ में स्थित हैं, उन्हें तो नियम से आगे व्रत-तप इत्यादि आते ही हैं, ऐसा है जिन सिद्धान्त का विवेक जो कि आत्मा को ऊपर चढ़ने को ही कहता है, नहीं कि अन्यथा। अर्थात् व्रत-तप छोड़कर नीचे गिरने को कभी नहीं बतलाता।

श्लोक १११-'कर्मनय के अवलम्बन में तत्पर (अर्थात् कर्मनय के पक्षपाती अर्थात् कर्म को ही सर्वस्व माननेवाले) पुरुष डूबे हुए हैं क्योंकि वे ज्ञान को नहीं जानते (अर्थात् ज्ञानरूप आत्मा की अर्थात् अपनी शक्ति में विश्वास नहीं परन्तु कर्म की अर्थात् पर की शक्ति में विश्वास है)। ज्ञाननय के इच्छुक पुरुष भी डूबे हुए हैं (क्योंकि उन्हें एकान्त से ज्ञान का ही पक्ष होने से वे कर्म को कुछ वस्तु ही नहीं मानते और एकान्त से निश्चयाभासीरूप से परिणमते हैं) क्योंकि वे स्वच्छन्द से अति मन्द उद्यमी हैं (क्योंकि वे निश्चयाभासी होने से, पुण्य और पाप को समानरूप से हेय अर्थात् सर्व अपेक्षा से हेय अर्थात् एकान्त से हेय मानते होने से, कुछ भी पुरुषार्थ नहीं करते, एकान्त से समझते हैं और वैसा ही बोलते हैं कि 'मैं तो ज्ञानमात्र ही हूँ' और रचते हैं संसार में, अर्थात् आत्मज्ञान के लिये योग्यता इत्यादिरूप अभ्यास भी नियतिवादियों की तरह नहीं करते क्योंकि वे मानते हैं कि आत्मज्ञान के लिये योग्यता तो उसके काल में आ ही जायेगी; इस प्रकार अपने को ज्ञानमात्र मानते हुए और वैसे ही भ्रम में रहते होने से, धर्म में योग्यता करने के लिये

मन्द उद्यमी हैं और इसलिए वे विषय कषाय में बिना संकोच वर्तते हैं)। (अब यथार्थ समझ युक्त जीव की बात करते हैं कि जो सम्यग्दृष्टि हैं) वे जीव विश्व के ऊपर तैरते हैं (अर्थात् विश्व की अन्य किसी वस्तु में जिनका 'मैंपना' और 'मेरापना' नहीं, इसलिए उनमें उन्हें कुछ भी लगाव नहीं, इसलिए वे जीव विश्व के ऊपर तैरते हैं), कि जो स्वयं निरन्तर ज्ञानरूप होते-परिणमते हुए (अर्थात् अपने को परमपारिणामिकभावरूप अर्थात् सहज परिणमनरूप अर्थात् सामान्य ज्ञानरूप अनुभवते हुए) कर्म नहीं करते (अर्थात् कोई भी कर्म अथवा उसके निमित्त से होते भाव में 'मैंपना' और 'मेरापना' नहीं करते, कर्ताबुद्धि पोषित नहीं करते) और कभी प्रमाद के वश भी नहीं होते (अर्थात् बुद्धिपूर्वक स्व में रहने का सतत् पुरुषार्थ करते हैं)।'

४. आस्रव अधिकार : इस अधिकार में भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने के लिये अर्थात् भेदज्ञान कराने के लिये, जो सम्यग्दर्शन का विषय है अर्थात् जो शुद्धात्मा है, उसमें आस्रवरूप भाव न होने से अर्थात् उसमें सर्व विभावभाव का अभाव होने से कहा है कि - ज्ञानी को आस्रव नहीं। अर्थात् ज्ञानी को आस्रवभावरूप जो अपना परिणमन है, उसमें 'मैंपना' नहीं होता और उसमें कर्तापना भी नहीं है क्योंकि ज्ञानी उस भावरूप स्वेच्छा से नहीं परिणमता परन्तु बलजोरीपूर्वक अर्थात् कमजोरी के कारण परिणमता होने से कर्तापना नहीं है।

ज्ञानी को अल्प आस्रव होता अवश्य है, परन्तु ज्ञानी को अनन्तानुबन्धी कषायें और मिथ्यात्व का आस्रव न होने से भी ज्ञानी को आस्रव नहीं है, ऐसा कहा है। परन्तु यदि कोई इस बात को एकान्त से ग्रहण करके स्वच्छन्दता से आस्रव भावों का सेवन करे अथवा कोई अपने को ज्ञानी समझकर स्वच्छन्दता से आस्रव भावों का सेवन करे तो वह उसे महा अनर्थ का कारण है अर्थात् यदि कोई इस प्रकार से एकान्त से समझकर इसी प्रकार एकान्त से प्रतिपादन करता हो तो वह स्वयं तो भ्रष्ट है ही और अन्य अनेकों को भ्रष्ट कर रहा है अर्थात् जैन सिद्धान्त में विवेक की ही प्रधानता है अर्थात् सर्व कथन जिस अपेक्षा से कहा हो, उसी अपेक्षा से ग्रहण करना चाहिए, वही विवेक है; इसलिए सर्व मोक्षार्थियों को पूर्व में बतलाये अनुसार एकमात्र आत्म प्राप्ति के लक्ष्य से नियम से आस्रव के कारणों से दूर ही रहना योग्य है, यही जिन सिद्धान्त का सार है।

श्लोक ११६-'आत्मा जब ज्ञानी होता है तब स्वयं अपने समस्त बुद्धिपूर्वक राग को निरन्तर छोड़ता हुआ अर्थात् नहीं करता हुआ (अर्थात् ज्ञानी को अभिप्राय में मात्र मुक्ति होने से किसी भी रागरूप परिणमित होने की अंशमात्र भी इच्छा नहीं होती) और जो अबुद्धिपूर्वक राग है, उसे भी जीतने को बारम्बार (ज्ञानानुभवनरूप) स्वशक्ति को स्पर्शता हुआ और (इस प्रकार से) समस्त

परवृत्ति को–परपरिणति को उखाड़ता हुआ (अर्थात् अपूर्व निर्जरा करता हुआ) ज्ञान के पूर्ण भावरूप होता हुआ वास्तव में सदा निरास्रव है।'

अर्थात् ऐसी है ज्ञान की साधना – स्वयं मात्र शुद्धात्मा में ही 'मैंपना' करता हुआ और उसी की अनुभूति करता हुआ बुद्धिपूर्वक अर्थात् प्रयत्नपूर्वक अर्थात् पूर्ण जागृतिपूर्वक, जो भी उदय आता है, उसके सामने लड़ता है अर्थात् उदय से परास्त हुए बिना अर्थात् उदय में मिले बिना, स्वयं शुद्धात्मा में ही बारम्बार स्थिरता का प्रयत्न करता है और यदि वैसी स्थिरता अन्तर्मुहूर्त से अधिक हो जाये, तो ज्ञानी सर्व घातिकर्मों का नाश करके केवली हो जाता है और फिर कुछ काल में मुक्त हो जाता है ऐसा है मोक्षमार्ग।

श्लोक १२०–'उद्यत ज्ञान (अर्थात् ज्ञानमात्र) जिसका लक्षण है ऐसे शुद्धनय में रहकर अर्थात् शुद्धनय का आश्रय करके जो सदा एकाग्रपने का ही अभ्यास करते हैं (अर्थात् शुद्धात्मा में ही 'मैंपना' करके, उसी का अनुभव करके, उसी में स्थिरता का अभ्यास करते हैं) वे निरन्तर रागादि से रहित चित्तवाले वर्तते हुए (अर्थात् शुद्धात्मा में रागादि का कण भी नहीं और उसमें ही 'मैंपना' करते हुए) बन्धरहित ऐसे समयसार को (अर्थात् अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को) देखते हैं–अनुभव करते हैं।'

श्लोक १२२–'यहाँ यही तात्पर्य है कि (अर्थात् इस अधिकार का यही उद्देश्य है कि) शुद्धनय त्यागनेयोग्य नहीं (अर्थात् मात्र शुद्धनय में ही रहने योग्य है, क्योंकि उसमें आस्रव नहीं होता), क्योंकि उसके अत्याग से (कर्म का) बन्ध नहीं होता और उसके त्याग से ही बन्ध होता है।'

श्लोक १२३–'धीर (चलाचलतारहित) और उदार (सर्व पदार्थों में विस्तारयुक्त अथवा पूर्ण आत्मरूप) जिसकी महिमा है ऐसे अनादि–निधन ज्ञान में (अर्थात् त्रिकाली शुद्धज्ञान जो कि परमपारिणामिकभावरूप ज्ञान सामान्यमात्र है, उसमें) स्थिरता को बाँधता हुआ (अर्थात् उसमें ही 'मैंपना' करता हुआ और उसका ही अनुभव करता हुआ) शुद्धनय – जो कि कर्मों को मूल से नाश करनेवाला है–पवित्र धर्मी (सम्यग्दृष्टि) पुरुषों को कभी भी छोड़नेयोग्य नहीं है (अर्थात् निरन्तर ग्रहण करनेयोग्य है अर्थात् उसमें ही स्थिरता करनेयोग्य है, उसका ही ध्यान करनेयोग्य है)। शुद्धनय में स्थित उन पुरुषों को (अर्थात् स्वात्मानुभूति में स्थित पुरुषों को) बाहर निकलते ऐसे अपने ज्ञानकिरणों के समूह को (अर्थात् कर्म के निमित्त से पर में जानेवाली ज्ञान की विशेष व्यक्तियों को) अल्पकाल में समेटकर पूर्ण ज्ञानघन के पुंजरूप (मात्र ज्ञानस्वरूप) एक, अचल शान्त तेज को–तेज पुंज को देखते हैं अर्थात् अनुभव करते हैं।'

५. संवर अधिकार : इस अधिकार में आचार्य भगवन्त बतलाते हैं कि जो सम्यग्दर्शन है अर्थात् जो शुद्धात्मा की अनुभूति है और उसमें ही स्थिरता है, वही साक्षात् संवर है। इस कारण इस अधिकार में भी आचार्य भगवन्त आत्मा के औदयिक भावों से भेदज्ञान कराकर जीवों को परमपारिणामिकभावरूप आत्मा के सहज परिणमनरूप शुद्धात्मा में ही स्थापित करते हैं और कहते हैं कि उस शुद्धात्मा का वेदन, अनुभवन और स्थिरता ही निश्चय से संवर का कारण है; इसलिए अज्ञानी को कार्यकारी संवर नहीं है, जबकि ज्ञानी को वह सहज ही होता है। जैसे कि -

श्लोक १२९-'यह साक्षात् (सर्व प्रकार से) संवर वास्तव में शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि से (अर्थात् सम्यग्दर्शन से) होता है; और उस शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि भेदविज्ञान से ही होती है इसलिए वह भेदविज्ञान अत्यन्त भाने योग्य है।' अर्थात् एकमात्र भेदविज्ञान का ही पुरुषार्थ कार्यकारी है।

श्लोक १३०-'यह भेदविज्ञान अविच्छिन्न धारा से (अर्थात् जिसमें विच्छेद-विक्षेप न पड़े, ऐसे अखण्ड प्रवाहरूप से) तब तक भाना कि जब तक परभावों से छूटकर ज्ञान, ज्ञान में ही स्थिर हो जाये।' अर्थात् केवली बनने तक यही भेदज्ञान का अभ्यास निरन्तर करनेयोग्य है।

श्लोक १३१-'जो कोई सिद्ध हुए हैं, वे भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं; और जो कोई बँधे हैं, वे उसके (भेदविज्ञान के) ही अभाव से बँधे हैं।'

अर्थात् भेदविज्ञान जैनदर्शन का सार है और उसके लिये ही यह 'समयसार' नाम का पूर्ण शास्त्र रचा गया है; इसलिए समयसार में सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने के लिये आत्मा को सम्यग्दर्शन के विषयरूप शुद्धात्मारूप से ही ग्रहण किया है और अन्य भावों से भेदविज्ञान कराया है।

६. निर्जरा अधिकार : इस अधिकार में आचार्य भगवन्त बतलाते हैं कि जो सम्यग्दर्शन है अर्थात् जो शुद्धात्मा की अनुभूति और उसमें स्थिरता है, वही साक्षात् निर्जरा है, अन्यथा नहीं। इस कारण से इस अधिकार में साक्षात् निर्जरा के लिये भी भेदज्ञान ही कराया है, क्योंकि एकमात्र शुद्धात्मा की शरण लेने से ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और उस सम्यग्दृष्टि को ही साक्षात् निर्जरा होती है, अन्यथा नहीं। जैसे कि -

गाथा १९५-'जैसे वैद्य पुरुष विष को भोगता हुआ अर्थात् खाते हुए भी मरण को प्राप्त नहीं होता (क्योंकि उसे उसकी मात्रा, पथ्य-अपथ्य इत्यादि का ज्ञान होने से मरण को प्राप्त नहीं होता), इसी प्रकार ज्ञानी पुद्‌गलकर्म के उदय को भोगता है तथापि बँधता नहीं।' क्योंकि ज्ञानी

विवेकी होने से उन कर्मों के उदय को भोगते हुए भी उस रूप नहीं होता अर्थात् स्वयं को उस रूप नहीं मानता, परन्तु अपना 'मैंपना' एकमात्र शुद्धभाव में ही होने से और उस उदय को चारित्र की कमजोरी के कारण भोगता होने से, उसे बन्ध नहीं है अर्थात् उसके अभिप्राय में भोग के प्रति जरा भी आदरभाव है ही नहीं क्योंकि उसका पूर्ण आदरभाव एकमात्र स्वतत्त्वरूप शुद्धात्मा में ही होता है और इस अपेक्षा से उसे बन्ध नहीं है परन्तु भोग में भी अर्थात् भोग-भोगते हुए भी निर्जरा है, ऐसा कहा जाता है।

गाथा २०५ भावार्थ-'ज्ञानगुण से रहित (अर्थात् विवेकरूप ज्ञान से रहित) बहुत से लोग (बहुत प्रकार के कर्म करने पर भी) इस ज्ञानस्वरूप पद को प्राप्त नहीं करते (अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं करते); इसलिए हे भव्य! यदि तू कर्म से सर्वथा मुक्त होना चाहता हो (अर्थात् अपूर्व निर्जरा करना चाहता हो) तो नियत ऐसे इसे (ज्ञान को) (अर्थात् परमपारिणामिकभावरूप अर्थात् आत्मा के सहज परिणमन को जो कि सामान्य ज्ञानरूप है कि जिसे ज्ञायक अथवा शुद्धात्मा भी कहा जाता है, उसे) ग्रहण कर (अर्थात् उसमें ही 'मैंपना' करके उसका ही अनुभव करके, सम्यग्दर्शन प्रगट कर)।'

गाथा २०६ गाथार्थ-'(हे भव्य प्राणी)! तू इसमें नित्यरत अर्थात् प्रीतिवाला हो, इसमें नित्य सन्तुष्ट हो, और इससे तृप्त हो; (ऐसा करने से) तुझे उत्तम (उत्कृष्ट) सुख होगा।' अर्थात् शुद्धात्मा के आश्रय से ही मोक्षमार्ग और मोक्ष प्राप्त होगा जो कि अव्याबाध सुखरूप है।

श्लोक १६२-'इस प्रकार नवीन बन्ध को रोकता हुआ और (स्वयं) अपने आठ अंगों सहित होने के कारण (अर्थात् सम्यग्दृष्टि स्वयं सम्यग्दर्शन के आठ अंग सहित होता है, इस कारण से) निर्जरा प्रगट होने से पूर्वबद्ध कर्मों का नाश कर डालता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव स्वयं अति रस से (अर्थात् निजरस में मस्त होता हुआ) आदि-मध्य-अन्तरहित ज्ञानरूप होकर (अर्थात् अनुभूति में मात्र ज्ञान सामान्य ही है, अन्य कुछ नहीं होने से कहा कि आदि-मध्य-अन्तरहित ज्ञानरूप होकर) आकाश के विस्ताररूपी रंगभूमि में अवगाहन करके (अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव के लिये वह ज्ञानस्वरूप लोक ही उसका सर्व लोक होने से, उसी रंगभूमि में रहकर अर्थात् चिदाकाश में अवगाहन करके) नृत्य करता है (अर्थात् अद्वितीय आनन्द का आस्वाद लेता है-अपूर्व आनन्द को भोगता है)।'

७. बन्ध अधिकार : ज्ञानी को एकमात्र सहज परिणमनरूप शुद्धात्मा में ही 'मैंपना' होने से और उसका ही अनुभव करता होने से तथा उस भाव में बन्ध का सदा अभाव होने से ज्ञानी को बन्ध नहीं है ऐसा कहा जाता है।

दूसरा ज्ञानी को विवेक जागृत हुआ होने से, जैसे वैद्य जहर खाने पर भी मरता नहीं, वैसे ज्ञानी भी विवेकपूर्वक अपने बल की कमी के कारण अर्थात् अपनी कमजोरी के कारण भोग-भोगते हुए भी, उसे बहुत ही अल्प बन्ध होने से, उसे बन्ध नहीं है ऐसा कहा जाता है अर्थात् ज्ञानी को राग में और बन्ध के अन्य कारणों में 'मैंपना' नहीं होता और स्वयं बन्धरूप भी स्वेच्छा से परिणमित नहीं होता इसलिए इन दोनों अपेक्षाओं से उसे बन्ध नहीं है ऐसा कहा जाता है।

तीसरा भेदज्ञान कराने को और सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने को एकमात्र शुद्धात्मा का ही शरण लेना होने से, जो कि दृष्टि के विषयरूप शुद्धात्मा में बन्ध का सदा अभाव ही है, वही इस अधिकार का सार है।

गाथा २७८-२७९ गाथार्थ-'जैसे स्फटिक मणि शुद्ध होने से (अर्थात् ज्ञानी जिसमें 'मैंपना' करता है वह शुद्धात्मा स्वयं शुद्ध होने से) रागादिरूप से (लालिमा आदिरूप से) अपने आप नहीं परिणमता (अर्थात् ज्ञानी स्वेच्छा से रागरूप नहीं परिणमता अर्थात् इच्छापूर्वक राग नहीं करता) परन्तु अन्य रक्त आदि द्रव्यों द्वारा वह रक्त (लाल) आदि किया जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी अर्थात् (शुद्धात्मा में ही 'मैंपना' करते हुए) आत्मा शुद्ध होने से (अर्थात् शुद्धात्मा स्वयं शुद्ध होने से) रागादिरूप अपने आप नहीं परिणमता परन्तु अन्य रागादि दोषों द्वारा (अर्थात् उसके योग्य ऐसे कर्म के उदय के निमित्त कारण से) वह रागी आदि किया जाता है (अर्थात् वह अपनी कमजोरी के कारण रागी-द्वेषी होता है अर्थात् राग-द्वेषरूप परिणमता है)।'

श्लोक १७५-'सूर्यकान्त मणि की भाँति (अर्थात् जैसे सूर्यकान्त मणि स्वयं से ही अग्निरूप नहीं परिणमती, उसके अग्निरूप परिणमन में सूर्य का बिम्ब निमित्त है, उसी प्रकार) आत्मा स्वयं को रागादि का निमित्त कभी भी नहीं होता (अर्थात् शुद्धात्मा स्वयं शुद्ध होने से, रागादिरूप अपने आप कभी नहीं परिणमता), उसमें निमित्त परसंग ही (परद्रव्य का संग ही) है-ऐसा वस्तुस्वभाव प्रकाशमान है (सदा वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है, किसी ने किया नहीं है)।'

अर्थात् आपने पूर्व में जो 'निमित्त-उपादान' की चर्चा में देखा कि विवेकी मुमुक्षु निर्बल निमित्तों को तजता है अर्थात् उनसे दूर ही रहता है क्योंकि वह जानता है कि वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है कि खराब निमित्त से उसका पतन हो सकता है; ऐसा है अनेकान्तवाद जैन सिद्धान्त का। अर्थात् कोई निमित्त को एकान्त से अकर्ता माने और ऐसा ही प्ररूपण करे तो वह जिनमत बाह्य ही है अर्थात् वह अपने और अन्य अनेकों के पतन का कारण है, यही बात इस श्लोक

में भी बतलायी है कि शुद्धात्मा स्वयं शुद्ध होने से, रागादिरूप अपने आप कभी नहीं परिणमता, परन्तु उसमें निमित्त परसंग ही है – ऐसा वस्तु स्वभाव प्रकाशमान है अर्थात् सदा वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है, किसी ने किया नहीं है अर्थात् निमित्त स्वयं उपादानरूप से परिणमता न होने पर भी वह अमुक संयोगों में उपादान को असर करता है और उसे ही वस्तुस्वभाव कहा है; इसीलिए जैन सिद्धान्त को विवेक से ग्रहण किया जाता है और अपेक्षा से समझा जाता है, नहीं कि एकान्त से जो कि महा अनर्थ का कारण है।

८. मोक्ष अधिकार : परमपारिणामिकभावरूप अर्थात् सहज परिणमनयुक्त शुद्धात्मा में 'मैंपना' करते ही स्वात्मानुभूतिपूर्वक सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और फिर उसी में निरन्तर स्थिरता करने से आत्मा क्षपकश्रेणी माँडकर सर्व घातिकर्मों का नाश करके केवलज्ञान–केवलदर्शन प्राप्त करता है और फिर आयुक्षय को मोक्ष प्राप्त करता है; यही मोक्ष का मार्ग है और इसलिए सर्व जीवों को शुद्धात्मा ही सेवन करने योग्य है, यही मोक्ष अधिकार का सार है।

गाथा २९४ गाथार्थ–'जीव तथा बन्ध नियत स्वलक्षणों से (अपने–अपने निश्चित लक्षणों से) छेदे जाते हैं (अर्थात् जीव का लक्षण ज्ञान है और बन्ध का लक्षण पुद्गलरूप कर्म–नोकर्म और उनके निमित्त से होते जीव के भावोंरूप है); प्रज्ञारूपी छैनी द्वारा (अर्थात् तीक्ष्ण बुद्धि अथवा भगवती प्रज्ञा से उन दोनों के बीच भेदज्ञान से) छेदने में आने पर (भेदज्ञान करने पर) वे नानापने को प्राप्त होते हैं अर्थात् भिन्न हो जाते हैं (अर्थात् भिन्न अनुभव में आते हैं)।' अर्थात् द्रव्यदृष्टि में मात्र 'शुद्धात्मा' रूप जीव ही ग्रहण होता है और उसमें ही 'मैंपना' होने पर=करने पर स्वात्मानुभूतिसहित सम्यग्दर्शन प्रगट होता है अर्थात् दोनों भावों में प्रगट भेदज्ञान हो जाता है।

गाथा २९४ टीका–'....आत्मा का स्वलक्षण चैतन्य है, क्योंकि वह समस्त शेष द्रव्यों से असाधारण है (अर्थात् अन्य द्रव्यों में वह नहीं है)। वह (चैतन्य) प्रवर्तता हुआ (परिणमता हुआ) जिस–जिस पर्याय को व्याप्त कर प्रवर्तता है (अर्थात् जिस–जिस पर्यायरूप परिणमता है) और निवर्तता हुआ जिस–जिस पर्याय को ग्रहण करके निवर्तता है, वे–वे समस्त सहवर्ती या क्रमवर्ती पर्यायें आत्मा है ऐसा लक्षित करना.... (यहाँ समझना कि आत्मद्रव्य अभेद ही है और वह अभेदरूप ही परिणमता है इसलिए कहा है कि समस्त सहवर्ती या क्रमवर्ती पर्यायें आत्मा है। जो सर्व प्रथम द्रव्य–गुण–पर्याय की समझ में बतलाया, वही भाव यहाँ भी दृढ़ ही होता है।)'

गाथा २९७ गाथार्थ–'प्रज्ञा द्वारा (अर्थात् ज्ञान द्वारा आत्मा को) ऐसा ग्रहण करना कि

जो चेतनेवाला है, वह निश्चय से मैं हूँ (अर्थात् जो जानने-देखनेवाला है, वही निश्चय से मैं हूँ क्योंकि ज्ञान वह आत्मा का लक्षण होने से आत्मा मात्र ज्ञान से ही ग्राह्य है परन्तु जो सामान्य ज्ञान है, वह केवली के तरह छद्मस्थ के ज्ञान का विषय नहीं होता, वह मात्र अनुभूति का विषय है, इसलिए वह अनुभव में आता है परन्तु केवली जैसे जानते हैं वैसे छद्मस्थ को जानने में आता न होने से, सामान्यज्ञान को उसके लक्षण से अर्थात् पदार्थ के ज्ञान से अर्थात् पर के ज्ञान से ग्रहण किया जा सकता है। इसलिए अपेक्षा से कहा जाता है कि 'पर का जानना वह ज्ञायक में जाने की सीढ़ी है' अर्थात् जिस तल पर परपदार्थ ज्ञात होते हैं, वह तल ही सामान्य ज्ञान है अर्थात् जो ज्ञेयाकार है, वह ज्ञान का बना हुआ होने से वास्तव में वह ज्ञानाकार ही है और उसमें आकार को गौण करते ही, वहाँ ज्ञानमात्र अर्थात् सामान्यज्ञानरूप ज्ञायक ही है कि जो परमपारिणामिकभावरूप अर्थात् आत्मा के ज्ञानगुण के सहज परिणमनरूप है और उसे ही शुद्धात्मा अर्थात् ज्ञायक कहा जाता है, वह प्राप्त होता है और उसमें ही 'मैंपना' करने से, स्वात्मानुभूतिपूर्वक सम्यग्दर्शन प्रगट होता है; यही विधि है सम्यग्दर्शन की।) बाकी के जो भाव हैं (अर्थात् जो ज्ञेयाकार हैं, अर्थात् जो राग-द्वेष इत्यादि विभावभाव हैं) वे मुझसे पर हैं (अर्थात् उनसे भेदज्ञान करना किस प्रकार करना? उत्तर-उन राग-द्वेष इत्यादि विभावभावों को अत्यन्त गौण करने से वे दृष्टि में ही नहीं आते यही भेदविज्ञान की विधि है) ऐसा जानना।' यही भाव आगे दृढ़ करते हैं-

गाथा २९८-२९९ गाथार्थ-'प्रज्ञा द्वारा ऐसा ग्रहण करना कि जो देखनेवाला है वह निश्चय से मैं हूँ, बाकी के जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं ऐसा जानना और प्रज्ञा द्वारा ऐसा ग्रहण करना कि जाननेवाला है वह निश्चय से मैं हूँ, बाकी के जो भाव हैं, वे मुझसे पर हैं, ऐसा जानना।' पूर्व में जो समझाया है, उसे ही यहाँ-इन गाथाओं में प्रतिपादित किया है।

गाथा ३०६-३०७ गाथार्थ-'प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि-ये आठ प्रकार का विषकुम्भ है (अर्थात् जो पूर्व में बतलाया, वैसे समयसार शास्त्र भेदज्ञान कराने के लिये होने से अर्थात् इस शास्त्र में एकमात्र शुद्धात्मा का ही लक्ष्य कराने का उद्देश्य होने से और उसमें ही 'मैंपना' कराकर स्वात्मानुभूतिपूर्वक सम्यग्दृष्टि बनाने का उद्देश्य होने से और उस सम्यग्दर्शन का विषय तथा सम्यग्दर्शन होने के बाद ध्यान का विषय भी शुद्धात्मा ही है, कि जिसका स्वरूप सर्व विकल्परहित ऐसा निर्विकल्प है, इसलिए यहाँ बतलाये सर्व विकल्पयुक्त भावों को विकल्प अपेक्षा से विषकुम्भ कहा है। क्योंकि जो जीव यहाँ बतलाये हुए सर्व विकल्पयुक्त भावों में ही रहता है और धर्म हुआ मानता है तो वह उसके लिये विषकुम्भ समान

हैं क्योंकि वह स्वयं को ये सब कार्य करके कृतकृत्य मानता है और शुद्धात्मा का लक्ष्य भी नहीं करता तो ये समस्त भाव उसे विषकुम्भ समान हैं अर्थात् यहाँ बतलाये हुए सर्व अपेक्षा से और निर्विकल्प आत्मस्वरूप में ही स्थिरता कराने के लिये और उसे ही परमधर्म स्थापित करने के लिये इन सर्वभावों को विषकुम्भ कहा है; किसी ने इसे अन्यथा अर्थात् एकान्त से ग्रहण नहीं करना)। अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा, और अशुद्धि - यह अमृतकुम्भ है (अर्थात् ऊपर के सर्व भावों के आगे यहाँ अ लगाकर सर्व विकल्पात्मक भावों का निषेध किया है अर्थात् निश्चयनय निषेधरूप होने से और शुद्धात्मा विकल्परहित अर्थात् निर्विकल्प स्वभावरूप होने से कि जो सम्यग्दर्शन का विषय है और बाद में ध्यान का भी विषय है अर्थात् स्थिरता करने का विषय है उसमें ही रहना, वह अमृतकुम्भ समान है अर्थात् मुक्ति का कारण है इसलिए वह अमृतकुम्भ है ऐसा बतलाया है)।'

यहाँ किसी को छल ग्रहण नहीं करना अर्थात् विपरीत समझ ग्रहण नहीं करना। जिस अपेक्षा से उपर्युक्त भावों को विषकुम्भ कहा है, वह समझे बिना एकान्त से उन्हें विषरूप समझकर उन्हें छोड़ नहीं देना और स्वच्छन्द से राग-द्वेषरूप नहीं परिणमना क्योंकि वह तो अभव्य अथवा दूर भव्यपने की ही निशानी है अर्थात् वैसे आत्मा को अनन्त संसार समझना।

जैसे कि समाधितन्त्र गाथा ८६ में बतलाया है कि 'हिंसादि पाँच अव्रतों में अनुरक्त मनुष्य को अहिंसादि व्रतों का धारण करके अव्रत अवस्था में होते विकल्पों का नाश करना तथा अहिंसादिक व्रतों के धारक को ज्ञानस्वभाव में लीन होकर व्रतावस्था में होते विकल्पों का नाश करना और फिर अरहन्त अवस्था में केवलज्ञान से युक्त होकर स्वयं ही परमात्मा होना-सिद्धस्वरूप को प्राप्त करना।' अर्थात् अशुभभाव तो नहीं ही, और शुद्ध भाव का भोग देकर शुभभाव भी नहीं। जिन सिद्धान्त का प्रत्येक कथन सापेक्ष ही होता है और यदि उसे कोई निरपेक्ष समझे - माने-ग्रहण करे तो वह उसके अनन्त संसार का कारण होता है, इसलिए वैसा करनेयोग्य नहीं नहीं नहीं ही।

९. सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार : यह अधिकार समयसार शास्त्र का हार्द है अर्थात् इस शास्त्र का उद्देश्य है सम्यग्दर्शन प्राप्त कराना और फिर सिद्धत्व दिलाना अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने के लिये भेदज्ञान कराने को, जो सम्यग्दर्शन का विषय है अर्थात् जो शुद्धात्मा है, उसमें कोई विभावभाव न होने से अर्थात् उसमें सर्व विभावभाव का अभाव होने से, वह सर्व विशुद्ध है अर्थात् वह अनादि-अनन्त विशुद्धभाव है जो कि परमपारिणामिकभावरूप, आत्मा के सहज परिणमनरूप, गुणों के सहज परिणमनरूप, ज्ञानमात्र, सामान्य ज्ञानरूप, सामान्य चेतनारूप, सहज

चेतनारूप, कारणशुद्धपर्यायरूप, कारणसमयसाररूप, चैतन्य अनुविधायी परिणामरूप, कारणपरमात्मारूप इत्यादि अनेक नामों से पहिचाना जाता है, ऐसा इस अधिकार में बतलाया है।

ऐसे सर्व विशुद्ध (अर्थात् त्रिकाल विशुद्ध) भाव में जीव को 'मैंपना' अर्थात् 'स्वपना' कराकर, स्वात्मानुभूति कराकर सम्यग्दर्शन प्राप्त कराना और इसी भाव में बारम्बार स्थिरता करने से वह जीव घातिकर्मों का नाश करके केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करे और पश्चात् आयुक्षय से मोक्ष प्राप्त करे अर्थात् सिद्ध हो अर्थात् सर्व-अर्थ-सिद्ध करे ऐसा सिद्धत्व दिलाना, यही इस शास्त्र का उद्देश्य है और इसीलिए यह एकमात्र शुद्धात्मा को ही इस शास्त्र में आत्मा कहा है और उसी भाव का प्रतिपादन पूर्ण शास्त्र में किया है; वह भाव अर्थात् ही सर्वविशुद्धज्ञान अर्थात् समयसार का सार।

श्लोक १९३-'समस्त कर्ता-भोक्ता आदि भावों को सम्यक् प्रकार से नाश प्राप्त कराके (अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से गौण करके अर्थात् आत्मा को द्रव्यदृष्टि से ग्रहण करके) पद-पद पर (अर्थात् जीव की प्रत्येक पर्याय में अर्थात् जो कि द्रव्य है, उसका वर्तमान भाव अर्थात् अवस्था ही पर्याय कहलाती है और उस पर्याय को द्रव्यदृष्टि से देखने से-ग्रहण करने से ही उसमें रहे हुए विभावभावरूप अशुद्धि दृष्टि में आती ही न होने से सम्यक् प्रकार से नाश पाता है अर्थात् अत्यन्त गौण हो जाता है और उसमें छुपी हुई आत्मज्योति अर्थात् शुद्धात्मा अनुभव में आता है, वैसा भाव) बन्ध-मोक्ष की रचना से दूर वर्तता हुआ (अर्थात् त्रिकाल शुद्धरूपभाव-सामान्यभाव) शुद्ध-शुद्ध (अर्थात् जो रागादिक मल तथा आवरण-दोनों से रहित है ऐसा) जिसका पवित्र अचल तेज निज रस के (ज्ञानरस के, ज्ञान चेतनारूपी रस के) विस्तार से भरपूर है ऐसा और जिसकी महिमा टंकोत्कीर्ण (अर्थात् ऐसा का ऐसा ही उपजता होने से) प्रगट है ऐसा यह ज्ञानपुंज आत्मा प्रगट होता है (अर्थात् अनुभव में आता है)।'

गाथा ३०८ गाथार्थ-'जो द्रव्य जिन गुणों से उत्पन्न होता है उन गुणों से उसे अनन्य जानो; जैसे जगत में कड़ा इत्यादि पर्यायों से सुवर्ण अनन्य है वैसे।'

अर्थात् जो पर्याय है वह द्रव्य की ही बनी हुई है अर्थात् पर्यायरूप विशेष भाव को गौण करते ही साक्षात् द्रव्य हाजिर ही है इसीलिए पर्यायदृष्टि में जो पर्याय है वही द्रव्यदृष्टि से मात्र द्रव्य ही है, वहाँ पर्याय अत्यन्त गौणरूप होने से ज्ञात ही नहीं होती; यही विधि है शुद्ध द्रव्य की प्राप्ति की।

गाथा ३०९ गाथार्थ-'जीव और अजीव के जो परिणाम सूत्र में बताये हैं, उन परिणामों से उस जीव अथवा अजीव को अनन्य जानो।' यही कारण है कि दृष्टि का विषय जो कि पर्याय से रहित द्रव्य कहलाता है, उसे प्राप्त करने की विधि गाथा २९४ में प्रज्ञारूप छैनी=भगवती प्रज्ञा=ज्ञानस्वरूप बुद्धि=तत्त्व के निर्णयसहित की बुद्धि कही है। इस कारण से विभावरूप भाव को गौण करते ही शुद्धनयरूप=समयसाररूप आत्मा प्राप्त होता है।

गाथा ३१८ गाथार्थ-'निर्वेद प्राप्त (वैराग्य को प्राप्त) ज्ञानी मधुर-कड़वे (सुख-दुःखरूप) बहुविध कर्मफल को जानता है इसलिए वह अवेदक है।' अर्थात् उसे कर्म नोकर्म और उसके आश्रय से होनेवाले भावों में 'मैंपना' नहीं होने से अर्थात् उन भावों से अपने को भिन्न अनुभव करता होने से उन विशेष भावों को अर्थात् सुख-दुःख को जानता है, तथापि अवेदक है।

श्लोक २०५-'इस अरहंत मत के अनुयायियों अर्थात् जैनों भी आत्मा को, सांख्यमतियों की भाँति (सर्वथा) अकर्ता न मानो; भेदज्ञान होने से पहले उसे (अर्थात् मिथ्यादृष्टि को) निरन्तर कर्ता मानो, और भेदज्ञान होने के बाद (अर्थात् सम्यग्दृष्टि को) उद्यत ज्ञानधाम में निश्चित ऐसे (अर्थात् मात्र सामान्यज्ञान में स्थित ऐसे) इस स्वयं प्रत्यक्ष आत्मा को कर्तापने रहित, अचल, एक परम ज्ञाता ही देखो।' अर्थात् ज्ञान सामान्यरूप शुद्धात्मा मात्र ज्ञाता ही है, वह सामान्य भाव परम अकर्ता है परन्तु जिसे उस भाव का अनुभव नहीं, ऐसा अज्ञानी यदि अपने को अकर्ता माने तो वह एकान्त पाखण्डमतरूप सांख्यमति जैसा होता है जो कि अनन्त संसार का कारण होता है।

गाथा ३५६ गाथार्थ-'जैसे खड़िया पर की नहीं है, खड़िया तो खड़िया ही है, वैसे ज्ञायक (जाननहार आत्मा) पर का नहीं है (ज्ञायक अर्थात् जाननेवाला होने पर भी स्व-पर को जानने का स्वभाव होने पर भी वह पररूप से परिणमकर जानता नहीं होने से वह पर का नहीं है, परन्तु स्व-पर को जानना वह तो 'स्व' का ही परिणमन है) ज्ञायक (स्व-पर जो जाननेवाला) वह तो ज्ञायक ही है (प्रतिबिम्ब को गौण करने पर मात्र परमपारिणामिकभावरूप ज्ञायक ही है)।'

श्लोक २१५-'जिसने शुद्ध द्रव्य के निरूपण में बुद्धि को स्थापित किया है-लगाया है और जो तत्त्व को अनुभव करता है (अर्थात् जो सम्यग्दृष्टि है) उस पुरुष को एक द्रव्य के भीतर कोई भी अन्य द्रव्य रहता हुआ बिलकुल (कदापि) भासित नहीं होता। (जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब होने पर भी ज्ञानी दर्पण में कोई अन्य पदार्थ जो कि प्रतिबिम्बरूप है वह उसमें घुस गया हुआ नहीं जानता अर्थात् ज्ञानी उसे दर्पण का ही प्रतिबिम्ब जानता है अर्थात् वहाँ प्रतिबिम्ब को गौण

करके दर्पण को दर्पणरूप ही अनुभव करता है, उसी प्रकार) ज्ञान, ज्ञेय को जानता है (अर्थात् ज्ञान का स्व-पर प्रकाशकपना है, 'आत्मा वास्तव में पर को नहीं जानता' ऐसा स्वरूप नहीं) वह तो इस ज्ञान के शुद्धस्वभाव का उदय है, ऐसा है। (अर्थात् ज्ञान स्वभाव से ही स्व-पर को जानता है ऐसा ही है) तो फिर लोग (अज्ञानी=मिथ्यादृष्टि लोग) ज्ञान को अन्य द्रव्य के साथ स्पर्श होने की मान्यता से व्याकुल बुद्धिवाले होते हुए (अर्थात् अज्ञानी=मिथ्यात्वी ज्ञान पर को जाने तो ज्ञान को पर के साथ स्पर्श हो गया मानकर आकुल बुद्धिवाले होते हुए) तत्त्व से (शुद्धस्वरूप से) (अर्थात् सम्यग्दर्शन से) किसलिए च्युत होते हैं?' अर्थात् ऐसा सम्यक् स्वरूप है स्व-पर प्रकाशक का, जिसे अन्यथा समझने से/मानने से मिथ्यात्व का ही दोष आता है जो कि उसे अनन्त संसार का कारण होता है।

श्लोक २२२-'पूर्ण (अर्थात् एक भाग शुद्ध और दूसरा भाग अशुद्ध ऐसा नहीं परन्तु जो प्रमाण के विषयरूप पूर्ण आत्मा है, वही पूर्ण आत्मा द्रव्यदृष्टि से पूर्ण शुद्धरूप प्राप्त होता है), एक (अर्थात् उसमें कोई भाग नहीं अथवा भेद नहीं ऐसा), अच्युत और शुद्ध (अर्थात् प्रत्येक समय ऐसा का ऐसा शुद्धभाव से परिणमता, प्रगट होता अर्थात् विकाररहित) ऐसा ज्ञान जिसकी महिमा है (ज्ञान वह आत्मा का लक्षण होने से, आत्मा मात्र ज्ञान से ही ग्राह्य है और वही उसकी महिमा है) ऐसा यह ज्ञायक आत्मा (अर्थात् ज्ञान सामान्यरूप परमपारिणामिकभाव जो कि सर्व गुणों के अर्थात् द्रव्य के सहज परिणमनरूप शुद्धात्मा है वह-जाननेवाला है) वह (असमीपवर्ती) या इन (समीपवर्ती) ज्ञेय पदार्थों से (परपदार्थों को जानने से) जरा भी विक्रिया को प्राप्त नहीं होता, जैसे दीपक प्रकाश्य पदार्थों से विक्रिया को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार (अर्थात् पर को जानने से आत्मा का जरा भी अनर्थ नहीं होता और दूसरा ज्ञान सामान्यभाव पर को जाननेरूप क्षयोपशमभावरूप परिणमता है तथापि वह अपना ज्ञानसामान्यपना अर्थात् परमपारिणामिकभावपना नहीं छोड़ता अर्थात् वह कोई विक्रिया को प्राप्त नहीं होता अर्थात् वह परम अकर्ता ही रहता है, दर्पण के दृष्टान्त की भाँति प्रकाश्य पदार्थों से विक्रिया को प्राप्त नहीं होता), तो फिर ऐसी वस्तुस्थिति के ज्ञान से रहित जिनकी बुद्धि है, ऐसे अज्ञानी जीव (अर्थात् जिन्हें यह बात नहीं जँचती कि जो भाव विशेष में पर को जानता है वही भाव सामान्यरूप से परमपारिणामिकभावरूप-सहज परिणमनरूप-शुद्धात्मारूप-परमअकर्ताभाव है और वह पर को जानने से जरा भी विक्रिया को प्राप्त नहीं होता; ऐसे जीवों को अज्ञानी जीव मानना, ऐसे अज्ञानी जीव) अपनी सहज उदासीनता क्यों छोड़ते हैं (अर्थात् वे अज्ञानी जीव अपने परमपारिणामिकभावरूप-सहज परिणमनरूप

ज्ञानसामान्य भाव का अनुभव क्यों नहीं करते) और राग-द्वेषमय क्यों होते हैं? (ऐसा आचार्यदेव ने सोच किया अर्थात् करुणा की है)'।

अर्थात् वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा समझकर सर्व जन सम्यग्दर्शन प्राप्त करें, ऐसा ही आचार्यदेव का उद्देश्य है अर्थात् जो कोई यहाँ बतलाये गये वस्तुस्वरूप से विपरीत मान्यता पोषण करते हों अथवा प्ररूपणा करते हों तो उन्हें शीघ्रता से अपनी मान्यता यथार्थ कर लेना अत्यन्त आवश्यक है, जिससे वे भ्रम में से बाहर निकल सकें और अपना तथा अन्य अनेकों के अहित का कारण बनने से बच सकें और वर्तमान मानवभव सार्थक कर सकें।

श्लोक २३२-'पूर्व में अज्ञानभाव से किये हुए जो कर्म, उन कर्मरूपी विषवृक्षों के फल को जो पुरुष (उनका स्वामी होकर) भोगता नहीं और वास्तव में अपने से ही (आत्मस्वरूप से ही-उसके अनुभव से ही) तृप्त है, वह पुरुष, जो वर्तमान काल में रमणीय है (अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्दयुक्त है) और भविष्य में भी जिसका फल रमणीय है, ऐसी निष्कर्म सुखमय (अर्थात् सिद्धदशारूप) दशान्तर को पाता है।'

अर्थात् इस अधिकार का मर्म यह है कि जो शुद्धात्मा में स्थित है, ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव, मात्र जानपने में ही रहता होने से अभी भी अतीन्द्रिय आनन्द में है और उसका भविष्य भी वही है अर्थात् भविष्य में सिद्ध के अनन्त सुख उसका स्वागत करने खड़े ही हैं और इसीलिए वही सर्व का कर्तव्य है अर्थात् निश्चय से शुद्धात्मा ही सर्व जनों को शरणभूत है।

◆

३८

समयसार के परिशिष्ट में से अनेकान्त का स्वरूप

वस्तु का स्वरूप अनेकान्तमय है और 'वह जैसा है वैसा ही' समझना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा मिथ्यात्व का नाश शक्य ही नहीं। अनेकान्त का स्वरूप समयसार के परिशिष्ट में बतलाया है, उस पर थोड़ा सा प्रकाश डालते हैं।

श्लोक २४७ (के बाद की टीका) '....और जब वह ज्ञानमात्रभाव एक ज्ञान-आकार का ग्रहण करने के लिये अनेक ज्ञेयाकारों के त्याग द्वारा अपना नाश करता है (अर्थात् परमपारिणामिकभाव की अनुभूति के लिये अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये 'जीव वास्तव में पर को नहीं जानता' ऐसी प्ररूपणा करके ज्ञान में जो अनेक ज्ञेयों के आकार होते हैं, उनका त्याग करके अपने को नष्ट करता है अर्थात् ज्ञेयों के त्याग में ज्ञान सामान्य अर्थात् परमपारिणामिकभाव नष्ट होता है अर्थात् 'आत्मा वास्तव में पर को नहीं जानता' ऐसा कहने से ज्ञान के नाश का प्रसंग आता है। यही बात अपेक्षा लगाकर कही जाये तो समझी जा सकती है परन्तु यह बात एकान्त से सत्य नहीं है।) तब पर्यायों से अनेकपना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता (अर्थात् अनेकान्त ही बलवान है कि जिसके कारण आत्मा को स्व-पर प्रकाशकपना स्वभाविक है।) ४.... जब यह ज्ञानमात्रभाव जानने में आते हुए ऐसे परद्रव्यों के परिणमन के कारण ज्ञातृद्रव्य को परद्रव्यरूप मानकर-अंगीकार करके नाश को प्राप्त होता है, (अर्थात् आत्मा वास्तव में पर को जानता है परन्तु पर को जाननेरूप वह जब स्वयं परिणमता है, तब उसे परद्रव्यरूप मानकर-उसे परद्रव्यरूप अंगीकार करके, स्वयं नाश को प्राप्त होता है अर्थात् मिथ्यात्व पुष्ट करता है), तब (उस ज्ञानमात्रभाव का अर्थात् ज्ञेयों को) स्वद्रव्य से सत्पना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है-नाश को प्राप्त नहीं होने देता। ५.... जब यह ज्ञानमात्रभाव अनित्य ज्ञान विशेषों द्वारा (अर्थात् पर को जाननेरूप परिणमकर) अपना नित्य ज्ञान सामान्य खण्डित हुआ मानकर नाश को प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्रभाव का) ज्ञान सामान्यरूप से नित्यपना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है-नाश को प्राप्त नहीं होने देता। (अर्थात् जो ऐसा मानते हैं कि 'आत्मा वास्तव में पर को नहीं जानता, ऐसा मानने से ही सम्यग्दर्शन होता है' वे भूलयुक्त हैं क्योंकि पर का जानन अथवा जनाना कभी भी सम्यग्दर्शन के लिये बाधाकारक नहीं होता, क्योंकि-उस पर के जानने के परिणमनरूप अपने विशेष आकारों

को गौण करते ही समयसाररूप =परमपारिणामिकभावरूप भाव की प्राप्ति होती है, सम्यग्दर्शन होता है अर्थात् वास्तव में तो 'पर का जानना, वह स्व में जाने की सीढ़ीरूप है' क्योंकि स्थूल से ही सूक्ष्म में जाया जाता है अर्थात् प्रगट से ही अप्रगट में जाया जाता है अर्थात् व्यक्त से ही अव्यक्त में जाया जाता है, यही नियम है)। १३..... (यही भाव श्लोक १४३ में भी दर्शाया है कि सहज ज्ञान के परिणमन द्वारा परमपारिणामिकभाव द्वारा यह ज्ञानमात्र पद=समयसाररूप आत्मा कर्म से वास्तव में व्याप्त है ही नहीं, कर्म से जीता जा सके ऐसा है ही नहीं; इसलिए निज ज्ञान की कला के बल से=मतिज्ञानादिरूप-ज्ञेयाकाररूप परिणमन से इस पद को=समयसाररूप पद को=परम-पारिणामिकभावरूप पद को अभ्यास करने को जगत सतत् प्रयास करो। यहाँ आत्मा का पर का जानना जो है, उसे सीढ़ीरूप से=आलम्बनरूप से प्रयोग करके समयसाररूप भगवान आत्मा की प्राप्ति के लिये प्रयास करने को=अभ्यास करने को कहा है)।

और, जब यह ज्ञानमात्रभाव नित्य ज्ञान सामान्य का ग्रहण करने के लिये (समयसाररूप परमपारिणामिकभाव के ग्रहण के लिये=सम्यग्दर्शन के लिये) अनित्य ज्ञान विशेषों के त्याग द्वारा अपना नाश करता है (अर्थात् ज्ञान के विशेषों का त्याग करते ही स्वयं अपने को नष्ट करता है)। तब (उस ज्ञानमात्रभाव का) ज्ञान विशेषरूपी अनित्यपना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता (अर्थात् ऐसा मानने पर कि 'आत्मा वास्तव में पर को जानता ही नहीं' तो ज्ञेयों के=अनित्यज्ञान के विशेषों के त्याग द्वारा अपना ही नाश होता है अर्थात् स्वयं भ्रमरूप परिणमता है अर्थात् स्वयं मिथ्यात्वरूप परिणमता है। दूसरा, ज्ञान विशेषरूप पर्यायें अर्थात् विभाव पर्यायों का त्याग करने पर भी ज्ञान का=अपना नाश होता है और स्वयं भ्रम में ही रहता है, इसलिए जिनागम में 'पर्यायरहित द्रव्य' के लिये ज्ञान विशेषों का त्याग नहीं अर्थात् विभाव पर्यायों का त्याग नहीं परन्तु उन्हें गौण करने का ही विधान है जो कि अनेकान्तस्वरूप आत्मा का नाश नहीं होने देता, मिथ्यात्वरूप परिणमने नहीं देता)। १४.....'

श्लोक २५० 'पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, बाह्य पदार्थों को ग्रहण करने के (ज्ञान के) स्वभाव की अतिशयता के कारण (यहाँ बतलाया है कि आत्मा पर को जानता है, वह इसके स्वभाव की अतिशयता है), चारों ओर (सर्वत्र) प्रगट होते अनेक प्रकार के ज्ञेयाकारों से जिसकी शक्ति विदीर्ण हो गयी है, ऐसा होकर समस्तरूप से टूट जाता हुआ (अर्थात् खण्ड-खण्ड अनेकरूप हो जाता हुआ अर्थात् अज्ञानी को खण्ड-खण्डरूप विशेष भावों में रहा हुआ ज्ञान सामान्यभाव ज्ञात नहीं होता=अखण्ड भाव ज्ञात नहीं होता इसलिए खण्ड-खण्डरूप विशेष

भावों का निषेध करता है, क्योंकि वह उनसे अखण्ड ज्ञान का=सामान्य ज्ञान का नाश मानता है ऐसा स्वयं) नाश को प्राप्त होता है (अर्थात् अज्ञान को प्राप्त होता है अर्थात् अनेक ज्ञेयों के आकार ज्ञान में ज्ञात होने से ज्ञान की शक्ति को छिन्न-भिन्न खण्ड-खण्डरूप हो जाता मानकर अर्थात् अज्ञानी ऐसा कहता है कि जहाँ तक आत्मा पर को जानता है, ऐसा मानने में आवे, वहाँ तक सम्यग्दर्शन नहीं होगा=समयसाररूप आत्मा प्राप्त नहीं होगा और इसीलिए एकान्त से ऐसी प्ररूपणा करता है कि 'आत्मा वास्तव में पर को जानता ही नहीं' ऐसे लोगों को यहाँ पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी कहा है)। और अनेकान्त का जाननेवाला तो (ज्ञानी=सम्यग्दर्शनी), सदा उदित (प्रकाशमान=ज्ञान सामान्यभाव=परम-पारिणामिकभाव=समयसाररूपभाव) एक द्रव्यपने के कारण (खण्ड-खण्डरूप भासित होते ज्ञान में छुपे हुए अखण्ड ज्ञान की अनुभूति के कारण) भेद के भ्रम को नष्ट करता हुआ (अर्थात् ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में सर्वथा भेद पड़ जाता है, ऐसे भ्रम को नाश करता हुआ-अर्थात् यदि ज्ञान को पर का जानपना मानेंगे तो सम्यग्दर्शन नहीं होगा, ऐसे भ्रम का नाश करता हुआ) जो एक है और जिसका अनुभवन (समयसाररूप= परमपारिणामिकभावरूप=ज्ञान सामान्यरूप एक अभेद आत्मा) निर्बाध है, ऐसे ज्ञान को देखता है-अनुभव करता है।' ऐसा है जैनशासन का अनेकान्तमय ज्ञान।

श्लोक २६१ भावार्थ-'एकान्तवादी ज्ञान को सर्वथा एकाकार-नित्य प्राप्त करने की वाँछा से उत्पन्न होनेवाली और नाश होनेवाली चैतन्यपरिणति से पृथक् कुछ ज्ञान को चाहता है (जैसे कि पर को जानने का निषेध करके अथवा तो पर्याय का दृष्टि के विषय में निषेध करके); परन्तु परिणाम (पर्याय=ज्ञेय) के अतिरिक्त दूसरा कोई पृथक् परिणामी नहीं होता (इस कारण से ज्ञेय अथवा पर्याय को निकालने से पूर्ण द्रव्यों का ही लोप होता है कि जिससे परिणामी हाथ नहीं आता=सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता परन्तु मात्र भ्रम का ही साम्राज्य फैलता है)। स्याद्वादी तो ऐसा मानता है कि यद्यपि द्रव्यापेक्षा ज्ञान नित्य है तथापि क्रमश: उत्पन्न होनेवाली और नष्ट होनेवाली चैतन्य परिणति के क्रम के कारण ज्ञान अनित्य भी है (अर्थात् ज्ञान सामान्य, नित्य है कि जिसका ज्ञान विशेष बना हुआ है कि जो अनित्य है) ऐसा ही वस्तु स्वभाव है।' यह बात सर्व जनों को सम्यग्दर्शन के लिये स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है।

श्लोक २६२-'इस प्रकार अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद अज्ञानमूढ़ प्राणियों को ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व प्रसिद्ध करता हुआ स्वयमेव अनुभव में आता है।'

श्लोक २६५ भावार्थ-'जो सत्पुरुष अनेकान्त के साथ सुसंगत दृष्टि के द्वारा अनेकान्तमय

वस्तुस्थिति को देखते हैं, वे इस प्रकार स्याद्वाद की शुद्धि को प्राप्त करके-जान करके जिनदेव के मार्ग को-स्याद्वादन्याय को-उल्लंघन न करते हुए, ज्ञानस्वरूप होते हैं।' अर्थात् सम्यग्दर्शनी होता है।

श्लोक २७०-''अनेक प्रकार की निज शक्तियों का समुदायमय यह आत्मा नयों की दृष्टि से खण्ड-खण्डरूप किये जाने पर तत्काल नाश को प्राप्त होता है (यदि किसी भी नय को एकान्त से ग्रहण किया जाये अथवा किसी भी नय की एकान्त प्ररूपणा की जाये अथवा किसी भी नय का एकान्त पक्ष किया जाये तो आत्मा खण्ड-खण्डरूप होने से तत्काल नाश को प्राप्त होता है अर्थात् मिथ्यात्वी होता है और अनन्त संसार बढ़ाता है) इसलिए मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि जिसमें से खण्डों को निराकृत (बहिष्कृत) नहीं किया गया है (अर्थात् कि वह खण्ड-खण्डरूप ज्ञेय हो या विभावपर्याय हो उसे आत्मा में से दूर नहीं करना) तथापि जो अखण्ड है, एक है, एकान्त शान्त है (अर्थात् कि खण्ड-खण्डरूप विशेष भाव में अखण्ड सामान्यभाव रहा हुआ है, छुपा हुआ है, इसलिए खण्ड-खण्ड भाव का निषेध नहीं, उसे गौण करते ही अखण्ड भाव प्राप्त होता है)। (अर्थात् कर्म के उदय का लेश भी नहीं, ऐसे अत्यन्त शान्त भावमय है, परमपारिणामिकभावमय है) और अचल है (अर्थात् कर्म के उदय से चलाया चलता नहीं) ऐसा चैतन्यमात्र वही 'मैं हूँ'।'' ऐसी है सम्यग्दर्शन के विषय को प्राप्त करने की विधि।

श्लोक २७१ भावार्थ-'ज्ञानमात्रभाव (परमपारिणामिकभाव) जाननक्रियारूप होने से ज्ञानस्वरूप है (यहाँ समझना ऐसा है कि जो अज्ञानी हैं और जिन्हें आत्म प्राप्ति की तड़प भी है, उन्हें ज्ञान जो कि आत्मा का लक्षण है, जो कि स्व-पर को जानता है, उसका सीढ़ीरूप से उपयोग करके आत्मा के ज्ञानमात्रस्वरूप की प्राप्ति करना अर्थात् जो ज्ञेय को जानता है, वह जाननेवाला, वही मैं हूँ - ऐसा चिन्तवन करना और उस जाननक्रिया के समय ही ज्ञेय को गौण करते ही; निषेध करते नहीं-यह याद रखना; सामान्य ज्ञानरूप-ज्ञानमात्रभाव की प्राप्ति होती है) और वह स्वयं ही निम्नानुसार ज्ञेयरूप है (ज्ञेय है वह ज्ञान ही है-और ज्ञान है वह ज्ञायक ही है। तो पर को जानने का=ज्ञेय को जानने का निषेध करने से ज्ञान का निषेध होता है =ज्ञानमात्रभाव के अभाव का प्रसंग आता है) बाह्य ज्ञेय ज्ञान से भिन्न है, वे ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते; ज्ञेयों के आकार की झलक ज्ञान में आने पर ज्ञान ज्ञेयाकाररूप दिखायी देता है परन्तु वे ज्ञान की ही कल्लोलें (तरंगें) हैं। (जबकि ज्ञेय को जानने का निषेध करने से ज्ञान कल्लोलों का ही निषेध होता है जो कि स्वयं ज्ञानमात्र स्वयं ही है। इसलिए ज्ञेय को जानने का निषेध करते ही ज्ञानमात्र भाव के अभाव

का प्रसंग आता है, जिसका परिणाम एकमात्र भ्रमरूप परिणमन ही है)। वे ज्ञान कल्लोलें ही ज्ञान द्वारा जानी जाती हैं। (यहाँ यह समझना आवश्यक है कि गाथा-६ की टीका में बतलाये अनुसार ज्ञान कल्लोलें=ज्ञेयाकार और ज्ञानमात्र ये दोनों अभिन्न ही हैं-अनन्य ही हैं और उनका अर्थात् कर्ताकर्म का अनन्यपना होने से ही वह ज्ञायक हैं।) इस प्रकार स्वयं ही स्वयं से जानने योग्य होने से (अर्थात् ज्ञान कल्लोलें और ज्ञान अनन्यरूप ही है, और यदि उनमें कल्लोलों का निषेध किया जाये तो अर्थात् परज्ञेय को जानने का निषेध किया जाये तो वह निषेध ज्ञायक का ही समझना। क्योंकि कर्ताकर्म का अनन्यपना होने से ज्ञेयाकार ज्ञायक ही है) ज्ञानमात्रभाव (परमपारिणामिकभाव) ही ज्ञेयरूप है (यहाँ यदि ज्ञेयों को जानने का निषेध किया जाये तो ज्ञानमात्रभाव का/समयसाररूपभाव का ही निषेध होने से उन्हें आत्मा की प्राप्ति नहीं होती) और स्वयं ही (ज्ञानमात्रभाव) अपना (ज्ञेयरूपभाव=ज्ञान कल्लोलों का) जाननेवाला होने से ज्ञानमात्रभाव ही ज्ञाता है=ज्ञायक है (अर्थात् जो ज्ञेय को जानता है, वह ही मैं हूँ=वहाँ ज्ञेयों को गौण करते ही मैं प्रगट होता है नहीं कि ज्ञेयों को जानने का निषेध करने से)। इस प्रकार ज्ञानमात्रभाव, ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता इन तीनों भावों युक्त सामान्य विशेषस्वरूप वस्तु है। (सामान्य विशेष में नियम ऐसा है कि विशेष को निकालने पर सामान्य ही निकल जाता है क्योंकि वह विशेष, सामान्य का ही बना हुआ होने से, विशेष को गौण करते ही सामान्य हाजिर होता है ऐसा समझना, इसलिए ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता में से किसी भी एक का निषेध, वह तीनों का अर्थात् ज्ञायक का ही निषेध है, ऐसा समझना।) 'ऐसा ज्ञानमात्रभाव मैं हूँ' ऐसा अनुभव करनेवाला पुरुष अनुभव करता है (अर्थात् यह जो जानता है, वह मैं हूँ, फिर वह जानना, स्व का हो या पर का परन्तु यहाँ यह समझना महत्त्व का है कि किसी भी प्रकार से अर्थात् स्व का अथवा पर का, कोई भी जानपना निषेध करते ही आत्मा का-ज्ञायक का निषेध होने से वह जिनमत बाह्य ही है जो कि समयसार गाथा-२ की टीका में भी स्पष्ट बतलाया ही है)।'

यही बात श्लोक-१४० में भी बतलायी है कि 'एक ज्ञायकभाव से भरे हुए महास्वाद को लेता हुआ (इस प्रकार ज्ञान में ही एकाग्र होने पर दूसरा स्वाद नहीं आता इसलिए) द्वन्द्वमय स्वाद के लेने में असमर्थ (वहाँ स्व पर नहीं, मात्र मैं हूँ) (अर्थात् वर्णादिक, रागादिक तथा क्षायोपशमिक ज्ञान के भेदों का स्वाद लेने में असमर्थ=इसलिए ऐसा कहा जा सकता है कि अनुभूति के काल में आत्मा पर को नहीं जानता) आत्मा के अनुभव के स्वाद के प्रभाव के आधीन हुआ होने से निज वस्तु वृत्ति को (आत्मा की शुद्ध परिणति को=परमपारिणामिकभाव को=समयसाररूप भाव

को=कारणशुद्धपर्याय को) जानता-आस्वादता हुआ (अर्थात् आत्मा के अद्वितीय स्वाद के अनुभव में से बाहर नहीं आता हुआ=अर्थात् वहाँ कुछ भी स्व-पर नहीं, वहाँ द्रव्य-पर्याय ऐसा कुछ भी भेद नहीं, क्योंकि वर्तमान पर्याय में ही पूर्ण द्रव्य अन्तर्गत है= समाहित है) यह आत्मा ज्ञान के विशेषों के उदय को गौण करता हुआ (यहाँ समझना यह है कि विशेषों का निषेध नहीं, उन्हें मात्र गौण किया है। यही विधि है अनुभव की) सामान्य मात्र ज्ञान को अभ्यसाता हुआ, सकल ज्ञान को एकपने में लाता है-एकरूप से प्राप्त करता है।'

श्लोक २७५-'सहज (अपने 'स्व'भावरूप) (स्व के सहज भवनरूप=स्व का सहज परिणमन=परमपारिणामिकभाव=कारणशुद्धपर्याय) तेजपुंज में (ज्ञानमात्र में) तीन लोक के पदार्थ मग्न होते होने से (ज्ञानमात्र ऐसे आत्मा का स्वभाव ही स्व-पर को जानने का है, इसलिए सर्व ज्ञेय ज्ञात होते हैं=जानता है) जिसमें अनेक भेद होते दिखते हैं (अर्थात् ज्ञानमात्रभाव का ज्ञेयरूप से परिणमन दिखता है=होता है। तथापि उससे डरकर जो ज्ञानमात्रभाव का स्वभाव है, ज्ञेयों को जानने का, उसका निषेध किसी काल में हो सके ऐसा नहीं है) तो भी जिसका एक ही स्वरूप है (सामान्यभाव खण्ड-खण्ड नहीं होता, वह अभेद ही रहता है, इसलिए पर को जानने में डरने की कोई बात ही नहीं है).....'

सर्व जन इस समयसाररूप शुद्धात्मा में स्थित होओ और अक्षय सुख की प्राप्ति करो, इसी भावना के साथ हमने इतना विस्तार से लिखा है तथापि मेरी छद्मस्थ दशा के कारण, इस पुस्तक में कुछ भी भूल-चूक हुई हो तो आप सुधारकर पढ़े और मुझसे जिनाज्ञा विरुद्ध कुछ भी लिखा गया हो तो मेरे त्रिविध-त्रिविध मिच्छामि दुक्कडं।

◆

३९

बारह भावना

- **अनित्य भावना–** सर्व संयोग अनित्य हैं, पसन्द या नापसन्द ऐसे वे कोई भी संयोग मेरे साथ नित्य रहनेवाले नहीं हैं, इसलिए उनका मोह या दुःख त्यागना, उनमें 'मैंपना' और मेरापना त्यागना।
- **अशरण भावना–** मेरे पापों के उदय समय मुझे माता-पिता, पत्नी-पुत्र, पैसा इत्यादि कोई भी शरण हो सके ऐसा नहीं है। वे मेरा दुःख ले सकें ऐसा नहीं है। इसलिए उनका मोह त्यागना, उनमें मेरापना त्यागना परन्तु कर्तव्य पूरी तरह निभाना।
- **संसार भावना–** संसार अर्थात् संसरण-भटकन और उसमें एक समय के सुख के सामने अनन्त काल का दुःख मिलता है; अतः ऐसा संसार किसे रुचेगा? अर्थात् नहीं ही रुचेगा और इसलिए एकमात्र लक्ष्य संसार से छूटने का ही रहना चाहिए।
- **एकत्व भावना–** अनादि से मैं अकेला ही भटकता हूँ, अकेला ही दुःख भोगता हूँ; मरण के समय मेरे साथ कोई भी आनेवाला नहीं है, मेरा कहा जानेवाला शरीर भी नहीं। अतः मुझे शक्य हो उतना अपने में ही (आत्मा में ही) रहने का प्रयत्न करना।
- **अन्यत्व भावना–** मैं कौन हूँ? यह चिन्तवन करना अर्थात् पूर्व में बतलाये अनुसार पुद्गल और पुद्गल (कर्म) आश्रित भावों से अपने को भिन्न भाना और उसी में 'मैंपना' करना, उसका ही अनुभव करना, उसे ही सम्यग्दर्शन कहा जाता है। वही इस जीवन का एकमात्र लक्ष्य और कर्तव्य होना चाहिए।
- **अशुचि भावना–** मुझे, मेरे शरीर को सुन्दर बतलाने/सजाने का जो भाव है, और विजातीय के शरीर का आकर्षण है, उस शरीर की चमड़ी को हटाते ही मात्र माँस, खून, पीव, मल, मूत्र इत्यादि ही ज्ञात होते हैं, जो कि अशुचिरूप ही हैं। ऐसा चिन्तवन कर अपने शरीर का और विजातीय के शरीर का मोह तजना, उसमें मोहित नहीं होना।
- **आस्रव भावना–** पुण्य और पाप ये दोनों मेरे (आत्मा के) लिए आस्रव है; इसलिए विवेक द्वारा प्रथम पापों का त्याग करना और एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से शुभभाव में रहना कर्तव्य है।

- **संवर भावना–** सच्चे (कार्यकारी) संवर की शुरुआत सम्यग्दर्शन से ही होती है, इसलिए उसके लक्ष्य से पापों का त्याग करके एकमात्र सच्चे संवर के लक्ष्य से द्रव्यसंवर पालना।
- **निर्जरा भावना–** सच्ची (कार्यकारी) निर्जरा की शुरुआत सम्यग्दर्शन से ही होती है, इसलिए उसके लक्ष्य से पापों का त्याग करके एकमात्र सच्ची निर्जरा के लक्ष्य से यथाशक्ति तप आचरना।
- **लोकस्वरूप भावना–** प्रथम, लोक का स्वरूप जानना, पश्चात् चिन्तवन करना कि मैं अनादि से इस लोक में सर्व प्रदेशों में अनन्त बार जन्मा और मरण को प्राप्त हुआ; अनन्त दु:ख भोगे, अब कब तक यह चालू रखना है? अर्थात् इसके अन्त के लिए सम्यग्दर्शन आवश्यक है। अत: उसकी प्राप्ति का उपाय करना। दूसरा, लोक में रहे हुए अनन्त सिद्ध भगवन्त और संख्यात अरहन्त भगवन्त और साधु भगवन्तों की वन्दना करना और असंख्यात श्रावक-श्राविकाओं तथा सम्यग्दृष्टि जीवों की अनुमोदना करना, प्रमोद करना।
- **बोधिदुर्लभ भावना–** बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन। अनादि से अपनी भटकन का यदि कोई कारण होवे तो वह है सम्यग्दर्शन का अभाव; इसलिए समझ में आता है कि सम्यग्दर्शन कितना दुर्लभ है, कोई आचार्य भगवन्त ने तो कहा है कि वर्तमान काल में सम्यग्दृष्टि अंगुली के पोर पर गिने जा सकें इतने ही होते हैं।
- **धर्मस्वरूप भावना–**वर्तमान काल में धर्मस्वरूप में बहुत विकृतियाँ प्रवेश कर चुकी होने से, सत्य धर्म की शोध और उसका ही चिन्तवन करना; सर्व पुरुषार्थ उसे प्राप्त करने में लगाना।

◆

४०

नित्य चिन्तन कणिकाएँ

◆ **एक समकित पाये बिना, जप तप क्रिया फोक।**
जैसा मुर्दा सिनगारना, समझ कहे तिलोक।।

अर्थात्—सम्यग्दर्शनरहित सर्व क्रिया—जप-तप-श्रावकपना, क्षुल्लकपना, साधुपना इत्यादि मुर्दे को शृंगारित करने जैसा निरर्थक है। यहाँ कहने का भावार्थ यह है कि ऐसे सम्यग्दर्शन के बिना क्रिया—तप-जप श्रावकपना, क्षुल्लकपना, साधुपना भव का अन्त करने में कार्यकारी नहीं है अर्थात् वे नहीं करना ऐसा नहीं, परन्तु उनमें ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना अर्थात् उनसे ही अपने को कृतकृत्य न समझकर, सर्व प्रयत्न एकमात्र निश्चय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए ही करना।

◆ भगवान के दर्शन किस प्रकार करना? भगवान के गुणों का चिन्तवन करना और भगवान, भगवान बनने के लिए जिस मार्ग में चले, उस मार्ग में चलने का दृढ़ निर्णय करना, वही सच्चे दर्शन हैं।

◆ सम्पूर्ण संसार और सांसारिक सुख के प्रति वैराग्य के बिना अर्थात् संसार और सांसारिक सुखों की रुचिसहित मोक्षमार्ग की शुरुआत होना अत्यन्त दुर्लभ है अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है।

◆ जीव को चार संज्ञा/संस्कार-आहार, मैथुन, परिग्रह और भय अनादि से है; इसलिए उनके विचार सहज होते हैं। वैसे विचारों से जिन्हें छुटकारा चाहिए हो, उन्हें स्वयं की उनकी ओर की रुचि तलाशना अर्थात् जब तक ये संज्ञाएँ रुचती हैं अर्थात् इनमें सुख भासित होता है, जैसे कि कुत्ते को हड्डी चूसने को देने पर उसे वह तलवे में घिसने से खून निकलता है कि जिसे वह ऐसा समझता है कि खून हड्डी में से निकलता है और इसलिए उसे उसका आनन्द होता है कि जो मात्र उसका भ्रम ही है। इस प्रकार जब तक यह आहार, मैथुन, परिग्रह और भय अर्थात् बलवान का डर और कमजोर को डराना/दबाना रुचता है, वहाँ तक उस जीव को उसके विचार सहज होते हैं और इसलिए उसके संसार का अन्त नहीं होता। इस कारण मोक्षेच्छु को इस अनादि के उल्टे संस्कारों को मूल से निकालने का पुरुषार्थ करनेयोग्य है जिसके लिए सर्व प्रथम इन संज्ञाओं के प्रति

आदर छूटना आवश्यक है। इस कारण से सर्व पुरुषार्थ उनके प्रति वैराग्य हो, इसके लिए ही लगाना आवश्यक है कि जिसके लिए सद्वाँचन और सच्ची समझ आवश्यक है।

- तुमको क्या रुचता है? यह है आत्मप्राप्ति का बैरोमीटर–थर्मामीटर। इस प्रश्न का उत्तर चिन्तवन करना। जब तक उत्तर में कोई भी सांसारिक इच्छा/आकांक्षा हो, तब तक अपनी गति संसार की ओर समझना और जब उत्तर एकमात्र आत्मप्राप्ति, ऐसा हो तो समझना कि आपके संसार का किनारा बहुत नजदीक आ गया है। इसलिए उसके लिए पुरुषार्थ बढ़ाना।
- तुम्हें क्या रुचता है? यह है तुम्हारी भक्ति का बैरोमीटर–थर्मामीटर अर्थात् भक्तिमार्ग की व्याख्या यह है कि जो आपको रुचता है, उस ओर आपकी सहज भक्ति समझना। भक्तिमार्ग अर्थात् चापलूसी अथवा व्यक्तिगतरूप भक्ति नहीं समझना परन्तु जो आपको रुचता है अर्थात् जिसमें आपकी रुचि है, उस ओर ही आपकी पूर्ण शक्ति कार्य करती है। इसलिए जिसे आत्मा की रुचि जगी है और मात्र उसका ही विचार आता है, उसकी प्राप्ति के ही उपाय विचारता है तो समझना कि मेरी भक्ति यथार्थ है। अर्थात् मैं सच्चे भक्तिमार्ग में हूँ; इसलिए जब तक तुम्हें क्या रुचता है, इसके उत्तर में कोई भी सांसारिक इच्छा/आकांक्षा हो अथवा कोई व्यक्ति हो, तब तक अपनी भक्ति संसार की ओर की समझना और जब उत्तर एकमात्र आत्मप्राप्ति, ऐसा होवे तो समझना कि आपके संसार का किनारा बहुत नजदीक आ गया है। इसलिए भक्ति अर्थात् संवेग समझना कि जो वैराग्य अर्थात् निर्वेदसहित ही आत्मप्राप्ति के लिए कार्यकारी है।
- अभयदान, ज्ञानदान, अन्नदान, धनदान, औषधदान में अभयदान अतिश्रेष्ठ है। इसलिए सबको प्रतिदिन जीवन में जतना (प्रत्येक काम में कम से कम जीव हिंसा हो वैसी सावधानी) रखना अत्यन्त आवश्यक है।
- धन पुण्य से प्राप्त होता है या मेहनत से अर्थात् पुरुषार्थ से? **उत्तर–** धन की प्राप्ति में पुण्य का योगदान अधिक है और मेहनत अर्थात् पुरुषार्थ का योगदान न्यून है। क्योंकि जिसका जन्म पैसापात्र कुटुम्ब में होता है, उसे कुछ भी प्रयत्न बिना ही धन प्राप्त होता है और व्यापार में बहुत मेहनत करने पर भी धन गँवाते दिखायी देते हैं। धन कमाने के लिए प्रयत्न आवश्यक है परन्तु कितना? कारण कि बहुत लोगों को बहुत अल्प प्रयत्न में अधिक धन प्राप्त होता दिखता है, जबकि किसी को बहुत प्रयत्न करने पर भी कम धन

प्राप्त होता ज्ञात होता है। इसलिए यह निश्चित होता है कि धन प्रयत्न की अपेक्षा पुण्य को अधिक वरते है। इसलिए जिसे धन के लिए मेहनत करना आवश्यक लगती हो, उन्हें भी अधिक में अधिक आधा समय ही अर्थोपार्जन में और कम से कम आधा समय तो धर्म में ही लगानायोग्य है। क्योंकि धर्म से अनन्त काल का दु:ख मिटता है और साथ ही साथ पुण्य के कारण धन भी सहज ही प्राप्त होता है। जैसे गेहूँ बोने पर साथ में घास अपने-आप ही प्राप्त होती है, उसी प्रकार सत्य धर्म करने से पाप हल्के बनते हैं और पुण्य तीव्र बनते है, इसलिए भवकटी के साथ-साथ धन और सुख अपने आप ही प्राप्त होता है और भविष्य में अव्याबाध सुखरूप मुक्ति मिलती है।

- पुरुषार्थ से धर्म होता है और पुण्य से धन मिलता है। अर्थात् पूर्ण पुरुषार्थ धर्म में लगाना और धन कमाने में कम से कम समय गँवाना। क्योंकि वह धन मेहनत के अनुपात में (Proportionate =प्रमाण) नहीं मिलता परन्तु पुण्य के अनुपात में मिलता है।
- कर्मों का जो बन्ध होता है, उसके उदय काल में आत्मा के कैसे भाव होंगे अर्थात् उन कर्मों के उदय काल में नये कर्म कैसे बँधेंगे, उसे उस कर्म का अनुबन्ध कहते हैं; वह अनुबन्ध, अभिप्राय का फल है; इसलिए सर्व पुरुषार्थ अभिप्राय बदलने में लगाना अर्थात् अभिप्राय को सम्यक् करने में लगाना।
- स्वरूप से मैं सिद्धसम होने पर भी, राग-द्वेष मेरे कलंक समान हैं, इसिलए उन्हें धोने के (मिटाने के) ध्येयपूर्वक धगश और धैर्य सहित धर्म पुरुषार्थ आदरना।
- सन्तोष, सरलता, सादगी, समता, सहिष्णुता, सहनशीलता, नम्रता, लघुता, विवेक, आत्मप्राप्ति की योग्यता के लिये जीवन में अभ्यासना अत्यन्त आवश्यक है।
- तपस्या में नववाड़ विशुद्ध ब्रह्मचर्य अति श्रेष्ठ है।
- सांसारिक जीव निमित्तवासी होते हैं, कार्यरूप तो नियम से उपादान ही परिणमता है परन्तु उस उपादान में कार्य हो, तब निमित्त की उपस्थिति अविनाभावी होती ही है; इसीलिए विवेक से मुमुक्षु जीव समझता है कि कार्य भले मात्र उपादान में हो परन्तु इस कारण से उन्हें स्वच्छन्द से किसी भी निमित्त-सेवन का परवाना नहीं मिल जाता और इसीलिए भी वे निर्बल निमित्तों से भीरुभाव से दूर ही रहते हैं।
- साधक आत्मा को टीवी, सिनेमा, नाटक, मोबाइल, इंटरनेट इत्यादि जैसे कमजोर

निमित्तों से दूर ही रहना आवश्यक है। क्योंकि चाहे जितने अच्छे भावों को बदल जाने में देरी नहीं लगती। दूसरा, यह सब निर्बल निमित्त अनन्त संसार अर्थात् अनन्त दुःख की प्राप्ति के कारण बनने में सक्षम है।

- माता-पिता के उपकारों का बदला दूसरे किसी भी प्रकार से नहीं चुकाया जा सकता। एकमात्र उन्हें धर्म प्राप्त कराकर ही चुकाया जा सकता है। इसलिए माता-पिता की सेवा करना। माता-पिता का स्वभाव अनुकूल न हो तो भी उनकी सेवा पूरी-पूरी करना और उन्हें धर्म प्राप्त कराना, उसके लिए प्रथम स्वयं धर्म प्राप्त करना आवश्यक है।
- धर्म लज्जित न हो, उसके लिए सर्व जैनों को अपने कुटुम्ब में, व्यवसाय में-दुकान, ऑफिस इत्यादि में तथा समाज के साथ अपना व्यवहार अच्छा ही हो, इसका ध्यान रखना आवश्यक है।
- अपेक्षा, आग्रह, आसक्ति, अहंकार निकाल डालना अत्यन्त आवश्यक है।
- स्वदोष देखो, परदोष नहीं; परगुण देखो और उन्हें ग्रहण करो, यह अत्यन्त आवश्यक है।
- अनादि की इन्द्रियों की गुलामी छोड़ने योग्य है।
- जो इन्द्रियों के विषयों में जितनी आसक्ति ज्यादा, जितना जो इन्द्रियों का दुरुपयोग ज्यादा, उतनी वे इन्द्रियाँ भविष्य में अनन्त काल तक मिलने की संभावना कम।
- मेरे ही क्रोध, मान, माया, लोभ मेरे कट्टर शत्रु हैं, बाकी विश्व में मेरा कोई शत्रु ही नहीं है।
- एक-एक कषाय अनन्त परावर्तन कराने में शक्तिमान है और मुझमें उन कषायों का वास है तो मेरा क्या होगा? इसलिए शीघ्रता से सर्व कषायों का नाश चाहना और उसका ही पुरुषार्थ आदरना।
- अहंकार और ममकार अनन्त संसार का कारण होने को सक्षम है; इसलिए उनसे बचने का उपाय करना।
- निन्दा मात्र अपनी करना अर्थात् अपने दुर्गुणों की ही करना, दूसरों के दुर्गुण देखकर सर्व प्रथम स्वयं अपने भाव जाँचना और यदि वे दुर्गुण अपने में हों तो निकाल डालना और उनके प्रति उपेक्षाभाव अथवा करुणाभाव रखना क्योंकि दूसरे की निन्दा से तो अपने तो बहुत कर्मबन्ध होता है अर्थात् कोई दूसरे के घर का कचरा अपने घर में डालता ही नहीं।

इसी प्रकार दूसरे की निन्दा करने से उसके कर्म साफ होते हैं, जबकि मेरे कर्मों का बन्ध होता है।

- ईर्ष्या करना हो तो मात्र भगवान की ही करना अर्थात् भगवान बनने के लिए भगवान की ईर्ष्या करना, अन्यथा नहीं; इसके अतिरिक्त किसी की भी ईर्ष्या करने से अनन्त दुःख देनेवाले अनन्त कर्मों का बन्ध होता है और जीव वर्तमान में भी दुःखी होता है।
- जागृति-हर समय रखना अथवा हर घण्टे अपने मन में परिणाम की जाँच करते रहना, उनका झुकाव किस ओर है, वह देखना और उसमें आवश्यक सुधार करना। लक्ष्य एकमात्र आत्मप्राप्ति का ही रखना और वह भाव दृढ़ करते रहना।
- अनन्त काल तक रहने के दो ही स्थान हैं। एक सिद्ध अवस्था और दूसरा निगोद। पहले में अनन्त सुख है और दूसरे में अनन्त दुःख है। इसलिए अपने भविष्य को लक्ष्य में लेकर सर्व जनों को अपने सर्व प्रयत्न अर्थात् पुरुषार्थ एकमात्र मोक्ष के लिए ही करनायोग्य है।
- जो होता है, वह अच्छे के लिए-ऐसा मानना। जिससे आर्तध्यान और रौद्रध्यान से बचा जा सकता है। अर्थात् नये कर्मों के आस्रव से बचा जा सकता है।
- मुझे किसका पक्ष-किसकी तरफदारी करते रहना? अर्थात् मुझे कौन सा सम्प्रदाय अथवा किस व्यक्ति विशेष का पक्ष करते रहना? **उत्तर**-मात्र अपना ही अर्थात् अपने आत्मा का ही पक्ष करते रहना क्योंकि उसमें ही मेरा उद्धार है, अन्य किसी की तरफदारी नहीं, क्योंकि उसमें मेरा उद्धार नहीं, नहीं और नहीं ही, क्योंकि वह तो राग-द्वेष का कारण होता है परन्तु जब अपने आत्मा का ही पक्ष किया जावे, तब उसमें सर्व ज्ञानियों का पक्ष समाहित हो जाता है।
- जैन कहलाते लोगों को रात्रि के किसी भी कार्यक्रम-भोजन समारम्भ नहीं रखना चाहिए। किसी भी प्रसंग में फूल और पटाखे का उपयोग नहीं करना चाहिए।
- विवाह, यह साधक के लिये मजबूरी होती है, नहीं कि महोत्सव, क्योंकि जो साधक पूर्ण ब्रह्मचर्य न पाल सकते हों, उनके लिए विवाह व्यवस्था का सहारा लेना योग्य है जिससे साधक अपना संसार, निर्विघ्न से श्रावकधर्म अनुसार व्यतीत कर सके और अपनी मजबूरी भी योग्य मर्यादासहित पूरी कर सके। ऐसे विवाह का महोत्सव नहीं होता क्योंकि कोई अपनी मजबूरी को उत्सव बनाकर, महोत्सव करते ज्ञात नहीं होते। इसलिए

साधक को विवाह बहुत जरूरी हो तो ही करना और वह भी सादगी से। दूसरा, यहाँ बतलाये अनुसार विवाह को मजबूरी समझकर किसी ने विवाह दिवस इत्यादि का महोत्सव करनेयोग्य नहीं अर्थात् उस दिन विशेष धर्म करनेयोग्य है। और ऐसी भावना भाओ कि अब मुझे यह विवाहरूप मजबूरी भविष्य में कभी न होओ! जिससे मैं शीघ्रता से आत्मकल्याण कर सकूँ और सिद्धत्व प्राप्त कर सकूँ।

- जन्म, वह आत्मा को अनादि का लगा हुआ भवरोग है, नहीं कि महोत्सव क्योंकि जिसे जन्म है, उसे मरण अवश्य है और जन्म-मरण का दु:ख अनन्त होता है। इसलिए जब तक आत्मा की जन्म-मरणरूप चक्रवात चलता है, तब तक इसे अनन्त दु:खों से छुटकारा नहीं मिलता अर्थात् प्रत्येक को एकमात्र सिद्धत्व अर्थात् जन्म-मरण से सदा के लिए छुटकारा इच्छनेयोग्य है। इसलिए ऐसे जन्म के महोत्सव नहीं होते क्योंकि कोई अपने रोग को उत्सव बनाकर महोत्सव करते ज्ञात नहीं होता। इसलिए साधक को यहाँ बतलाये अनुसार जन्म को अनन्त दु:ख का कारण ऐसा भवरोग समझकर जन्म-दिवस इत्यादि का महोत्सव करनेयोग्य नहीं है। अर्थात् उस दिन विशेष धर्म करनेयोग्य है। और ऐसी भावना भाओ कि अब मुझे यह जन्म, जो कि अनन्त दु:खों का कारण ऐसा भवरोग है, वह भविष्य में कभी भी न होओ! अर्थात् साधक को एकमात्र सिद्धत्व की प्राप्ति के लिए अर्थात् अजन्मा बनने के लिए ही सर्व पुरुषार्थ लगानेयोग्य है।

- अनादि से पुद्गल के मोह में और उसी की मारामारी में जीव दण्डाता आया है अर्थात् उसके मोह के फलरूप से वह अनन्त दु:ख भोगता आया है। इसलिए शीघ्रता से पुद्गल का मोह छोड़नेयोग्य है। वह मात्र शब्द में नहीं, जैसे कि धर्म की ऊँची-ऊँची बातें करनेवाले भी पुद्गल के मोह में फँसे हुए ज्ञात होते हैं, अर्थात् यह जीव अनादि से इसी प्रकार स्वयं को ठगता आया है। इसीलिए सर्व आत्मार्थियों को हमारी प्रार्थना है कि आप अपने जीवन में अत्यन्त सादगी अपनाकर पुद्गल की आवश्यकता बने उतनी घटाना और आजीवन प्रत्येक प्रकार के परिग्रह की मर्यादा करना अर्थात् सन्तोष रखना परम आवश्यक है कि जिससे स्वयं एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य के लिए ही जीवन जी सके, जिससे वे अपने जीव को अनन्त दु:खों से बचा सकते हैं और अनन्त अव्याबाध सुख प्राप्त कर सकते हैं।

- आत्मार्थी को किसी भी मत-पंथ-सम्प्रदाय-व्यक्ति विशेष का आग्रह, हठाग्रह, कदाग्रह,

पूर्वाग्रह, अथवा पक्ष होना ही नहीं चाहिए क्योंकि वह आत्मा के लिये अनन्त काल की बेड़ी समान है अर्थात् वह आत्मा को अनन्त काल भटकानेवाला है। आत्मार्थी के लिये अच्छा वह मेरा और सच्चा वह मेरा होना अति आवश्यक है, कि जिससे वह आत्मार्थी अपनी मिथ्या मान्यताओं का त्याग करके सत्य को सरलता से ग्रहण कर सके और वही उसकी योग्यता कहलाती है।

- आत्मार्थी को दम्भ से हमेशा दूर ही रहना चाहिए अर्थात् उसे मन-वचन और काया की एकता साधने का अभ्यास निरन्तर करते ही रहना चाहिए और उसमें अड़चनरूप संसार से बचते रहना चाहिए।
- आत्मार्थी को एक ही बात ध्यान में रखनेयोग्य है कि यह मेरे जीवन का अन्तिम दिन है और यदि इस मनुष्यभव में मैंने आत्म प्राप्ति नहीं की तो अब अनन्त, अनन्त, अनन्त... काल के बाद भी मनुष्य जन्म, पूर्ण इन्द्रियों की प्राप्ति, आर्यदेश, उच्चकुल, धर्म की प्राप्ति, धर्म की देशना इत्यादि मिले, ऐसा नहीं है परन्तु अनन्त, अनन्त, अनन्त... कालपर्यन्त अनन्त, अनन्त, अनन्त... दुःख ही प्राप्त होंगे। इसलिए यह अमूल्य दुर्लभ मनुष्य जन्म मात्र शारीरिक-इन्द्रियजन्य सुख और उसकी प्राप्ति के पीछे खर्च करने योग्य नहीं है, परन्तु उसके एक भी पल को व्यर्थ न गँवाकर मात्र और मात्र शीघ्रता से शाश्वत सुख ऐसे आत्मिक सुख की प्राप्ति के लिये ही लगाना योग्य है।

⁂

४१

रात्रि भोजन के सम्बन्ध में

रात्रि भोजन का त्याग मोक्षमार्ग के पथिक के लिये तो आवश्यक है ही परन्तु उसके आधुनिक विज्ञान-अनुसार भी अनेक लाभ हैं। जैसे कि रात्रि नौ बजे शरीर की घड़ी (Body Clock) अनुसार पेट में रहे हुए विष तत्त्वों की सफाई का (Detoxification) समय होता है, तब पेट यदि भरा हुआ हो तो शरीर वह कार्य नहीं करता (Skip करता है) अर्थात् पेट में कचरा बढ़ता है परन्तु जो रात्रि भोजन नहीं करते, उनका पाचन नौ बजे तक में हो गया होने से उनका शरीर विष तत्त्वों की सफाई का कार्य भले प्रकार से कर सकता है। दूसरा रात्रि में भोजन के पश्चात् दो से तीन घण्टे तक सोना निषिद्ध है और इसलिए जो रात्रि में देरी से भोजन करते हैं, वे देरी से सोते हैं परन्तु रात्रि में ग्यारह से एक बजे के दौरान गहरी नींद (Deep Sleep) लीवर की सफाई और उसकी नुकसान भरपाई (Cell Regrowth) के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जो कि रात्रि भोजन करनेवाले के लिए शक्य नहीं है। इसलिए यह भी रात्रि भोजन का बड़ा नुकसान है। आरोग्य की दृष्टि से इसके अतिरिक्त भी रात्रि भोजन त्याग के दूसरे अनेक लाभ हैं।

आयुर्वेद, योगशास्त्र और जैनेतर दर्शन के अनुसार भी रात्रि भोजन निषिद्ध है। जैनेतर दर्शन में तो रात्रि भोजन को माँस खाने के समान और रात्रि में पानी पीने को खून पीने के समान बतलाया है और दूसरा, रात्रि भोजन करनेवाले के सर्व तप-जप-यात्रा सब व्यर्थ होते हैं और रात्रि भोजन का पाप सैकड़ों चन्द्रायतन तप से भी नहीं धुलता - ऐसा बतलाया है।

जैनदर्शन के अनुसार भी रात्रि भोजन का बहुत पाप बतलाया है। यहाँ कोई ऐसा कहे कि रात्रि भोजन त्याग इत्यादि व्रत अथवा प्रतिमाएँ तो सम्यग्दर्शन के बाद ही होती है तो हमें इस रात्रि भोजन का क्या दोष लगेगा? तो उन्हें हमारा उत्तर है कि रात्रि भोजन का दोष सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि को अधिक ही लगता है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि उसे रच-पच कर सेवन (करता) होता है, जबकि सम्यग्दृष्टि को आवश्यक न हो, अनिवार्यता न हो तो ऐसे दोषों का सेवन ही नहीं करता और यदि किसी काल में ऐसे दोषों का सेवन करता है तो भी भीरुभाव से और रोग की औषधिरूप से करता है; नहीं कि आनन्द से अथवा स्वच्छन्द से। इस कारण किसी भी प्रकार का छल किसी को धर्म शास्त्रों में से ग्रहण नहीं करना क्योंकि धर्मशास्त्रों में प्रत्येक बात अपेक्षा से होती है। इसलिए व्रत और प्रतिमाएँ पंचम गुणस्थान में कही हैं, उसका अर्थ ऐसा नहीं निकालना कि अन्य कोई निम्न भूमिकावालों को उसे अभ्यास के लिये अथवा तो पाप से बचने के लिए ग्रहण नहीं कर सकता। बल्कि सबको अवश्य ग्रहण करनेयोग्य ही है, क्योंकि जिसे दु:ख प्रिय नहीं है—ऐसे जीव, दु:ख के कारणरूप पापों को किस प्रकार आचरण कर सकते हैं? अर्थात् आचरण कर ही नहीं सकते। अस्तु

४२

समाधिमरण चिन्तन

सर्व प्रथम यह समझना आवश्यक है कि मरण अर्थात् क्या? और वास्तव में मरण किसका होता है?

उत्तर : आत्मा तो अमर होने से कभी मरण को पाता ही नहीं परन्तु वास्तव में आत्मा का पुद्गलरूप शरीर के साथ एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध का अन्त आता है, उसे ही मरण कहा जाता है। इसलिए मरण अर्थात् आत्मा का एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में जाना।

संसार में कोई एक घर छोड़कर, दूसरे अच्छे घर में रहने जाता है तब, अथवा कोई पुराने कपड़े बदलकर नये कपड़े पहनता है तब, शोक करते ज्ञात नहीं होता। ट्रेन में सब अपने-अपने स्टेशन आने पर उतर जाते हैं परन्तु कोई उसका शोक करते ज्ञात नहीं होता; तो मरण के प्रसंग में शोक क्यों होता है? इसका सबसे बड़ा कारण है मोह, अर्थात् उन्हें अपना माना था, इसलिए शोक होता है। सब कोई जानते हैं कि एक दिन सबको इस दुनिया में से जाना है, तथापि अपने विषय में कभी कोई विचार नहीं करते और उसके लिये अर्थात् समाधिमरण की तैयारी भी नहीं करते। इसीलिए सर्व को अपने समाधिमरण के विषय में विचार कर, उसके लिये तैयारी करनायोग्य है।

इसलिए **प्रश्न** होता है कि समाधिमरण अर्थात् क्या और उसकी तैयारी कैसी होती है? समाधिमरण अर्थात् एकमात्र आत्मभाव से (आत्मा में समाधिभाव से) वर्तमान देह को छोड़ना। अर्थात् मैं आत्मा हूँ-ऐसे अनुभव के साथ का, अर्थात् सम्यग्दर्शनसहित के मरण को समाधिमरण कहा जाता है; इसलिए समाधिमरण का महत्त्व इस कारण है कि वह जीव, सम्यग्दर्शन साथ लेकर जाता है अन्यथा, अर्थात् समाधिमरण न होकर, वह जीव सम्यग्दर्शन को वमन कर जाता है। लोग समाधिमरण की तैयारी के लिये संथारा की भावना भाते हुए ज्ञात होते हैं। अन्त समय की आलोचना करते हुए / कराते हुए ज्ञात होते हैं, निर्यापकाचार्य (संथारे का निर्वाह करानेवाले आचार्य की) शोध करते ज्ञात होते हैं परन्तु सम्यग्दर्शन, जो कि समाधिमरण का प्राण है, उसके विषय में लोग अनजान ही हों-ऐसा ज्ञात होता है। इसलिए समाधिमरण की तैयारी के लिये यह पूर्ण जीवन एकमात्र सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के उपाय में ही लगानायोग्य है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना अनन्त बार दूसरा सब ही करने पर भी आत्मा का उद्धार शक्य नहीं हुआ, भवभ्रमण का अन्त नहीं आया। अर्थात् सम्यग्दर्शन के बिना चाहे जो उपाय करने से, कदाचित् एक-दो, थोड़े

से भव अच्छे मिल भी जायें, तथापि भवकटी नहीं होती और इस कारण अनन्त दु:खों का अन्त नहीं आता, अर्थात् नरक-निगोद के नदावा (acquaintace=अब पश्चात् वह जीव कभी नरक/निगोद में जानेवाला नहीं) होता नहीं-इसलिए ऐसे दुर्लभ सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये और तैयारीरूप इस संसार के प्रति वैराग्य, संसार के सुखों के प्रति उदासीनता और शास्त्र स्वाध्याय से यथार्थ तत्त्व का निर्णय आवश्यक है।

यह मनुष्यभव अत्यन्त दुर्लभ है, इसलिए इसका उपयोग किसमें करना-यह विचारना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि जैसा जीवन जीया हो, प्राय: वैसा ही मरण होता है; इसलिए नित्य जागृति जरूरी है। जीवन में नीति-न्याय आवश्यक है, नित्य स्वाध्याय, मनन, चिन्तवन आवश्यक है, क्योंकि आयुष्य का बन्ध चाहे जब पड़ सकता है और गति अनुसार ही मरण के समय लेश्या होती है। इसलिए जो समाधिमरण चाहते हों, उन्हें पूर्ण जीवन सम्यग्दर्शनसहित धर्ममय जीना आवश्यक है। इससे जीवनभर सर्व प्रयत्न सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये ही करनायोग्य है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के लिये गये सर्व शुभभाव यथार्थ हैं, अन्यथा वे भवकटी के लिये अयथार्थ सिद्ध होते हैं और उस सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद भी प्रमाद सेवन करनायोग्य नहीं है क्योंकि एक समय का भी प्रमाद नहीं करने की भगवान की आज्ञा है।

सबको मात्र अपने ही परिणाम पर दृष्टि रखनेयोग्य है और उसमें ही सुधार चाहिए। 'दूसरा क्या करता है?' अथवा 'दूसरे क्या कहेंगे?' इत्यादि न विचारकर अपने लिये क्या योग्य है-यह विचारना। आर्तध्यान और रौद्रध्यान के कारण नहीं सेवन करना और यदि भूल से, अनादि के संस्कारवश आर्तध्यान और रौद्रध्यान हुआ हो तो तुरन्त ही उसमें से परान्मुख होना, (प्रतिक्रमण); उसका पश्चाताप करना (आलोचना) और भविष्य में ऐसा कभी न हो (प्रत्याख्यान)-ऐसा दृढ़ निर्धार करना। इस प्रकार दुर्ध्यान से बचकर, पूर्ण यत्न संसार के अन्त के कारणों में ही लगाना योग्य है। ऐसी जागृति जीवन के लिये आवश्यक है, तब ही मरण के समय जागृतिसहित समाधि और समत्वभाव रहने की सम्भावना रहती है कि जिससे समाधिमरण हो सके। सर्व जनों को ऐसा समाधिमरण प्राप्त हो-ऐसी भावना के साथ....

जिन-आज्ञा से विरुद्ध हमसे कुछ भी लिखा गया हो तो त्रिविध-त्रिविध हमारे मिच्छामि दुक्कड़मं

ॐ शान्ति... शान्ति... शान्ति...

* * *

मैत्री भावना – सर्व जीवों के प्रति मैत्री चिन्तवन करना, मेरा कोई दुश्मन ही नहीं ऐसा चिन्तवन करना, सर्व जीवों का हित चाहना।

* * *

प्रमोद भावना – उपकारी तथा गुणी जीवों के प्रति, गुण के प्रति, वीतरागधर्म के प्रति प्रमोदभाव लाना।

* * *

करुणा भावना – अधर्मी जीवों के प्रति, विपरीत धर्मी जीवों के प्रति, अनार्य जीवों के प्रति करुणाभाव रखना।

* * *

मध्यस्थ भावना – विरोधियों के प्रति मध्यस्थभाव रखना।

* * *

श्रावकधर्म प्रवचन पृष्ठ–४५

यहाँ श्रावक को मद्य–माँस इत्यादि का त्याग होने का कहा है, परन्तु यह ध्यान रखना कि पहली भूमिका में साधारण जिज्ञासु को भी मद्य–माँस–मधु–रात्रिभोजन इत्यादि तीव्र पाप के स्थानों का तो त्याग ही होता है, और श्रावक को तो प्रतिज्ञापूर्वक–नियम से उनका त्याग होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के हृदयोद्गार

– मुखपृष्ठ की समझ –

अपने जीवन में सम्यग्दर्शन का सूर्योदय हो और उसके फलरूप अव्याबाध सुखस्वरूप सिद्ध अवस्था की प्राप्ति हो, यही भावना।